रामचरितमानस में वेदान्त-सन्दर्भ

हिन्दी विषय में पी-एच्.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

TH2935

अध्यक्ष
हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी।

डॉ० सम्पूर्णानन्द केन्द्रीय पुस्तकालय
आगमन संख्या-TH 2935
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

2002

815

निर्देशिका
डॉ० उर्मिला मिश्र

अनुसन्धात्री
श्रीमती नीरजा मिश्र

DATABASE

हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
मानविकी संकाय
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी - २२१००२

हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग

मानविकी संकाय

महात्मागाँधी काशी विद्यापीठ

वाराणसी

दिनांक : 24-12-2002

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती नीरजा मिश्र "रामचरितमानस में वेदान्त–सन्दर्भ" शोध विषय पर पी–एच0डी0 उपाधि हेतु अपना शोध–प्रबन्ध इस विश्वविद्यालय के नियमानुसार मेरे निर्देशन में पूर्ण किया है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध उनके निजी अध्यवसाय एवं कठिन परिश्रम का परिणाम है। इस विषय पर यह सर्वथा मौलिक एवं नवीन उपलब्धियों से युक्त शोध प्रबन्ध है।

विभागाध्यक्ष

(डा० रामकुँवर राय)

निर्देशिका

(डा० उर्मिला मिश्र)

प्रस्तावना

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।

मंगलानां च कर्तारौ बन्दे वाणी–विनायकौ।

भारतीय दर्शनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में गोस्वामी तुलसीदास ने दर्शन की शुष्कता ओर गम्भीरता को काव्य रस में घोल कर सरस बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। उनकी रचनाओं में दर्शन एवं काव्य दोनों एकत्र सन्तवाणी के अमृतमय प्रभाव से देदीव्यमान हो रहे हैं। महाकवि की रचनाओं में रामचरितमानस की कीर्ति भूमण्डल पर चन्द्र एवं सूर्य की किरणों की तरह फैली,जिससे तुलसी विश्ववन्द्य होकर जनमानस के स्मृतिपटल पर अपने को सर्वदा के लिए चित्रत कर दिया।

रामचरिमानस का भारतीय संस्कृति तथा दर्शन का संचित कोष कहा जा सकता है, जिसमें उपनिषद्, शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य आदि के वेदान्त सिद्धान्तों का प्रचुर–प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है, साथ ही निगमागम पुराणों तथा तंत्रों का भी प्रभाव है। तुलसी ने मानस में वेदान्त वेद्य सच्चिदानन्द परब्रह्म के रूप में श्रीराम को प्रतिष्ठित करके वेदान्त के सिद्धान्तों को सर्वत्र अनुस्यूत किया है। इसलिए वेदान्त सम्मत दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से रामचरिमानस का अध्ययन करने तथा उसे परखने हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का शीर्षक "रामचरित मानस में वेदान्त–सन्दर्भ" चयन किया गया है।

रामचरितमानस के अद्यावधि गवेषित तथ्यों का विहंगावलोकन करने के

पश्चात् मैंने अनुभव किया कि केवल वेदान्त सम्प्रदाय में प्रतिपादित तत्वों के आधार पर पुनः मानस के अध्ययन की विशेष आवश्यकता है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के माध्यम से मानस की वेदान्त सम्बन्धी आध यात्मिक मान्यताओं को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है।

वेदान्त में श्रुतिवाक्यों को प्रमाण मानकर उसके आधार पर सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। श्रुतियां कहती है कि "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै0उप0 3/1/1) "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" (छा0उप0 6/2/19) "तरतिशोकमात्मवित्" (छा0उप0 7/1/3) "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" (मु0उप0 2/2/8) इत्यादि। अर्थात् ब्रह्मसत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं देशकाल और वस्तुरूप–परिच्छेद से रहित है। ब्रह्म एक एवं अद्वितीय है। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति परमपुरूषार्थ मोक्ष का लाभ करता है। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है। उपर्युक्त श्रुतियों के आधार पर वेदान्त का उद्देश्य मुक्ति है। जीव की ब्रह्मरूपता प्राप्ति और अविद्यानिवृत्ति पूर्वक आनन्दरूपता ही मुक्ति है। फलतः यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म का स्वरूपज्ञान तथा भक्ति के द्वारा ब्रह्म का सायुज्य, सालोक्य एवं सारूप्य प्राप्त कर लेने पर जीव की इस संसार से निवृत्ति हो जाती है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी वेदान्त के अनुसार श्रुतियों को प्रमाण मानकर ही मानस में ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, भक्ति तथा मोक्ष आदि तत्वों का निरूपण किया है, जैसा कि उनकी अधोलिखित पंक्तियों से प्रतिध्वनित भी होता है–

ब्रह्मनिरूपन धरम–विधि वरनहिं तत्त्व विभाग।

कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ग्यान विराग।।

वेदान्त की भांति तत्त्वों का श्रुतिसंमत लक्षण मानस में द्रष्टव्य है, जैसे ब्रह्म का लक्षण –

व्यापक एकु ब्रह्म अविनाशी। सत चेतन घन आनंद राशी।।

मानस के सुन्दर काण्ड में गोस्वामी जी ने ब्रह्म को – "वेदान्तवेद्यंविभुम्" कहा है। इस प्रकार वेदान्त प्रतिपादित सिद्धान्तों का यथावत् अनुसरण करना रामचरित मानस की विशेषता है। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में सभी आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रामाणिक विवेचन वेदान्त एवं मानस की दृष्टि से किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध पांच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में वेदान्त शास्त्र तथा रामचरितमानस के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय तथा दोनों के प्रतिपाद्य की समीक्षा की गई है। द्वितीय अध्याय में वेदान्त तथा मानस की दृष्टि से ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन है। तृतीय अध्याय में जीव का स्वरूप तथा चतुर्थ अध्याय में जगत् एवं माया के स्वरूप की विवेचना वेदान्त और मानस सम्मत प्रस्तुत की गई है। पांचवे अध्याय में ब्रह्म प्राप्ति के साधन, भक्ति तथा मोक्ष के स्वरूप का निरूपण है। शोध प्रबन्ध के उपसंहार में वेदान्त के सभी वादों का "रामचरितमानस" की दृष्टि से समन्वय स्थापित किया गया है।

इस शोध विषय पर अनुसन्धान कार्य करने के लिए जिस आत्मसमर्पण, प्रखरप्रतिभा, विशेषपाण्डित्य, तथा विषयानुरुप–अध्ययन की आवश्यकता रही उसका यद्यपि मुझमें अभाव है, फिर भी पूज्य गुरूजनों का सम्बल लेकर मैं इस गहन विषय पर सभीत भाव से शोधकार्य पूर्ण किया। शोधप्रबन्ध में विवेचित

विषयों पर अपने प्रयत्न में मैं कहां तक सफल हो सकी हूँ, इसका निर्धारण पूज्य विद्वान् गुरूजन ही कर सकेगें।

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

वलवदपि शिक्षितानामात्मन्य प्रत्ययं चेतः।।

की उक्ति चाहे कवि–कुल–गुरू कालिदास के लिए सत्य न रही हो, पर मेरे लिए तो सर्वथा सत्य है।

शोध प्रबन्ध की संरचना में जिनकी रचनाओं के अध्ययन से सहायता एवं प्रेरणा प्राप्त हुई है, सर्वप्रथम उन ऋषियों, महर्षियों, सन्तों तथा अन्य विद्वानों के प्रति मैं नतमस्तक होकर कृतज्ञ हूँ।

महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी के हिन्दी तथा आधुनिक भाषा विभागाध्यक्ष डॉ0 रामकुँवर राय के प्रति मैं अत्यन्त आभारी एवं कृतज्ञ हूँ, जिनकी असीम कृपा मुझे शोधकार्य पूर्ण करने के लिए अनवरत मिलती रही।

अपनी पूज्या निर्देशिका डा0 उर्मिला मिश्र के चरणों में श्रद्धावनत नतमस्तक हूँ, जिनके विद्वत्तापूर्ण निर्देशन एवं सहज स्नेह से शोध प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत करना सम्भव हो पाया। शोध कार्य की अवधि में उनके नित्यनवीन साहित्यिक चिन्तन तथा विद्याक्षेत्र के प्रातिभ विचारों से लाभान्वित होने का जो सुअवसर मुझे प्राप्त हुए हैं, वे अविस्मरणीय हैं।

इसी क्रम में मैं अपने श्वसुर डॉ0 हीरालाल मिश्र तथा श्वश्रु श्रीमती

विद्यावती मिश्र के चरणों में कृतज्ञता अर्पित करती हूँ, जिनकी निरन्तर प्रेरणा एवं समुचित मार्गनिर्देशन से शोधकार्य के प्रति मेरी अभिरूचि में वृद्धि हुई। आप दोनों ने शोधकार्य की बाधाओं को दूरकर मेरे अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया।

रामचरितमानस पर प्रबन्ध लेखन की संस्कारात्मक प्रेरणा प्रदान करने वाले पूज्य पिता श्री चन्द्रधर पाण्डेय तथा पूजनीया माता श्रीमती मिथिलेश पाण्डेय के चरणों में कृतज्ञता का श्रद्धासुमन अर्पित करती हूँ, जिन्होंने बाल्यकाल से ही मेरे मन में रामचरितमानस तथा अन्य आध्यात्मिक विषयों के प्रति सहज अनुराग उत्पन्न किया और अपने वेदान्तपरक उत्तम प्रवचनों द्वारा उस अनुरक्ति का परिवर्धन करते रहे हैं।

पूज्य बड़े पिता श्री लालता प्रसाद पाण्डेय तथा पूजनीया बड़ी माता श्रीमती रामा पाण्डेय जी का सहज अनुराग एवं वात्सल्य मुझे वाल्यकाल से ही प्राप्त है। मैं उनके चरणों में प्रणामांजलि अर्पित करती हुई सदैव आशीर्वचनों की अभिलाषिणी हूँ।

अपनी बड़ी बहनों श्रीमती राधा त्रिपाठी एवं श्रीमती सुषमा शुक्ला, ननान्दा= श्रीमती मंजुला त्रिपाठी, श्रीमती गीता द्विवेदी, श्रीमती शीला त्रिपाठी तथा श्रीमती रंजना पाण्डेय के प्रति मैं प्रणामांजलि अर्पित करती हूँ। आप सभी ने शोध कार्य में मेरा उत्साहवर्धन किया है।

अपने पतिदेव श्री शशिधर मिश्र की मैं आभारी एवं कृतज्ञ हूँ। आपने शोधकार्य की उपयोगी पुस्तकों को जुटाने में मेरी विशेष सहायता की है।

मैं अपने देवर श्री श्रीधर मिश्र, श्री सुधाकर मिश्र, ननान्दा पुत्री कु0 प्रज्ञा तथा अपने प्रिय पुत्र श्री आशुतोष मिश्र 'मानस' को आशीर्वाद पूर्वक स्नेह से सभाजित करती हूँ। उक्त सभी से भी मुझे अनुसन्धान कार्य में कोई न कोई सहयोग अवश्य प्राप्त हुआ है।

अन्त में सबके प्रति भाव निवेदन के इस प्रसंग की पूर्णता के लिए गोस्वामी जी की निम्नलिखित उक्ति का अवलम्बन प्राप्त कर यहीं पर अपनी वाणी को विराम देती हूँ।

मति अतिनीच ऊँचि रूचि आछी।

चहिय अमिय जग जुरइ न छाही।।

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई।

सुनहहिं बाल वचन मन लाई।।

विनयावनत

नीरजा मिश्र

(नीरजा मिश्र)

अनुसन्धात्री

हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग

मानविकी संकाय

महात्मागांधी काशी विद्यापीठ

वाराणसी

शोधप्रबन्ध की विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना

प्रथम अध्याय	पृष्ठ संख्या
भारतीय अध्यात्मविद्या	1
वैदिक वाङ्मय में वेदान्त की पृष्ठभूमि	3
वैदिक वेदान्त (संहिताएं)	3
उपनिषद् और वेदान्त	5
वेदान्त का स्वरूप	6
ब्रह्मसूत्र के भाष्य और मतमतान्तर	7
शंकराचार्य पूर्ववर्ती वेदान्त के आचार्य	8
वेदान्त का भेद विमर्श	9
वेदान्तसम्प्रदायों के स्वरूप एवं दार्शनिकसिद्धान्त	9
अद्वैत वेदान्त	9
विशिष्टाद्वैत–वेदान्त	11
द्वैत–वेदान्त	12
द्वैताद्वैत–वेदान्त	13
शुद्धाद्वैत वेदान्त	14
तुलसीदास की कृतियों में "रामचरितमानस"	15
रामचरितमानस की प्रामाणिकता तथा उसका शास्त्रीय महत्त्व	18

रामचरितमानस की कीर्ति के आधारभूत कारण 21
रामचरितमानस के आधार–ग्रन्थ 23
तुलसी युग की परिस्थितियाँ 26
तुलसी की दार्शनिकचिन्तनधारा 28
रामचरितमानस का प्रतिपाद्य विषय 29
सन्दर्भ सूची 35

<u>द्वितीय अध्याय</u>

ब्रह्मस्वरूप मीमांसा 40
अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म 42
विशिष्टाद्वैत का ब्रह्म 44
विशिष्टाद्वैत के मत में ईश्वर 46
द्वैतवाद में परमात्मा (ब्रह्म) का स्वरूप 47
द्वैताद्वैत की दृष्टि में ब्रह्म का स्वरूप 48
शुद्धाद्वैत के मत में ब्रह्म का स्वरूप 49
वेदान्त का ब्रह्म और तुलसी के राम 51
परब्रह्म राम का सर्वकारणात्मकस्वरूप 57
श्रीराम का विराट् स्वरूप 64
श्रीराम का सर्वव्यापी स्वरूप 65
परब्रह्म राम का अन्तर्यामीस्वरूप 68
परब्रह्म श्रीराम का अवतारीस्वरूप 72
परात्परब्रह्म राम का अन्य अवतारों के साथ सम्बन्ध 78
सीता का स्वरूप 81

''सीता'' राम की महाशक्ति एवं सर्वस्व 83

सीता–राम का भेदाभेद विमर्श 86

आचार्य श्री रामानन्द की दृष्टि में श्री सीता 87

महर्षि बाल्मीकि की दृष्टि में पतिव्रता–सीता 89

रामचरितमानस में सीता का स्वरूप 93

आदि शक्ति–सीता 100

योगमाया–सीता 101

मूलप्रकृति–सीता 101

लक्ष्मी से श्रेष्ठासीता 102

रामचरितमानस में निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म की अवधारणा 104

मानस में निर्गुण ब्रह्म की सगुणरूपता के कारण की समीक्षा 113

निर्गुण और सगुण ब्रह्म 119

भगवान का दिव्यगुणावतार 120

भगवान श्रीराम के दिव्यगुणों का स्वरूप 122

भगवान श्रीराम का का दीनानाथ स्वरूप 128

शरणागतवत्सल राम 129

पतितपावन राम 131

कृपानिधान राम 132

सर्वलोकप्रिय राम 134

सन्दर्भसूची 140

<u>तृतीय अध्याय</u>

अद्वैत वेदान्त में जीव का स्वरूप 152

जीव एवं ईश्वर के सम्बन्ध में विविध मत 153

(1.आभासवाद, 2. प्रतिविम्बवाद, 3.अवच्छेदवाद, 4. जीवैक्यवाद) 154

विशिष्टाद्वैत के मत में जीव का स्वरूप 155

जीव का अणुत्व 157

बद्ध–मुक्त एवं नित्यजीव 157

द्वैतवाद में जीव का स्वरूप 158

द्वेताद्वैत के मत में जीव का स्वरूप 159

शुद्धाद्वैत के मत में जीव का स्वरूप 162

रामचरितमानस में जीव का स्वरूप 164

जीव और ब्रह्म 169

जीवों की परमार्थगति एवं संसारगति 170

रामचरितमानस में जीवों की पारमार्थिक गति 171

वेदान्त तथा मानस की दृष्टि में ईश्वर जीव सम्बन्ध 175

जीव के सम्बन्ध में निष्कर्ष 177

सन्दर्भ सूची 178

<u>चतुर्थ अध्याय</u>

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में जगत् का स्वरूप 181

जगतप्रपंच का कारण अध्यास 182

विवर्तवाद का सिद्धान्त 183

प्रातिभासिक सत्ता 183

व्यावहारिक सत्ता 183

पारमार्थिक सत्ता 184

विशिष्टाद्वैत की दृष्टि में जगत्	186
द्वैताद्वैत में जगत्	186
द्वैतवाद में जगत् का स्वरूप	187
शुद्धाद्वैत में जगत्	188
रामचरितमानस में जगत् का स्वरूप	188
रामचरितमानस में जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण	191
जगत् के सम्बन्ध में निष्कर्ष सिद्धान्त	202
अद्वैत वेदान्त में माया	203
माया का स्वरूप	204
माया आवरण और विक्षेप नामक शक्तियाँ	205
विशिष्टाद्वैत में माया का स्वरूप	206
द्वैतवाद में माया का स्वरूप	207
द्वैताद्वैत के मत में माया का स्वरूप	207
शुद्धाद्वैत के मत में माया का स्वरूप	208
रामचरितमानस में माया का स्वरूप एवं कार्य	208
माया का परिवार एवं उसकी सेना	215
माया के सम्बन्ध में निष्कर्ष	216
माया और प्रकृति	217
सन्दर्भ सूची	218

पंचम अध्याय

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्मत्व प्राप्ति के साधन	223
विशिष्टाद्वैत के मत में साधनमार्ग भक्ति	229
द्वैतवाद में साधन मार्ग भक्ति	232
द्वैताद्वैत में साधनमार्ग भक्ति	234
शुद्धाद्वैत में साधनमार्ग भक्ति	235
चैतन्य का साधनमार्ग भक्ति	236
रामभक्ति के अग्रदूत आचार्य रामानन्द	236
रामनाम निर्वचन	240
वैदिक साहित्य में भक्ति के बीज	250
उपनिषदों में भक्ति का महत्त्व	252
वेदों में नवधा भक्ति	253
भक्ति का वैदिक स्वरूप	260
भक्ति का स्वतन्त्रदर्शन	262
भक्ति का परिभाषा	264
भक्ति का धारणापरक व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ	266
ज्ञान कर्म–योग और भक्ति	271
ज्ञान–कर्म–योग की फलरूपा भक्ति	276
रामचरितमानस में भक्तिस्वरूप का विमर्श	278
रामचरितमानस में नवधा भक्ति	281
रामचरितमानस में भक्तों के भेद	286

साधनत्रय में भक्ति की श्रेष्ठता	287
अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में मोक्ष	295
वैष्णव वेदान्तों में मोक्ष का स्वरूप	302
विशिष्टाद्वैत में मोक्ष का स्वरूप	303
द्वैतवाद में मोक्ष	303
द्वैताद्वैत में मोक्ष का स्वरूप	303
शुद्धाद्वैत में मोक्ष का स्वरूप	304
रामचरित मानस में मोक्ष का स्वरूप	304
सायुज्य मुक्ति	305
सालोक्य मुक्ति	307
सारूप्य मुक्ति	308
निष्कर्षः	312
सन्दर्भ सूची	313
उपसंहार	323
अद्वैतवाद और तुलसीदास	324
ैष्णव वेदान्त और तुलसीदास	328
वेदान्त सिद्धान्तों का समन्वयक ग्रन्थ रामचरितमानस।	338
सन्दर्भ सूची	340
सहायक ग्रन्थ सूची	344
(क) हिन्दी ग्रन्थ	346
(ख) पत्र–पत्रिकायें	349
ग्रन्थ संकेत सूची	351

---0---

प्रथम अध्याय

(क) वेदान्त के स्वरूप तथा भेद का परिचयात्मकविवरण

(ख) वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय

(ग) रामचरितमानस के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय

(घ) रामचरितमानस एवं वेदान्त के प्रतिपाद्य की समीक्षा

1

भारतीय अध्यात्मविद्या

अनादिकाल से भारत वर्ष की पुण्यधरा का वाह्य रूप जितना ही भव्य तथा मनोहर है, उसका आन्तर रूप भी उतना ही अभिराम तथा आभामय है। इस जगतीतल पर सभ्यता की जननी यही हमारी भारतभूमि है। जिस समय अन्य देश अज्ञानान्धकार के गाढ पटल से संच्छन्न होकर बर्बरता का जीवन बिता रहे थे, उस समय इस भारत के गगन में प्रथम प्रभात का उदय हुआ था, ज्ञानसूर्य की प्रकाशमान किरणों ने अविद्या के घने तिमिरमंडल को छिन्न भिन्न किया था। पृथ्वीतल पर सभ्यता का विस्तार करने का श्रेय इसी देश को प्राप्त है। इस देश के अग्रजन्मा ब्राह्मणों से पृथ्वीतल के समस्त मानवों ने अपने – अपने चरित्र को सीखा था, निखिल मानवों के कल्याणार्थ स्मृति की रचना करने वाले महर्षि मनु का यह कथन कोरी कल्पना नहीं है, अपितु यह इतिहास की कसौटी पर कसे जाने पर नितान्त सत्य प्रमाणित हो चुका है। कुछ ऐसा ही कारण होगा जिससे इस कर्मभूमि के अजिर में जन्म ग्रहण करने के लिए भोगभूमि के अधिवासी देवतागण भी लालायित थे, तथा यहां के निवासियों की भूरि–भूरि प्रशंसा करते हुए कभी नहीं अघाते थे।

प्रकृति ने इस भारत भूमि के मानव जीवन को समग्र आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण बनाकर इस देश के अधिवासियों को ऐहिक चिन्ता से निर्मुक्त करके पारलौकिक चिन्तन की ओर स्वतः अग्रसर किया है। यह देश निसर्गतः विचारप्रधान है। यहां के निवासियों का मुख्य लक्ष्य अध्यात्मचिन्तन रहा है। इस देश की विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मविद्या है। अध्यात्मविद्या को ही ब्रह्म –विद्या कहते हैं। मुण्डक उपनिषद् ने ब्रह्मविद्या को सर्वविद्या प्रतिष्ठा बतलाया[1] है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अपनी विभूतियों का वर्णन करते समय समस्त विद्याओं में अध्यात्म विद्या को अपना स्वरूप बताया है।[2] अर्थशास्त्र के निर्माता

कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी (अध्यात्म) विद्या को सभी विद्याओं के लिए दीपक कहा है।[3] अध्यात्मविद्या के सुचिन्तित तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की प्रतिष्ठा है।

जीवन की विविध ऐहिक समस्याओं के साथ आध्यात्मिक गुत्थियों को सुलझाने का पुनीत कार्य मानव का अभिमन्त्रित कर्तव्य चिरन्तन काल से रहा है। मानव जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, जब व्यक्ति लौकिक धर्म, कर्तव्यों की अवहेलना कर सांसारिकता से थककर शान्ति के शीतल अमृतकुण्ड की कामना करता है। ऐसे ही क्षण में प्रश्न उठते हैं, मैं कौन हूँ? क्या हूँ? कहां से आया हूँ? कहां जा रहा हूँ? संसार क्या है? हमारा निर्माता कौन है? संसार, जीव और परमात्मा का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? क्या इस बन्धन से मुक्ति सम्भव नहीं? ब्रह्म, जीव, जगत्, माया का कारण तत्व क्या है? इत्यादि प्रबल जिज्ञासाओं से अभिप्रेरित झंझावात बुद्धि को झकझोर कर मानव को व्यथित करते है और वह तिमिर में भटकता हुआ प्रकाश तत्व की खोज में संलग्न रहता है। इस प्रकार के सतत चिन्तन, मनन से मानव के हृदय में आध्यात्मिक प्रवृत्ति तथा ज्ञान का सूर्योदय होता है। व्यक्ति स्वच्छ एवं पवित्र मन से परमात्मतत्व या आत्मतत्व के सम्बन्ध में जो चिन्तन करता है वही अध्यात्म कहा गया है। अध्यात्म का विषय मानव की अन्तरात्मा का प्रियतर विषय है और अपनी सीमित मानसिक शक्तियों से मानव उस चिरन्तन आध्यात्मिकतत्व का अनुसन्धान करते हुए पूर्णता की ओर बढ़ना चाहता है। डा० राधाकृष्णन ने लिखा है – "हमारा जीवन मार्ग का एक कदम है जिसकी दिशा और लक्ष्य अनन्त में खो गये है" मानव मनः तुष्टि के लिए चिरन्तन आनन्द प्राप्ति के हेतु सर्वदा आध्यात्मिक अनुभूतियों की खोज में तन्मय रहेगा।" उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यही है कि मानव भौतिकजीवन में चिरन्तन आनन्द की अनुभूति कदापि नहीं कर सकता है। इसलिए उसे आध्यात्म के सुखद पथ पर चलना ही श्रेय और प्रेय है।

भारतीय ऋषियो, महर्षियों, मुनियों तथा अन्य मनीषियों ने

आध्यात्मिक ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए अनेक मार्गो का उपदेश दिया तथा अजिह्म राजपद्धति के रूप में शास्त्रों की रचना की। इसमें किसी का भी अनुसरण करके मानव पुरूषार्थ के अन्तिम सोपान को प्राप्त कर सकता है, जहां उसे चिरन्तन असीम आनन्द की अनुभूति हो सकती है। परमपुरूषार्थ की सिद्धि के लिए भारतीय शास्त्रों में वेदान्तशास्त्र सभी का शिरोमणि कहा गया है।

वैदिक वांङ्मय में वेदान्त की पृष्ठभूमि –

वेदान्त की आचार्य परम्परा का आरम्भ यद्यपि बादरि से ही माना जा सकता है किन्तु वेदान्त के सिद्धान्त के बीज ऋग्वेद संहिता से ही मिलने आरम्भ हो जाते है। इस प्रकार वेदान्त की मूल पृष्ठभूमि को वैदिक वांङ्मय में खोजना असमीचीन नहीं कहा जा सकता। श्रीमद्भागवत[4] का कथन – "वेदाः ब्रह्मात्मविषयाः:" उक्त विचार का ही समर्थक है। अतः यहां पहले वैदिक वांङ्मय में वेदान्त की पृष्ठभूमि के दर्शन होते है।

वैदिक वेदान्त (संहिताएं) –

वैदिक वांङ्मय में वेदान्त का अनुशीलन करते समय सर्वप्रथम संहिता आती है और उनमें भी ऋग्वेद् – संहिता। ऋग्वेद संहिता के "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" प्रभृति कथन एवं पुरूषसूक्त,[5] नासदीय सूक्त[6] तथा हंसवती ऋचा[7] के दार्शनिक प्रतिपादन निःसंदेह वेदान्तिक अद्वैतवाद की प्रबल पृष्ठभूमि का निर्माण करते है। इसी प्रकार सामवेद – संहिता के "तदिहास भुवनैषु ज्येष्ठं यतो यज्ञ' उग्रस्त्वेष नृम्णः"[8] आदि मंत्रों में भी हमें अद्वैतिक दृष्टि के स्पष्ट संकेत मिलते है। सामवेद के उक्त मंत्र में 'तत्' शब्द का अर्थ सृष्टि का मूल कारण प्रतीत होता है। सायणाचार्य ने यहां तत् शब्द का अर्थ ब्रह्म किया है। किन्तु स्टीवेन्सन ने यहां तत् शब्द का अर्थ मूल तत्व ग्रहण किया है।[9] यहां यही अर्थ संगत प्रतीत होता है। इसी प्रकार सामवेद[10] के अन्य स्थलों में भी वेदान्त दर्शन के बीज प्राप्त किये जा सकते है। जहां तक यजुर्वेदसंहिता का प्रश्न है, वहां 33वें

कांड के अन्तर्गत इन्द्र, मित्र, वरूण एवं अग्नि आदि का वर्णन परमात्मा के रूप में किया गया है।[11] इसके अतिरिक्त बीसवें कांड में परमात्मा को समस्त भूतों का अधिपति तथा समस्त लोकों का अधिष्ठान कहा गया है।[12] इस प्रकार चालीसवें अध्याय के अन्तर्गत ''ईशावास्यमिदं सर्वम्'' भी वेदान्तिक अद्वैतवाद का ही पोषक है। यजुर्वेद में विराट पुरूष का वर्णन भी अद्वैत वेदान्त की परम्परा के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार यजुर्वेद में वेदान्तिक सिद्धान्तों के पोषक अनेक स्थल उपलब्ध होते है।

अथर्ववेद् संहिता में तो वेदान्त के विचारों की भरमार है। अथर्ववेद के चतुर्थ कांड में माया – विशिष्ट–ब्रह्म का निरूपण वर्तमान है। सप्तम कांड में ब्रह्म की व्यापकता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म ही ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र, अक्षर एवं परमतत्व के रूप में वर्तमान है।[13] अथर्ववेद संहितावर्ती विराट पुरूष का वर्णन भी वेदान्त सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतीक है।[14] किन्तु फिर भी प्राचीनता की दृष्टि से अथर्ववेद का महत्व ऋग्वेद जैसा नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि संहिताओं में वेदान्त की विचारधारा के मूल स्रोत ढूढना आश्चर्यास्पद नहीं है। संहिताओं के पश्चात ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थ आते है।

ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में भी वेदान्तिक विचारधारा का आरम्भिक स्वरूप देखने को मिलता है। यहां यह कथन उपयुक्त होगा कि ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द का दार्शनिक अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता। सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में ही ब्रह्म – सम्बन्धी निरूपण करते हुए कहा गया है कि आरम्भ में यह जगत ब्रह्म रूप ही था,[15] यही देवादि का स्रष्टा एवं उन्हें भिन्न–भिन्न रूप प्रदान करने वाला था। शतपथब्राह्मण के एक अन्य स्थल पर ब्रह्म का एक पूर्ण सत्ता के रूप में वर्णन किया गया है।[16] ऐतरेय ब्राह्मण में परमात्मा का विराट रूप में वर्णन किया गया है।[17] तैत्तिरीयब्राह्मण में ब्रह्मरूप काष्ठ एवं ब्रह्म रूप वृक्ष से ही स्वर्ग एवं भूलोक का निर्माण बतलाया गया है।[18] तैत्तिरीयब्राह्मण में एक स्थान पर

उपलब्ध ब्रह्मवादी की चर्चा भी वेदान्त के ब्रह्मवाद सिद्धान्त का स्पष्ट संकेत देती है।[19] ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही आरण्यक ग्रन्थों में भी वेदान्त सिद्धान्तों का स्पष्ट आधार मिलता है। ऐतरेय आरण्यक में आकाश तथा पृथ्वी को आत्मा का ही रूप कहा गया है।[20] तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तर्गत परब्रह्म की सत्ता का निरूपण करते हुए कहा गया है कि परब्रह्म ही अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र, जल और प्रजापति है।[21] शांखायनारण्यक के अन्तर्गत जिसे कावेल ने कौषीतक्यारण्यक भी कहा है, आत्मतत्व का निरूपण करते हुए कहा गया है कि आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म अपूर्व, अपर, अनपर अनन्त एवं अबाह्य है।[22]

उपर्युक्त विचार संकेतों के आधार पर संहिताओं के साथ – साथ ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों में भी वेदान्त दर्शन के आरम्भिक सूत्र स्पष्ट रूप से देखने को मिलते है।

<u>उपनिषद और वेदान्त</u> –

यों तो, जैसा कि "रानाडे" प्रभृति ने प्रस्तुत किया है,[23] उपनिषदों में सभी प्रमुख भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के बीज उपलब्ध होते है, किन्तु फिर भी उपनिषत् साहित्य में किसी सिद्धान्त विशेष की उपलब्धि का कथन न्यायोचित नहीं प्रतीत होगा। इसका कारण यह है कि उपनिषदों में तत्वज्ञानी मनीषियों की किसी सम्प्रदाय – विशेष से अनाबद्ध अनुभूतियाँ एवं अभिव्यक्तियाँ ही वर्तमान है। अतः उन्हें किसी सम्प्रदाय विशेष से आबद्ध करना समुचित नहीं प्रतीत होता। ऐसी स्थिति में "रानाडे" एवं "डयूसन" प्रभूति विद्वानों एवं तादृश विचारकों के उपनिषदों में वेदान्तदर्शन प्रभृति सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के बीजान्वेषण के प्रयास भी थोथे ही प्रतीत होते है। क्योंकि यदि यह स्वीकार किया जाए कि उपनिषदों में सभी प्रमुख सिद्धान्त परस्पर विरोधी न्याय सांख्य वेदान्तादि दार्शनिक सिद्धान्तों के बीज उपलब्ध होते हैं, तब तो उपनिषदों का दर्शन अत्यन्त विवादास्पद सिद्ध होगा। मेरे विचार से उपनिषदों में न्याय सांख्य

आदि सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के अन्वेषण का यही तात्पर्य है कि वहां उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि ही मिलती है, सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण नहीं। यह बात दूसरी है कि यह पृष्ठभूमि अद्वैतवेदान्त के अधिक निकट प्रतीत होती है। सदानन्द की 'वेदान्तों नाम उपनिषत्प्रमाणम्' जैसी उक्तियों के मूल में यही धारणा देखने को मिलती है। आधुनिक युग के विद्वानों में मैक्समूलर, डयूसन, मेकेन्जी एवं गफ्र उपनिषदों में शांकर वेदान्त की स्पष्ट पृष्ठभूमि के दर्शन करते है। व्लूमफील्ड का कथन है कि नास्तिक बौद्ध दर्शन को मिलाकर हिन्दूदर्शन का कोई ऐसा महत्वपूर्ण सिद्धान्त नहीं है जिसका मूलरूप उपनिषदों में प्राप्त न हो।

<u>वेदान्त का स्वरूप</u> –

अध्यात्मविद्या के अन्तर्गत वेदान्तदर्शन भारतीयदर्शन पद्धतियों का मुकुटमणि माना जाता है। अब तक वर्णित दार्शनिक प्रवृत्तियों तथा तार्किक विचारों का चूड़ान्त उत्कर्ष वेदान्त में उपलब्ध होता है। वेदान्त का मूल उपनिषद है अर्थात जो दर्शन उपनिषदों पर आधारित है उसे वेदान्त कहते है।[24] ब्रह्मसूत्र गीता तथा उपनिषदों प्रस्थानत्रयी वेदान्त का उपकारक ग्रन्थ साहित्य है। श्रुति के चरम सिद्धान्त के अर्थ में वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषदों में ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है।[25] उपनिषदों के वैदिक रहस्यमय सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उनके लिए वेदान्त (वेद का अन्तः=सिद्धान्त) शब्द का प्रयोग नितरां न्याय्य है। परन्तु कालान्तर में औपनिषद् सिद्धान्तों में आपाततः विरोधों के परिहार करने की तथा एकवाक्यता करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी की पूर्ति करने के लिए वादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्रों का निर्माण किया। यह साढे पांच सौ सूत्रों का स्वल्पकलेवर ग्रन्थ समस्त वेदान्त सिद्धान्तों का आकर ग्रन्थ है, जिसकी व्याख्या कर परवर्ती आचार्यो ने अपने धार्मिक मतों की भव्य प्रतिष्ठा की है। इन सूत्रों का उदयकाल प्राचीन है। भिक्षुओं अर्थात सन्यासियों के लिए उपादेय होने के कारण इन सूत्रों को भिक्षुसूत्र भी कहते है।

<u>ब्रह्मसूत्र के भाष्य और मत मतान्तर</u> –

सर्वप्रथम आदि शंकराचार्य श्री शंकर ने 788–820 ई0 में ब्रह्मसूत्रों का शारीरिक भाष्य लिखकर निर्विशेषाद्वैतवाद को प्रतिष्ठापित किया। श्री भास्कर ने 1000 ई0 में भास्कर भाष्य लिखा और भेदाभेद बाद की स्थापना की। श्री रामानुजाचार्य ने ई0 1140 में श्रीभाष्य लिखकर अपने विशिष्टाद्वैत मत को वेदान्त में जोड़ा। श्रीमध्वाचार्य ने 1238 ई0 में पूर्णप्रज्ञ भाष्य लिखकर वेदान्त के क्षेत्र में द्वैतवाद को प्रतिष्ठित किया। इसी प्रकार श्री निम्बार्काचार्य ने 1250 ई0 में वेदान्तपरिजात भाष्य की रचना की और द्वैताद्वैत मत की प्रतिष्ठा की। आचार्य श्रीकण्ठ ने 1270 ई0 में ब्रह्मसूत्रों का शैवभाष्य लिखकर शैव विशिष्टाद्वैत मत को प्रचलित किया। आचार्य श्रीपति ने 1400 ई0 में ब्रह्मसूत्रों का श्रीकरभाष्य लिखा और अपने वीरशैव विशिष्टाद्वैत मत को स्थापित किया। श्री वल्लभाचार्य ने 1479–1544 तक ब्रह्मसूत्रों का अणुभाष्य लिखकर अपने शुद्धाद्वैत मत को उपदिष्ट किया। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने 1600 ई0 में विज्ञानामृत भाष्य लिखकर अविभागाद्वैत् मत को प्रचलित किया। इसी प्रकार आचार्य बलदेव ने ब्रह्म सूत्रों का गोविन्द भाष्य लिखा और दार्शनिक जगत् ने अनित्य भेदाभेदवाद से परिचय कराया।

ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार पाद है। प्रथम अध्याय का नाम समन्वयाध्याय है, जिसमें समग्र वेदान्त वाक्यों का साक्षात् या परम्परया प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य दिखलाया गया है। द्वितीय अध्याय का नाम अविरोधाध्याय है जिसमें स्मृति तर्कादि के सम्मानित विरोध का परिहार करके ब्रह्म में अविरोध प्रदर्शित किया गया है। तृतीय अध्याय का नाम साधनाध्याय है जो वेदान्तसम्मत साधनों का विधान करता है। परलोक गमन तत्वपदार्थ संशोधन, सगुण विद्या निरूपण तथा निर्गुण विद्या के बहिरंग साधन (आश्रम धर्म, यज्ञ, दानादि) तथा अन्तरंगसाधन (शम, दम, निदिध्यासन आदि) का

निरूपण क्रमशः प्रत्येक पाद में किया गया है। चतुर्थ अध्याय का नाम फलाध्याय है जिसमें सगुण निर्गुण विधाओं के फलों का सांगोपांग विवेचन किया गया है।

वेदान्तदर्शन भारतीय दर्शन ही नहीं विश्व की समस्त दर्शन पद्धतियों का शिरोमणि है। वेदान्तदर्शन में शांकरवेदान्त, रामानुजवेदान्त, निम्बार्कवेदान्त, मध्यवेदान्त तथा वल्लभवेदान्त के प्रमुख सम्प्रदाय है। वेदान्त के सभी सम्प्रदायों में अपने मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए आचार्यो ने श्रुतियों का आश्रय लिया है और उन्हें पुष्ट करने के लिए वेदशास्त्रानुकूल तर्क का विशेष उपयोग किया है।

आज प्रायः वेदान्त से शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित वेदान्त का आशय ग्रहण किया जाता है, परन्तु रामानुज, निम्बार्क, मध्व एवं वल्लभ की वैष्णव दर्शन पद्धतियां भी वेदान्त के ही अन्तर्गत आती है। इस प्रकार वेदान्त को दो भागों में बांटा जा सकता है – 1– अद्वैतवेदान्त तथा 2– वैष्णववेदान्त।

शंकराचार्यपूर्ववर्ती वेदान्त के आचार्य –

वेदान्त दर्शन के कतिपय ऐसे प्राचीन आचार्य भी मिलते है जिनका वेदान्त दर्शन से यत्किंचित् सम्बन्ध देखा जा सकता है। इन आचार्यो में बादरि, जैमिनी, काशकृत्स्न, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, आत्रेय, आश्मरथ्य एवं काश्यप के नाम उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यो के अतिरिक्त आचार्यो की एक ऐसी परम्परा भी है जिसका वेदान्तदर्शन से स्पष्ट एवं साक्षात सम्बन्ध है। इस परम्परा के अन्तर्गत बोधायन, उपवर्ष, गुहदेव और कपर्दी, भारूचि, भर्तृहरि, ब्रह्मानन्दी, टन्क, द्रविड़ाचार्य, ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपंच एवं सन्दरपाण्डय के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शंकराचार्यपूर्ववर्ती वेदान्त के आचार्यो के सम्राट हैं – गौडपादाचार्य। गौडपादाचार्य शंकराचार्य के परमगुरू थे। गौडपादाचार्य ने अपनी गौडपादकारिका के अन्तर्गत अजातवाद सिद्धान्त की स्थापना की है। यद्यपि गौड़पादाचार्य एवं शंकराचार्य के

सिद्धान्तों में सूक्ष्म मतभेद है। किन्तु गौडपाददर्शन को शांकर दर्शन का प्रमुख आधार कहा जा सकता है।

वेदान्त का भेद विमर्श –

वेदान्त सम्प्रदाय को अद्वैतवेदान्त तथा वैष्णव वेदान्त के रूप में दो भागों में बांटा जा सकता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार दोनों वेदान्तो का संक्षिप्त परिचय निम्नवत् है –

नारायण ही भक्ति – ज्ञान के मूल स्रोत है। ज्ञान और भक्ति की धारायें नारायण से आरम्भ होकर जगन्मांगल्य के लिए प्रवृत्त होती है। भगवान् ही अद्वैतदर्शन तथा वैष्णवदर्शनों के उद्गम स्थान हैं। शुकदेव के द्वारा अद्वेत ज्ञान धारा प्रवृत्त हुई। शुक, गौडपाद, गोविन्द भगवत्पाद, शंकराचार्य – यह अद्वैत मार्ग की मुख्य आचार्य परम्परा है। वैष्णवधर्म के चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय है – श्री वैष्णवसम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, रूद्र सम्प्रदाय तथा सनकसम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों का उदय भगवान से ही लक्ष्मी, ब्रह्मा, रूद्र तथा सनत्कुमार के द्वारा हुआ। नारायण से लेकर गुरू परम्परा का क्रम प्रत्येक सम्प्रदाय से मिलता है। श्री वैष्णवसम्प्रदाय के आचार्य आनन्दतीर्थ (मध्व) द्वैत् के रूद्र सम्प्रदाय के आचार्य विष्णु स्वामी तथा तदनुयायी आचार्य बल्लभ 'शुद्धाद्वैत्' के सनक सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क 'द्वैताद्वैत' सिद्धान्त के प्रचारक है। चैतन्य सम्प्रदाय माध्वमत की ही एक शाखा है, यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उसने द्वैतवाद से पृथक 'अनित्यभेदाभेद' सिद्धान्त को अपनाया है। पांचरात्र का प्रामाण्य सबको माननीय है, परन्तु श्रीवैष्णवमत पर पांचरात्र का विशेष प्रभाव है। वैष्णव पुराणों में विष्णु पुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत् को बल्लभ तथा चैतन्य ने अपनाया है।

वेदान्तसम्प्रदायों के स्वरूप एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण –

अद्वैत वेदान्त –

शांकर अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त – 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो

ब्रह्मैव नापरः' है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त का मूल आधार उपनिषद साहित्य है। उपनिषदों के आधार पर ही शंकराचार्य ने ब्रह्मविद्या का निरूपण किया था। शांकर अद्वैतवाद के अनुसार अद्वैततत्व ब्रह्म को निर्गुण स्वीकार किया गया है। जगत् की सत्ता शांकर अद्वैतवाद के अन्तर्गत मायिक बतलाई गई है। माया के कारण ही जीव और ब्रह्म का भिन्नत्व है। वस्तुतः जीव और ब्रह्म में मूलतया ऐक्य ही है। यही शांकर अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त है। ब्रह्म स्वयं परिपूर्ण शक्ति वाला है वह प्रपंच रहित एवं शिव स्वरूप है। ब्रह्म जगत् और जीव की द्वैतावस्था का भान तभी तक रहता है जब तक कि पारमार्थिक ब्रह्म ज्ञान नहीं हो जाता। इस भेद बुद्धि एवं प्रपंच की सत्य प्रतीति का कारण अध्यास है। अध्यास ही मिथ्या, प्रत्यय रूप है यह जगत् के प्रमाण एवं प्रमेय एवं समस्त व्यवहार का मूल कारण है। शंकराचार्य ने अध्यास को – "अध्यासों नाम अतस्मिस्तद बुद्धिः' कहा है अर्थात किसी पदार्थ में उससे भिन्न पदार्थ का आरोप ही अध्यास है। आचार्य शंकर ने अध्यास को अविद्या ही कहा है और रज्जु सर्प का दृष्टान्त भी दिया है।[26] रस्सी रूप वस्तु में सर्प अवस्तु का मिथ्याज्ञान ही आरोप है। अध्यास अर्थात् अविद्या के द्वारा ही रस्सी सर्प रूप में भासित होती है परन्तु अविद्या निवृत्ति के उपरान्त रस्सी का वास्तविक ज्ञान हो जाता है। यही बात ब्रह्म रूप सद्वस्तु और जगत् रूप असद् वस्तु के सम्बन्ध में भी विचारणीय है। ब्रह्म परमार्थ वस्तु में अज्ञान से उत्पन्न जगत् रूप अवस्तु अवभासित होती रहती है। किन्तु ब्रह्म रूप वस्तु के ज्ञात होने पर जगत् रूप अवस्तु का भ्रम दूर हो जाता है।

शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन विवर्तवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया है। तात्त्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते है। शंकराचार्य के अनुसार जगत् को ब्रह्म का विकार कहना असंगत है, जैसे दही दूध का विकार है परन्तु जगत् को ब्रह्म का विकार नहीं कहा जा

सकता क्योंकि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है इसलिए जगत् ब्रह्म का विवर्त है न कि विकार। विवर्तवाद के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म में जगत् का पृथक रूप से भान होता है।

अद्वैत् वेदान्त का मूलाधार सत्तात्रय की कल्पना है – 1– प्रातिभासिक सत्ता 2– व्यावहारिक सत्ता 3– पारमार्थिक सत्ता।

प्रातिभासित सत्ता के अनुसार प्रतीति काल में असद्वस्तु सत्य भासित होती है। परन्तु उत्तरकाल में इस असद्वस्तु का बाध हो जाता है।

जगत के समस्त व्यवहार गोचर पदार्थो की सत्ता व्यावहारिक है, जगत के व्यावहारिक पदार्थ केवल व्यवहार में सत्य है। परमार्थदृष्टि से ये सब मिथ्या है। ब्रह्म बोध होने के पूर्व व्यावहारिक जगत की सत्य प्रतीति होती है। ब्रह्म बोध होने पर केवल अद्वैत ब्रह्म ही सत्य रूप से अवशिष्ट रह जाता है।

ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है यह सत्ता ही एकान्त रूप से सत्य है एवं तीनों कालों में अबाधित रहती है ब्रह्म भूत भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में वर्तमान रहता है पारमार्थिक सत्ता का बोध हो जाने पर अन्य दोनों सत्ताओं का बाध हो जाता है।

अद्वैत वेदान्त में ज्ञान, कर्म व्यवहार और परमार्थ का समन्वय है। यद्यपि मोक्ष का मुख्य कारण ज्ञान ही है परन्तु परम्परया कर्म आदि भी मोक्ष प्राप्ति में सहायक है।

<u>वैष्णव विशिष्टाद्वैत वेदान्त</u> –

आचार्य रामानुजीय विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न जीव एवं जड़ जगत्, ब्रह्म के शरीर, प्रकार एवं विशेषण कहे गये हैं। जीव चित् एवं जड़ जगत् अचित् है। चित् एवं अचित् से विशिष्ट ब्रह्म ही रामानुज दर्शन का विशिष्टाद्वैत तत्व है। इस प्रकार चित् एवं अचित् से विशिष्ट होने के कारण ही,

इस सिद्धान्त का नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा। कुछ समालोचकों ने, अद्वैत तत्व और दो विशिष्ट, कारण एवं कार्य की सत्ता के आधार पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का नामकरण किया है।[27] रामानुजदर्शन के अनुसार यद्यपि जीव तथा जगत् की स्वतन्त्र सत्ताएं स्वीकार की गई है, तथापि परमेश्वर अन्तर्यामी रूप से, भोक्ता–जीव एवं भोग्य जगत में स्थित रहता है।[28] ईश्वर, जीव, जगत् भक्ति तथा मोक्ष का विवेचन विशिष्टाद्वैत के मतानुसार शोध प्रबन्ध के अन्य अध्यायों में किया गया जायेगा।

<u>द्वैत वेदान्त</u> –

माध्व द्वैत वेदान्त में दस पदार्थ स्वीकार किये गये हैं– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। द्रव्य बीस प्रकार का मान्य किया गया है – परमात्मा, लक्ष्मी जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्व, अहंकार तत्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब। गुण के अनेक प्रकार है – जिसमें वैशेषिक गुणों के अतिरिक्त शम, दम, कृपा, तितिक्षा और सौन्दर्य आदि की भी गणना है। कर्म तीन प्रकार का है विहित, निषिद्ध तथा उदासीन। सामान्य दो प्रकार का होता है – नित्यानित्य भेद तथा जाति उपाधि भेद। विशेष जगत के समस्त पदार्थो में रहता है। अतएव अनन्त है, परमात्मा में भी विशेष को स्वीकार करना पड़ता है। विज्ञानानन्द रूप परमात्मा में इस विशेष के कारण भेद दृष्टिगोचर होता है। विशेषण से संयुक्त पदार्थ को विशिष्ट कहते है। हस्त पादादि से व्यतिरिक्त समग्र अवयव विशिष्ट पदार्थ अंशी है। सादृश्य तथा अभाव की कल्पना में कोई नवीनता नहीं है। शक्ति चार प्रकार की है – अचिन्त्य शक्ति, आधेय शक्ति, सहजशक्ति और पदशक्ति। अचिन्त्य शक्ति भगवान विष्णु में ही निवास करती है, जिसके कारण भगवान् में ही विचित्र कार्य सम्पादन का अलौकिक सामर्थ्य रहता है। दूसरे के द्वारा स्थापित शक्ति को आधेय–शक्ति

कहते हैं। विधिवत प्रतिष्ठा करने से प्रतिमा में जो देवता का सानिध्य उत्पन्न होता है वही आधेय शक्ति है। कार्यमात्र के अनुकूल स्वभावरूपा शक्ति सहज शक्ति है। पद पदार्थ में वाचक – वाच्य सम्बन्ध को पद शक्ति कहते है। लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है वह केवल परमात्मा के अधीन रहती है। अतः उससे भिन्न है परमात्मा के समान ही लक्ष्मी नित्यमुक्ता है, नानारूपधारिणी भगवान की भार्या है। जिस प्रकार परमात्मा अप्राकृत दिव्य शरीर से सम्पन्न हैं, लक्ष्मी भी उसी प्रकार अप्राकृत देह धारिणी है, परन्तु लक्ष्मी परमात्मा से गुण में न्यून है।

अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद के विपरीत मध्वाचार्य ने पांच प्रकार के भेद की स्थापना की थी। यह भेद, ईश्वर और जीव ईश्वर और जड़ जगत, जीव और जगत जीव और जीव तथा जड़ और जड़ का भेद है।[29] इस भेदवाद के आधार पर ही आचार्य मध्व ने द्वैतवाद सिद्धान्त की स्थापना की है।

उपर्युक्त माध्व वेदान्त के दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया गया। ब्रह्म, जीव, जगत् साधनमार्ग व मोक्ष के सिद्धान्तों का विवरण शोध प्रबन्ध के अन्य अध्यायों में प्रस्तुत किया जायेगा।

द्वैताद्वैत वेदान्त –

रामानुजाचार्य के मतानुसार निम्बार्कदर्शन में भी चित् अचित् एवं ईश्वर रूप से तीन तत्व माने गये हैं। चित् तत्व, जीव एवं अचित् तत्व जगत् का बोधक है। परन्तु निम्बार्क दर्शन के चित् एवं अचित् तत्व रामानुजाचार्य की तरह ईश्वर के विशेषण नहीं है। इसीलिए निम्बार्काचार्य विशिष्टाद्वैतवाद् के विरोधी हैं। आचार्य निम्बार्क के अनुसार ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में रामानुजाचार्य की तरह विशेषण – विशेष्यभाव सम्बन्ध न होकर, आश्रयाश्रित सम्बन्ध है। जीव एवं जगत् ईश्वर के आश्रित तथा ईश्वर आश्रय है।

निम्बार्काचार्य के अनुसार ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अभेद भी है, और भेद भी। इस प्रकार, निम्बार्कदर्शन में, जीव एवं जगत् के आश्रिततत्वादि

स्वभाव एवं अचेतनत्वादि विशेषणों के, ईश्वर के आश्रयत्वादि स्वभाव एवं कल्याण विशेषणों से विरूद्ध होने के कारण ईश्वर तथा जीव एवं जगत का भेद स्पष्ट ही है। परन्तु जीव तथा जगत् की सत्ता आश्रयरूप ईश्वर के बिना असम्भव है, अतः ईश्वर तथा जीव एवं जगत् में अभेद भी है।[30] इस प्रकार ईश्वर, जीव एवं जगत् में भेद भी है, और अभेद भी। जिस प्रकार कि जल की लहरें, सूर्य की किरणें, अग्नि के स्फुल्लिंग, रस्सी के लपेट एवं सर्प का कुण्डली रूप, जलादि से भिन्न एवं अभिन्न दोनों ही है, उसी प्रकार जीव एवं जगत, ईश्वर से भिन्न भी है और अभिन्न भी। इस प्रकार द्वैताद्वैतवादी के मतानुसार द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही सत्य है। इसीलिए द्वैताद्वैतवाद दर्शन के अनुरूप द्वैत एवं अद्वैत दोनों की ही प्रतिपादक श्रुतियां सत्य है।

निम्बार्क वेदान्त के अनुसार ईश्वर, जीव, जगत् एवं मुक्ति आदि सिद्धान्तों का विवेचन शोधप्रबन्ध के अन्य अध्यायों में किया जायेगा।

<u>शुद्धाद्वैत (बल्लभ) वेदान्त</u> –

बल्लभाचार्य का दार्शनिकसिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद है। अद्वैत वेदान्त के समान बल्लभदर्शन के अन्तर्गत माया ब्रह्म की शक्ति नहीं मानी गयी है, इसीलिए ब्रह्म के माया सम्बन्ध से अलिप्त होने के कारण ही बल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद के नाम से प्रचलित हुआ है।[31] शुद्धाद्वैतवाद के अन्तर्गत गिरिधर महाराज ने कर्मधारय एवं षष्ठीतत्पुरूष दोनों समासों की ओर संकेत किया है। कर्मधारय समास मानने पर विग्रह होगा – शुद्धं चेदंय् अद्वैतम् – शुद्धाद्वैतम् और षष्ठी तत्पुरूष मानने पर विग्रह होगा – शुद्धयोः अद्वैतम् – शुद्धाद्वैतम्।[32] इस प्रकार बल्लभ दर्शन के अन्तर्गत शुद्ध अद्वैत तत्व के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करके शुद्धाद्वैतवाद सिद्धान्त का प्रवर्तन किया गया है।

श्री वल्लभाचार्य के मत में माया सम्बन्ध रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्व है। आचार्य वल्लभ माया को अद्वैतसिद्धि में बाधक मानते है। उनका कथन

है कि ब्रह्म माया शक्ति के बिना ही जगदुत्पत्ति करने में समर्थ है। बल्लभाचार्य और शंकराचार्य आदि अन्य दार्शनिकों की ब्रह्म, जीव, जगत् एवं मुक्ति सम्बन्धी धारणाओं में भी मतभेद है, जिसका विवेचन क्रमशः शोध प्रबन्ध के अन्य अध्यायों में किया जायगा।

<u>तुलसीदास की कृतियों में "रामचरित मानस"</u> –

महाकवि संत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों के सम्बन्ध में सभी समीक्षकों की धारणायें एक सी नहीं है, तथापि स्वर्गीय रामगुलाम द्विवेदी के विचारों से अधिकांश समीक्षक सहमत है।

द्विवेदी जी के मतानुसार तुलसीदास जी की बारह कृतियां स्पष्ट है–

1– रामचरित मानस 2– कवितावली 3– गीतावली 4– दोहावली 5–विनयपत्रिका और 6– रामाज्ञा प्रश्न ये छः बड़े ग्रन्थ है। 7– रामललानेहछू, 8– वैराग्यसंदीपनी, 9–पार्वतीमंगल 10–जानकीमंगल 11–कृष्णगीतावली एवं 12– वरवैरामायण ये छः छोटेग्रन्थ है। यही बारह कृतियां संत तुलसीदास जी की प्रमाणिक कृतियां मानी जाती है।[33] कुछ महानुभावों का आग्रह है कि तुलसीसतसई भी प्रमाणिक कृतियों की कोटि में रखी जानी चाहिए। उपर्युक्त कृतियों में रामचरितमानस को विशेष ख्याति प्राप्त हुई है। उसके परमोदात्त स्वरूप के कारण तुलसीदास के प्रभाव की जो दिव्यज्योति प्रस्फुटित हुई वह वर्णनातीत है। रामचरितमानस के प्रताप से ही संत तुलसी असंख्य मानसों में प्रविष्ट हो गये।

रामचरित मानस के सम्बन्ध में कतिपय विशिष्ट मनीषियों के विचार निम्नवत हैं –

1– कवि सम्राट "स्व0 हरिऔध जी" ने 'मानस' के प्रचार और अत्युदात्तत्व का संकेत करते हुए कहा है कि "ऐसा ग्रंथ जो हिन्दू जाति का जीवनसर्वस्व, उन्नायक और कल्पतरू है, जो आज दस करोड़ से भी

अधिक हिन्दुओं का सत्पथ प्रदर्शक है, यदि है तो रामचरित मानस और वह गोस्वामी जी के महान तप का फल है।[34]

2— स्व0 रामदास गौड़ ने 'मानस' को चारो पदार्थो का साधन माना है — "इस विचित्र ग्रंथ के सहारे वर्णमाला सीखने के लाभ से लेकर भक्ति और मुक्ति तक लोग कमा लेते है। सचमुच 'मानस' कहीं तो प्रकाशकों या रोजगारियों को अर्थ दे रहा है तो कही धर्म — प्राणों को धर्म सिखा रहा है, काव्यमर्मज्ञों को लोकोत्तर आनन्द दे रहा है और मुमुक्षुओं को भक्तिमार्ग से ज्ञान और तदुपरांत मोक्ष तक भी पहुंचा रहा है। ऐसे विरले ही ग्रन्थ होते हैं जो चारो पदार्थ देने वाले है।[35]

3— श्री मैथिलीशरण गुप्त 'मानस' को कौन सा पद देते हैं, इतना ओर देख लीजिए — "कहने को तो हम वेद शास्त्रों का नाम लेते है, परन्तु सच्ची बात यह है कि आज 'रामचरितमानस' ही हमारा धर्म ग्रन्थ है।[36] उसे यह पद देकर हमने कुछ नहीं खोया, उल्टा सब कुछ एक साथ ही पा लिया है। तुलसी ने लोक और वेद से जो कुछ भिक्षाटन करके पाया सब अपने प्रभु को समर्पण कर दिया। उस भोग का प्रसाद जिसने पाया उसका भी लोक परलोक बन गया।[36]

इसी प्रकार रामचरित मानस के महत्त्व के सम्बन्ध में कुछ विदेशी विद्वानों के भी मत संग्रहणीय है।

रामचरितमानस का महत्व स्वीकार करते हुए प्रसिद्ध विद्वान ग्रिफिथ के कथन को उद्धृत करते हुए ग्राउज (रामायण के) अपने अनुवाद के मुखपृष्ठ पर कहते हैं कि इंग्लैण्ड में बाइबिल का इतना महत्व व सम्मान नहीं जितना भारत के उसी श्रेणी के लोगों में "रामचरित मानस" का है।[38]

ग्राउज के मत से समग्र ''रामचरितमानस'' हिन्दू परमार्थ के दार्शनिक ईश्वरवाद के विरूद्ध भक्तिपूर्ण प्रतिरोध है।[39] वे यह भी कहते हैं कि केवल संस्कृत के व्यवसायी विद्वान ही अशिक्षित जनता को दिये गये अदेय लाभ के रूप में इसकी आलोचना करते है। इस एकपक्षीय थोड़े से अपवाद के अतिरिक्त यह काव्य प्रासाद से कुटी तक, सभी के हाथ में रहता और पढ़ा सुना जाता है तथा हिन्दुओं के प्रत्येक वर्ग द्वारा सम्मानित एवं प्रशंसित है।[40]

उनका मत यह है कि ''रामचरितमानस'' अश्लील विचारों से रहित है इसलिए यह राष्ट्रीय पाठ्य पुस्तक के रूप में भी महत्वपूर्ण है।[41]

ग्रियर्सन इसे सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं और इसके प्रभाव को अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं मानते।[42] उनका यह कथन हे कि कलाकृति होने के कारण यूरोपीय पाठकों को इसकी अतिशयता एवं घटनाओं का विवरण खटकता है। परन्तु अभी तक मुझे कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जिसने इसे मूल रूप में पढा हो और से महती कृति न समझा हो।[43] वे आगे कहते है कि यह रचना नव करोड़ लोगों की बाइबिल कही जाती है और उत्तरी भारत का प्रत्येक व्यक्ति इससे इतना अधिक परिचित है जितना औसत अंग्रेज बाइबल से परिचित नहीं है। भारत में रहने वाला कोई भी हिन्दू, चाहे वह राजकुमार हो अथवा कुटीचर ऐसा न होगा जो इसकी अति प्रसिद्ध चौपाइयों को न जानता हो और अपने वार्तालाप में उनका प्रयोग न करता हो।[44]

एडविन ग्रीब्ज का मत है कि रामायण एक ऐसी कृति है जिसने कृतिकार को अमर बना दिया।[45]

जे0एन0 फरक्हार का विचार है कि वास्तव में यह हिन्दुत्व की आधुनिक महत्तम पुस्तकों में से है। इसने गत तीन शतियों में किसी अन्य कृति की अपेक्षा हिन्दुओं को सबसे अधिक प्रभावित किया है। मानस को विश्व महत्व का काव्य स्वीकार करते हुए के. महोदय कहते है कि हिन्दी साहित्य में

सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम निस्सन्देह तुलसीदास का है जिनकी हिन्दी रामायण को भारत में ही नहीं अपितु समस्त विश्व में महती एवं उपयुक्त प्रसिद्धि प्राप्त है।[46]

जे0एम0 मेक्फी का कथन है कि यह महाकाव्य उत्तर भारत के प्रायः प्रत्येक ग्राम में मिलेगा। इसने दस करोड़ हिन्दू जनता को प्रभावित किया है। कोई भी ऐसी अन्य पुस्तक उपलब्ध नहीं जो हिन्दू मान्यताओं का इतना पूर्णतया विविध चित्र प्रस्तुत कर सके।[47]

डी0पी0 हिल मानस के प्रति श्रद्धा सुमन अर्पित करते हुए कहते है कि स्वदेशी विचारधारा के अनुसार यह महाकाव्य एक महत्तम कृति है। पश्चिमी चेतना चरित्र चित्रण एवं सुन्दर पद्यांशों की प्रशंसा करेगी।[48]

मानस के प्रबल प्रभाव को रेवरेण्ड एटकिंस व्यक्त करते है कि मैं शीघ्र ही (इस) काव्यमयी प्रवाहयुक्त कथा, विविध चित्र तथा सरल, गेय, लय एवं संगीत में बद्ध श्रद्धायुक्त विचारों से रूचि लेने लगा। रामचरितमानस भारतीय इतिहास के महान चरित उत्तरी भारत के राज्य अवध के राजकुमार (तत्पश्चात राजा) रामचन्द्र के जीवन चरित से कुछ अधिक है।[49]

प्रोफेसर वरान्निकोव एवं एफ0आर0 आलचिन भी रामचरित मानस को एक अनुपम महाकाव्य के रूप में स्वीकार करते है। मानस के उदात्त दर्शन, व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण, उदार भक्तिभावना, कोमलकांत पदावली आदि से प्रभावित हो, विश्व के सभी विद्वान् सम्पूर्ण मानवजाति के कल्याण में इसकी उपादेयता के सम्मुख नतमस्तक हैं। यह संसार की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में से एक है।

रामचरित मानस की प्रामाणिकता तथा शास्त्रीय–महत्व –

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में महाभारत, बाल्मीकि रामायण पुराणों तथा आगमों, तन्त्रों तथा संहिताओं, धर्मशास्त्रों के अनुसार

उत्कृष्ट कोटि के विचारों से परिपूर्ण श्री राम के चरित्र को उपस्थापित किया है और बड़ी निर्भीकता से शास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत किये है। जीव यद्यपि सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान प्रभु का निर्मल निष्कलंक पवित्र अंश ही है।

"ईश्वर अंस जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी।[50]

तथापि माया पराधीन होने के कारण और अविद्या काम्य कर्मो से उसकी ज्ञान विज्ञान की परिधि बहुत सीमित हो जाती है सच्छास्त्रों एवं सद्गुरूओं की कृपा से ही धर्म ब्रह्म का प्रबोध होता है। अतः सभी आस्तिक सम्प्रदायों ने वेदादि शास्त्रों के प्रमाण्य का सर्वोत्कृष्ट महत्व माना है। वेदादि शास्त्रों का ही परम सार "श्रीराम चरित मानस" है – नाना पुराण निगमागम सम्मत शास्त्रों का अमुक अंश ही आदरणीय है, अमुक नहीं, यह आस्तिकता नहीं है। वेदादि शास्त्रों के महातात्पर्य का विषय 'परब्रह्म' "रामचरित मानस" के 'राम' है।

उनका परम पवित्र चरित्र ही रामचरित मानस का वर्णनीय विषय है। राम के सम्बन्ध से ही रावण का चरित्र वर्णनीय कोटि में आता है – तभी तो

"चरितं रघुनाथस्य सतकोटिप्रविस्तरं।

एकैकमक्षरं पुन्सां महापातकनाशनम्।।

के अनुसार सतकोटि प्रविस्तर रामायण का एक–एक अक्षर महापातकों को नष्ट करने की सामर्थ्य रखता है। फलतः रावण के चरित्र का वर्णन भी रामचरित्र का अंग होने के कारण ही पापनाशन में सक्षम है। अतएव अनुष्ठानों में सबका पाठ होता है। श्री वाल्मीकि रामायण के सभी श्लोक सम्पुटित रूप से अनुष्ठान में पढे जाते है।

वेदों का प्रत्येक अक्षर सार्थक एवं सप्रयोजन है, यह उत्कृष्ट मीमांसा पद्धति से सिद्ध है। ठीक वैसे ही रामचरितमानस का प्रत्येक अक्षर सार्थक एवं सप्रयोजन है। उसके किसी एक वाक्य को भी निरर्थक या गौड़ नहीं माना जाना

चाहिए। वेदादि शास्त्रों को भगवान का वांङ्मय विग्रह माना जाता है।

महाभारत तथा श्रीमद्भागवत् के सम्बन्ध में भी ऋषियों की वैसी ही धारणा है। भगवान् के वांङ्मय शरीर, वेद रामायण महाभारत, भागवत् में कोई नयी वस्तु डाल देना, वैसा ही अनिष्ट होगा, जैसे भगवान् के उपास्य विग्रह में कांटा चुभाना। उसमें से कुछ अंशों को प्रक्षिप्त कहकर निकाल देना भी वैसा ही अनिष्ट होगा, जैसे भगवान के विग्रह से किसी अंगोपांग को पृथक् कर देना। ठीक उसी तरह 'मानस' भी भगवान राम का विग्रह है। अतः उसमें नये अंश का सन्निवेश एवं विद्यमान अंशों का वहिष्करण भी पूर्वोक्त नीति से अनुचित होगा।

रामचरित मानस का नियमित अनुष्ठान होता है। वह आज का पवित्र धर्मग्रन्थ है। अतः उसके किसी अंश को उपेक्षणीय या अपरिपक्व विचार की परणति नहीं कहा जा सकता है। श्रद्धा और अन्ध विश्वास में यही अन्तर होता है कि वेदादि शास्त्रों एवं तदनुसारी गुरूओं के वचन में विश्वास श्रद्धा है। अप्रमाणिक वस्तुओं में विश्वास अन्धश्रद्धा है। यह ठीक है कि किसी एक प्रसंग या कुछ पंक्तियों के आधार पर ही मानस का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है किन्तु सम्पूर्ण मानस के उपक्रम उपसंहार की एकरूपता अभ्यास, फल अपूर्वता अर्थवाद ओर उपपत्ति का विचार कर उसका निष्कर्ष निकाला जा सकता है, तो भी उन कुछ पंक्तियों का भी समन्वय करना पड़ेगा। उन्हें उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भी मानस का अंग ही है। उसका भी अनुष्ठान होता है। पर यदि ऐसा न हो सका तो अवश्य ही उन कुछ अंशों एवं पंक्तियों का दुरूपयोग होगा। मानस, वेद रामायण महाभारत पुराण तथा धर्मशास्त्रों के समन्वयात्मक अध्ययन का ही परिणाम नहीं, किन्तु सम्प्रदाय परम्परा प्राप्त सुनिश्चित परिपक्व सिद्धान्त में परिनिष्ठित, प्रामाणिक अधिकृत साक्षात् भगवान् शंकर और हनुमान जी का प्रसाद स्वरूप है –

"सपनेहु साचेहु मोंहि पर जौ हर गौरि पसाउ।[51]

तौ फुर होउ जो कहउँ सब भाषाभनिति प्रभाउ।।''

अतः उसके आधार पर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सिद्धान्तों का विश्लेषण भी अनुचित नहीं, किं बहुना धर्मनीति, राजनीति तथा व्यवहारों के औचित्य और अनौचित्य का विश्लेषण भी अनुचित नहीं।

<u>रामचरितमानस की कीर्ति के आधारभूत कारण</u> –

यहां विचारणींय बिन्दु यह है कि ''रामचरितमानस'' की अपरिमित कीर्ति का कारण क्या है? उक्त के सम्बन्ध में सुविचारित उत्तर यह होगा कि मानस की ख्याति के सर्वप्रमुख कारण है तुलसी के ''राम''। निःसंदेह तुलसी के पूर्व भी बहुत से सन्तों ने राम का स्वरूप प्रतिपादित करने का प्रयास किया था, किन्तु उन्होंने राम को केवल अव्यक्त परात्पर ब्रह्म का ही प्रतीक माना।

तुलसी ने गंभीर आध्यात्मिक दृष्टि से राम को अव्यक्त परात्पर ब्रह्म तो माना ही है साथ ही साक्षात मानव दशरथ पुत्र राम रूप में भी ग्रहण किया है। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में अभेद माना है।[52] भेद मानकर चलने वालों को निंद्य ठहराया है।[53]

दोनों स्वरूपों को अभिन्न मानने के परिणाम स्वरूप यदि गूढ अध यात्म तत्वों के पारदर्शी मुट्ठी भर ज्ञानी जनों के उरों में राम ब्रह्म सच्चिदान्द रूप से चिंतन के विषय हैं तो अधिकांश जन सामान्य के हृदय में अवतीर्ण राम के रूप में अर्चित है। इस प्रकार तुलसी के राम में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भावनाएं परितुष्ट हो जाती है। एतदर्थ दोनों प्रकार की भावना वाले रामोन्मुख होने के लिए 'मानस' को उत्कृष्ट साधन समझ उसी के सहारे अपने इष्ट को प्राप्त कना चाहते है। ''मानस'' राम के सम्मुख ले जाने का अचूक साधन है –

''जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनहहिं समुझि सचेता।।

होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी।।[54]

विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों का समन्वय भी 'मानस' की ख्याति का दूसरा कारण है। यह ऐसे ही समन्वयवाद का परिणाम है कि अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि सभी सिद्धान्तानुयायियों के बीच 'मानस' की कीर्ति की मधुर स्वरलहरी गूंजती हुई कर्णगोचर होती है। इसमें निर्दिष्ट साम्प्रदायिकता इतनी व्यापक और सार्वभौमिक है कि इसमें सभी सम्प्रदाय वालों को अपने – अपने सम्प्रदाय के सत्य मूल तत्व की प्रतिष्ठा मिलती है। फलतः यह अधिकांश सम्प्रदायों में आदृत है। शैव और वैष्णव दोनों ही भक्ति पूर्वक इसका परायण करते है। यह बहुतों की दृष्टि में इसलिए भी सम्मानित है कि इसमें प्राचीन भारतीय हिन्दू – संस्कृति, परम्परागत नियम, विश्वास किं बहुना समस्त भारतीयता के उच्चादर्शो के अध्ययन की सामग्री भी है। लोक भाषा में होने के कारण भी इसकी ख्याति हुई है। गोस्वामी जी अधिक से अधिक पाठकों को लाभ पहुंचाना चाहते थे और चाहते थे जगत् का उपकार करना। यही कारण है कि अच्छे संस्कृतज्ञ होने पर भी उन्होंने 'मानस' का प्रणयन लोक भाषा में ही किया। इसी अभिप्राय से महात्मा लूथर और टिंडेल आदि ने भी अपने देशवासियों के लिए, 'बाइबिल' और 'न्युटेस्टामेंट' की रचना देश भाषा में ही की थी। मिल्टन जैसे महान् लैटिन – ज्ञाता कवि ने भी अधिकांश लोगों के हितार्थ ही अपनी रचनाएं प्रचलित देश भाषा में ही की। भाषा ही नहीं, भाषा को काव्य के अप्रतिम सांचे में ढली रहने के कारण भी 'मानस' की ख्याति बहुत बढ़ी है। उसे बड़े बड़े सहृदयों ने सूक्ष्म से सूक्ष्म काव्य की कसौटी पर कस चुकने पर अद्वितीय स्वीकार किया है। तुलसीदास के महान व्यक्तित्व से भी 'मानस' की कीर्ति का विस्तार हुआ है।

गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रशंसा में आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने उचित ही कहा है –

> "आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसीजंगमस्तरूः।
>
> कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिताः।।"

<u>रामचरित मानस के आधार ग्रन्थ</u> –

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने विशाल ग्रन्थ रामचरित मानस के आधार स्तम्भों की ओर संकेत करते हुए मानस की सारग्राहिणी शक्ति के स्वरूप का परिचय दिया है।

'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्,

रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।[55]

श्री राम नरेश त्रिपाठी ने लिखा है – 'संस्कृत नन्दन – कानन में विचरण करके तुलसीदास रूपी मधुप ने समस्त फूलों का रस लेकरनजो मधु तैयार करके हिन्दू जाति को दान किया है, उसकी तुलना संसार के किसी दान से नहीं की जा सकती। जैसे मधु अनेक शारीरिक व्याधियों को नाश करने में औषधियों को सहायता पहुंचाता है, वैसे ही 'रामचरितमानस' रूपी मधु अनेक मानसिक व्याधियों को नाश करने में सहायक होता है।

तुंलसीदास ने 'मानस' में बाल्मीकिरामायण, अध्यात्मर मायण, श्रीमद्भागवत्, प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक से अधिक सहायता ली है। इसके सिवा संस्कृत के दो सौ से अधिक ग्रन्थों के श्लोकों को भी चुन– चुन कर उन्होंने उनका रूपान्तर करके मानस में भर दिया है।[56]

डा0 बलदेव प्रसाद मिश्र जी मानस के आधार – ग्रन्थों का समीक्षात्मक विवेचन करते है–

'मूल कथा ली गई बाल्मीकिरामायण से, संवाद तथा विवेचन की शैली ली गई' भक्ति – परक अध्यात्मरामायण से, भाव प्रवणता और आकर्षण के लिये मसाले लिये गये धार्मिक एवं ललित साहित्य के अन्य उपयुक्त ग्रन्थों से। इसीलिए गोस्वामी जी का कवि रूप ''नानापुराण निगमागम सम्मतं यत्'' के बाद ही कह उठा ''रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि''। व्यास के महाभारत के विषय

में विद्वानों ने कहा है, 'यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' (जो यहां नहीं है वह अन्यत्र कहीं नहीं है) – भागवत का क्रम चलाकर मानों स्वतः व्यास जी ही सिद्ध कर गये है कि माधुर्य के लिए महाभारत के अतिरिक्त कुछ अन्यत्र भी (क्वचिदन्यतोऽपि) टटोला जाय। गोस्वामी जी के मानस में रामायण और महाभारत की प्रभविष्णुता के साथ ही साथ भागवत की भाव – प्रवणता भी पूरी मात्रा में आ विराजी। अतएव उनका "क्वचिदन्यतोऽपि" मानों महाभारत – प्रेमियों को संकेत कर उठा कि 'जरा इधर आकर इस मानस की भी सैर कर ली जाय।[57]

एफ0 एस0 ग्राउज भी बाल्मीकिरामायण को मानस का आधार स्वीकार करते है। ग्रियर्सन का कथन है कि रामचरितमानस बाल्मीकिरामायण का अनुवाद मात्र नहीं है। यह एक स्वतन्त्र कथा है। मानस की आधार सामग्री पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की ओर संकेत दिया है – अध्यात्मरामायण, भुशुण्डिरामायण, वशिष्ठ संहिता तथा प्रसन्नराघव।[58]

जे0एन0 फरक्हार के मतानुसार आधार सामग्री निम्नलिखित है –

1– प्राचीन रामायण 2– रामानन्दी विचारधारा 3– अध्यात्मरामायण 4–योग वशिष्ठ 5– अद्भुतरामायण 6– भुशुण्डिरामायण 7– हनुमन्नाटक।[59]

जे0ई0 कारपेन्टर तथा जे0एम0 मेक्फी ने भी उन्हीं का समर्थन किया है। मेक्डूगल महोदय अन्य ग्रन्थों के साथ भागवत पुराण का नाम भी गिनते है।

डी0पी0 हिल जयदेवकृत प्रसन्नराघव तथा भगवद्गीता को भी मानस की आधार सामग्री के रूप में मानते है।[60]

रेवरेण्ड ए0जी0 एटकिंस मानस का आधार बाल्मीकिरामायण को ही मानते है, परन्तु साथ ही वे विभिन्नताओं की ओर भी संकेत करते है।[61] कवितावली के अंग्रेजी अनुवादक एफ0आर0 आलचिन लगभग सभी मतों का समाहार करते हुए मानस की आधार सामग्री के रूप में निम्नलिखित कृतियों का

उल्लेख करते है।[62] – 1– बाल्मीकि रामायण 2– महाभारत 3– भागवतपुराण 4– योगवाशिष्ठ 5– अध्यात्मरामायण 6– भुशुण्डिरामायण 7– हनुमन्नाटक 8–प्रसन्नराघव 9–शांकर अद्वैत से सम्बन्धित ग्रन्थ।

वस्तुतः गोस्वामी जी ने रामचरितमानस का आधार उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त वेदान्त के सभी सम्प्रदायों के ग्रन्थों तथा संस्कृत साहित्य के विशाल वांङ्मय के दार्शनिक ग्रन्थों सभी पुराणों एवं महाकाव्यों को आधार के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु यहां यह भी ध्यातव्य है कि यह आधार सामग्री केवल संस्कार रूप में ही तुलसी को प्राप्त हुई थी। उन्होंने कोई पुस्तक पढकर या सामने रखकर मानस का प्रणयन नहीं किया।

गोस्वामी जी ने रामचरित्तमानस की आधार सामग्री पर दूसरी बात भी बालकाण्ड में कहा –

मैं पुनि निज गुरूसन सुनी कथा सो सूकर खेत।

समुझी नहीं तस बालपन तब अति रहेउ अचेत।।

तदपि कही गुरू बारहिं बारा। समुझि परी कछुमति अनुसारा।।

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई।।

अर्थात् मैंने यह कथा सूकरखेत में अपने गुरू से सुनी परन्तु बाल्यावस्था में अचेत बुद्धि होने के कारण इसे समझ न सका। फिर भी गुरू के बार–बार (यही कथा) कहने तथा समझाने पर बुद्धि के अनुसार कुछ समझ सका मेरे मन में अब (उसकी) जो स्मृति रह गई है, मैं उसी को भाषाबद्ध करता हूँ।

इसके अनुसार मानस का मुख्य आधार है गोस्वामी जी द्वारा गुरू–मुख से सुनी रामकथा।

रामचरितमानस की आधार सामग्री के सम्बन्ध में मानस का प्रणयन

चाहे गुरू–मुख से सुनी रामकथा के आधार पर किया गया हो तथा उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर निर्मित हुआ हो परन्तु अन्ततः यही कहना पड़ेगा कि विश्व – विश्रुत रामचरितमानस गोस्वामी जी के विशाल व्यक्तित्व साधना तथा सार्वभौम पांडित्य का सुमधुर फल है। जिसका कोई भी अंश त्याज्य नहीं है।

तुलसी युग की परिस्थितियाँ –

चिरकाल से ही भारत वर्ष में संस्कृति की दो धारायें स्पष्ट रूप से चली आ रही थी – एक वैदिक धारा और दूसरी अवैदिक। पहली धारा वर्णाश्रम धर्म को अक्षुण्य रखती आई है, जिसका विश्वास वेदों, पुराणों स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में है तथा व्रतों में विश्वास करती है। इस धारा के आचा ॅ मनु और शंकर तथा उसके कवि कालिदास, जयदेव विद्यापति और तुलसीदास है।[63] दूसरी धारा बौद्ध सिद्धों और नाथों से होती हुई सन्तों तक पहुंची थी। जब – जब अवैदिक मत ने वैदिक मत को आतंकित किया और लोक मर्यादा की सीमा का उल्लंघन हुआ तभी वैदिक धर्म की रक्षा के लिए कोई न कोई युगपुरूष अवतरित हुआ। महात्मा तुलसीदास युग का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे ही युग पुरूष थे।

तुलसी युग मुख्यतः भक्ति समन्वित वेदान्त का युग था। उस काल में वैष्णव और शैव सम्प्रदायों पर भी वेदान्त का प्रभाव था। अनीश्वरवादी बौद्ध एवं जैन दर्शनों का न्त हो गया था। षडदर्शनों में न्याय – वैशेषित तर्कशास्त्र की परिधि में आ गये थे, सांख्य एवं योग के उपयोगी सिद्धान्त वेदान्त में समाहित हो गये थे और तन्त्रवाद भक्तिवाद में परिवर्तित हो गया था। इसी भक्तिवाद ने वैष्णव संस्कृति को जन्म दिया। वैष्णव – संस्कृति में अहिंसा और नैतिकता को प्रधानता द गयी, जिसमें शाक्तों की हिंसात्मक साधन – पद्धति वाममार्गी तान्त्रिकों के अनाचार का विरोधी स्वर मुखर है। भक्ति और वेदान्त का ऐसा समन्वय हुआ कि वेदान्त ही भक्ति आन्दोलन की आधारशिला बन गया। सामान्य

जनता का प्रबोध शंकर के अद्वैतवाद से सम्भव न हो सका, क्योंकि ब्रज की गोपिकाओं के समान उन्हें निरालम्ब के अवलम्बन से न तो कोई आशा ही बंधी थी और न सांत्वना ही मिलती थी। शंकर का मायावाद सामान्य मानव की प्रगतिशीलता का समाधान प्रस्तुत न कर सका। अतएव सभी वैष्णवाचार्यो को भी किसी न किसी रूप में अद्वैतवाद को ही स्वीकार करना पड़ा।

इस काल में शंकर मतावलम्बी मधुसूदन सरस्वती ने "भक्ति रसायन' की रचना करके अद्वैत सिद्धान्त और भक्ति का समन्वय प्रस्तुत किया और पुष्पदन्त के "महिम्नस्त्रोत" पर विशद् व्याख्या लिखकर शैव और वैष्णव मतों में भी सामंजस्य स्थापित किया। राघवानन्द और उनके शिष्य रामानन्द ने समन्वय का एक ऐसा मार्ग ढूंढ निकाला, जिसने इस्लाम की चुनौती के रूप में पौराणिक कथाओं के आधार पर राम और कृष्ण को ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित करके औपनिषदिक वेदान्त धर्म का प्रतिपादन किया। सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक ब्रह्मणवाद और भक्तिवाद का विरोध बहुत कुछ समाप्त हो चुका था। भक्तिवाद ने ब्राह्मण धर्म से समझौता करके वर्णव्यवस्था ओर मर्यादावाद का प्रचार किया।[64]

इस प्रकार व्यक्तिनिष्ठ ईश्वर को परमाराध्य ही नहीं, वरन परब्रह्म के रूप में ग्रहण कर लेने से औपनिषदिक आत्मवाद, भक्तिवाद का अंग बन गया और आत्मवादी संस्कृति के नैतिक उपकरण स्वतः ही भक्तिवाद के उपकरण बन गये।[65] इसी युग में परस्पर विरोधी निगम और आगमों में समन्वय स्थापित किया गया। सोलहवीं शताब्दी में महाप्रभु वल्लभाचार्य ने "प्रस्थानत्रयी" में भागवत् को जोड़कर 'प्रस्थान चतुष्टय' की प्रतिष्ठा की, जिससे लोक – मानस को शास्त्र का बल मिला और सभ्य – समाज भक्ति साधना में तल्लीन हो गया। इस भक्तिवाद ने ही अनेकानेक वर्णो, सम्प्रदायों एवं पन्थों को एकता के सूत्र में गूंथ दिया। इसी आन्दोलन ने तन्त्रवाद को विफल करके इस्लामी धर्म और संस्कृति के विरोध में हिन्दू समाज का मोर्चा खड़ा किया, जिसके एक ओर तो स्थानीय चेतनाओं और

वर्ग संस्कारों को समन्वित किया और दूसरी ओर इस्लाम के संवात को भी आत्मसात किया। उसी के द्वारा धर्म क्षेत्र में एक नये समन्वय की सिद्धि हुई।[66] परिणामस्वरूप प्रेम की प्रधानता हुई। यही प्रेम मध्ययुगीन काव्य की मौलिकता है, जिसने भक्ति और रहस्यमयी साधनाओं को जन्म दिया।

तुलसी की दार्शनिक चिन्तन धारा –

प्राचीन दार्शनिक मौलिक अभिप्रायों की नई व्याख्या, राष्ट्र निर्माण का नया तरीका एवं मानवता का नया सन्देश तुलसी के जीवन का साध्य बना। धर्म और कर्तव्य का मधुर गठबन्धन तुलसी की निजी विशेषता है। दर्शन की शुष्कता और गम्भीरता को तुलसी ने काव्य रस में घोलकर इतना सरस बना दिया है कि दर्शन और काव्य दोनों एक अमृतमय प्रभाव से जगमगा रहे है। शंकराचार्य और रामानुजाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रभाव तो तुलसी पर है ही, पुराण, निगम, आगम तन्त्रों का भी प्रचुर प्रभाव है। रामानुजाचार्य के ब्रह्म के पर्यायवाची तुलसी के राम है जो सर्वशक्ति सम्पन्न, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक विभु है। विष्णु के स्वरूप की कल्पना जो तुलसी ने की है, वह नई चीज नहीं है। वेदों में भी विष्णु की चर्चा आई है।[67] वेदों में विष्णु एक देवता हैं और शक्तिशाली देवता है। ऋषियों के अनेक मंत्रों में उनकी कीर्ति झलक उठी है। संहिता काल में वे गर्भ के रक्षक है। ब्राह्मण युग में आकर "विष्णु" का विकास हुआ और उन्हें श्रेष्ठ देवता के रूप में स्वीकार किया गया।[68] इस काल में यज्ञ के देवता के रूप में विष्णु पूज्य हुए और अग्नि से भी उनका स्थान श्रेष्ठ माना गया। पुराणों में जिस विष्णु की चर्चा है, उसका उल्लेख ब्राह्मणीय ग्रन्थों में हुआ है और उनके अवतारों का उल्लेख मिलता है। बलदेव उपाध्याय जी ने लिखा है, " इन अवतारों के वैदिक आधार गवेषणा से उपलब्ध होते है।"[69] विष्णु संसार के पालक के रूप में प्रतिष्ठित एवं सर्वशक्तिमान देवता माने जाते है। ब्राह्मण– ग्रन्थों से पुराणकारों के विष्णु और अधिक तेजस्वी, धीर शक्तिशाली, अनन्त, सर्वविभु,

सर्वज्ञ बन जाते हैं। इसका उल्लेख ब्रह्म वैवर्तपुराण, विष्णुपुराण और पद्मपुराण में उपलब्ध है। विष्णुपुराण में विष्णु के दो रूप माने गये है। विष्णुनिर्गुण और सगुण दोनों रूपों में वर्णित है।[70] विष्णु की प्रतिष्ठा पुराणों में आकर अत्यन्त विकसित हुई और वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक निखिल सृष्टि के संचालक हुए। पुराणों पर गोस्वामी जी की पूरी आस्था थी और पुराणों को पंचम वेद भी कहा जाता है।[71] यह महत्व सारभूत ब्रह्म के उपवृहंण के कारण दिया गया है।[72] पुराणों की इतनी प्रतिष्ठा समाज में देख कवि तुलसी ने अपने काव्य का आधार विष्णु राम को बनाया और बहुत कुछ भक्तिभावना का आदर्श पुराणकारों के सदृश रखा। तुलसी की दार्शनिक चिन्तनधारा, वेदों, उपनिषदों षटदार्शनिक शाखाओं शैव–शाक्त और वैष्णव–तंत्रों, निगम आगम एवं पुराणों की चिंतनधारा का विकसित अगला कदम है, जिसमें हमारी भारतीय दार्शनिक अभिव्यक्ति को नया स्वर मिला।

तुलसीदास जी की दार्शनिक चिन्तनधारा का जहां ''रामचरितमानस'' एक बृहत अगला कदम है, वहां मूल रूप में शंकराचार्य के अद्वैतवाद रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद और वैष्णववादों की त्रिवेणी का पवित्र वाणी जल संगृहीत है। कवि ने इन सभी दर्शनों में सामंजस्य कर एक विशिष्ट दर्शन का अनुपम उपहार भारतीय जनमानस को दिया, जिससे समाज दिन प्रतिदिन शंकाओं को छोड़ विश्वास के साथ हृदय के समस्त प्रेमभाव रामार्पित करता हुआ मुक्ति का भागी बन सके।

रामचरितमानस का प्रतिपाद्य विषय –

मानस के माध्यम से संत शिरोमणि गोस्वामीदास जी ने ऐसा चिरंतन मांगलिक दर्शन प्रस्तुत किया जो समस्त विश्व के लिए कल्याणप्रद है। इसकी सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि प्रत्येक मतावलम्बी इसे अपनी ही विचारधारा की अभिव्यक्ति समझता है एवं स्वीकार करता है। रामचरितमानस में सभी मतों का

सर्वश्रेष्ठ समन्वयात्मक ग्रन्थ है। तुलसीदास जी के आध्यात्मिक एवं आत्म विषयक विचार वेदान्त की शिक्षाओं पर आधारित हैं।

विदेशी विद्वान ग्रियर्सन के अनुसार गोस्वामी जी मूल रूप में विशिष्टाद्वैतवादी होकर भी वेदान्त के दूसरे मतों के प्रति अत्यन्त उदार थे तुलसीदास उस विशिष्टाद्वैत के अनुयायी थे जो रामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित एवं रामानन्द द्वारा संशोधित वेदान्त दर्शन है फिर भी उन्हें किसी एक वेदान्त मत का अनुयायी मानना ठीक न होगा।

रामचरितमानस में वेदान्तों में प्रतिपादित सभी सिद्धान्तों ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, जीव जगत, माया, त्रिमूर्ति, पुराण वर्णित देवमण्डल, अवतारवाद तथा मोक्ष के साधनों पर श्रुतिसम्मत एवं वेदान्तानुमोदित गहन विचार किया गया है। मानस में सगुण निर्गुण ब्रह्म के स्वरूपों का वर्णन गोस्वामी जी के उदान्त व्यक्तित्व का उत्कृष्ट उदाहरण है। तुलसी के राम निर्गुण होकर भी सगुण हैं, मानव होकर भी परात्पर ब्रह्म हैं। वे कहते हैं –

ग्यान कहै अग्यान बिनु तम बिनु कहै प्रकास।

निरगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरू तुलसीदास।।[73]

रामचरितमानस में वेदान्तशास्त्र की तरह ही दार्शनिक विचारों की समीकरणात्मक अभिव्यक्ति की अभिलाषा बालकाण्ड में तीर्थराज प्रयाग के वर्णन प्रसंग में की गई है, जिससे स्पष्ट है कि मानस में गोस्वामी जी की कामना जीव, जगत, माया, ब्रह्म, मोक्ष आदि वेदान्त सिद्धान्तों के निरूपण करने की है –

ब्रह्म निरूपन धरम विधि बरनहिं तत्व विभाग।

कहहिं भगति भगवंत कै संयुत ग्यान विराग।।[74]

अतः तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में काव्यात्मकता के साथ वेदान्त के चिन्तन तत्त्वों को भी संग्रथित किया है। इस संचयन, चिन्तन और

आध्यात्मिक मनन का यही उद्देश्य है कि मानव तत्वदर्शन की बातों को सरलता से समझ सके और सब दर्शनों की मौलिक एकता का अनुभव करता हुआ, जीवन के सत्य को पा सके। जेकोव के इस वाक्य पर ध्यान रखकर ''सभी तत्व चिन्तन एकता के लिए प्रयत्नशील हैं, अनेकता में एकता, उलझन में सरलता यही उनका लक्ष्य और कार्य है।[75]

रामचरितमानस में वेदान्त के ब्रह्मसूत्र ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' की ही भांति तुलसी ने भी 'अथातो राम जिज्ञासा'' द्वारा मानस में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करना चाहा है। मानस के कई पात्रों की उक्तियों से यह स्पष्ट है।

जीवन्मुक्त शिरोमणि सत्यनिष्ठ जिज्ञासुओं को ब्रह्म तत्व के उपदेशक विदेहराज जनक राम को ब्रह्म के रूप में देखते हैं और उनकी ब्रह्म विषयक जिज्ञासा प्रश्न कर बैठती है –

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।

उभय वेष धरि की सोइ आवा।।[76]

पराम्बा सती ने आशुतोष शिव से ब्रह्म राम विषयक प्रश्न द्वारा रामचरित का शुभारम्भ किया –

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल अनीह अभेद।

सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद।।[77]

इसी प्रकार मानस के समस्त श्रोता पाठकों भरद्वाज गरूड़ पार्वती आदि ने मानस श्रवण के पूर्व ब्रह्म–तत्व को जानने की जिज्ञासा की।

1– <u>भरद्वाज</u> –

राम कवन प्रभु पूंछउँ तोंही। कहहु बुझाइ कृपानिधि मोंही[78]।।

2– <u>गरूड़</u> –

भव बंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।

खर्व निशाचर बांधेउ नाग पाश सोइ राम।।[79]

3– <u>पार्वती</u> –

राम सो अवध नृपति सुत सोई। को अज अगुन अलख गति कोई।।

जौं अनीह व्यापक विभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोंहि सोऊ[80]

मानस के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसीदास ने रामचरितमानस के माध्यम से वेदान्त वेद्य ब्रह्म के स्वरूप को सरल भाषा में लोक मंगल की कामना से प्रस्तुत किया है।

वेदान्त में सम्पूर्ण जगत के अभिन्न निमित्तोपादान कारण को ब्रह्म[81] कहा गया है। उपनिषदों, मन्त्रों, ब्रह्मणों एवं आरण्यकों में जहां कहीं जिसमें उक्त लक्षण घटता हो वह चाहे जिस नाम से व्यपदिष्ट हो उसे ब्रह्म समझना चाहिए। इसी लिए "आकाशस्तल्लि्गांत (ब्र0सू0 1/1/22) प्राणस्तथानुगमात् (ब्र0सं0 1/1/28) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् (1/1/28) इत्यादि ब्रह्म सूत्रों में आकाश, प्राण तथा आदित्य मण्डलस्थ पुरूष को ब्रह्म ही कहा गया है, क्योंकि श्रुतिप्रमाण से उनमें जगतकारणता सिद्ध है। वेदों और उपनिषदों के अनुसार सब वेदों का तात्पर्य सच्चिदानन्द पर ब्रह्म में ही है।[82] गीता भी यही कहती है।[83] वेदों के कतिपय स्थलों में इन्द्र, वरूण, अग्नि आदि शब्दों का परमेश्वर ही अर्थ है, परिच्छिन्न देवता नहीं। परन्तु विष्णु रूद्र आदि सूत्रों में शिव या विष्णु को जगत का कारण ब्रह्म कहा गया है। इस प्रकार भिन्न भिन्न नामों से एक वेद वेद्य परमात्मा का ही वर्णन है।नकिन्तु ईश्वर एक ही होता है। उसके नाम और स्वरूप भिन्न हो सकते है, परन्तु तत्व एक ही होता है। गोस्वामी तुलसीदास का भी यही मन्तव्य है –

यथा अनेकन वेश धरि नृत्य करै नट कोइ।

सोइ सोइ रूप देखावइ आपु न होइ न सोइ।।

वेद के ही शिव का स्कन्द आदि पुराणों में सर्वातिशायी महत्व वर्णित है। वेद के ही विष्णु का विष्णुपुराण और पद्मपुराण में लोकोत्तर माहात्म्य प्रतिपादित है। विष्णुपुराण के अनुसार विष्णु ही राम है। वही कृष्ण है। बाल्मीकि रामायण में अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक ईश्वर विष्णु का राम के रूप में वर्णन है और राम को ही कृष्ण भी कहा गया है – "कृष्णश्चैव वृहद्बलः"। श्रीभागवत, ब्रह्मवैवर्त आदि में परमविष्णु का कृष्ण के रूप में वर्णन है।

भिन्न भिन्न नामों से एक वेदवेद्य परमात्मा का ही वर्णन है –

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।

आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते।।

वेद वेदान्त वेद्य ब्रह्म ही वेदों का ब्रह्म है। वही रामायण का राम है। वही भागवत का कृष्ण है। वही विष्णु पुराण का विष्णु एवं शिवपुराण का शिव है। वही शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि आगमों का शक्ति, सूर्य और महागणपति भी है। राम, विष्णु और कृष्ण एक ही वस्तु के भिन्न – भिन्न नाम मात्र है। एक एक ब्रह्माण्ड के भी उत्पादक, पालक तथा संहारक भी ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र होते हैं और अनन्तानन्त ब्रह्माण्डों के उत्पादक, पालक तथा संहारक भी ब्रह्मा विष्णु और रूद्र कहे जाते है। परन्तु एक एक ब्रह्माण्ड के उत्पादक पालक और संहारक कार्य ब्रह्म होते है। अनन्तानन्त ब्रह्माण्डों के उत्पादक, पालक, तथा संहारक को कारण ब्रह्म कहते है। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रत्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म (तै0उ0 3/1)

इस प्रकार रामायण के राम भागवत् के कृष्ण विष्णुपुराण के विष्णु एवं शिवपुराण के शिव कारण ब्रह्म हैं। जो शम्भु, विरन्चि और विष्णु राम के अंश से

उद्भूत होते हैं वे कार्यब्रह्म हैं, कारण ब्रह्म नहीं। तुलसीदास का भी यही अभिमत है– संभु विरन्चि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंश ते नाना।

ऐसेउ प्रभु सेवक वश अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई।।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में वेद उपनिषद, वेदान्त बाल्मीकि रामायण, अध्यात्मरामायण, पुराणों, आगमों तन्त्रों संहिताओं तथा धर्मशास्त्रों आदि के अनुसार उत्कृष्ट कोटि के विचारों से परिपूर्ण श्रीराम के चरित्र को उपस्थापित किया है और वही निर्भीकता के साथ शास्त्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत है। वेद वेदान्तादि शास्त्रों का ही सारसर्वस्व रामचरितमानस है और वेदादि शास्त्रों के महातात्पर्य का विषय परब्रह्म रामचरितमानस के राम है। उनका परम पवित्र चरित्र ही रामचरितमानस का वर्णनीय विषय है।

श्रीरामानुजीय वैष्णवों के श्री नारायण उपास्य है। रामादि उन्हीं के अवतार विशेष हैं, किन्तु रामानन्दीय वैष्णवों के वेदान्त वेद्य परमब्रह्म सीतापति भगवान् राम है। वही श्रीराम अवतारी है तथा अन्य नारायण, नृसिंह, परशुराम वामन आदि अवतार है।

रामचरण चन्चरीक गोस्वामी तुलसीदास जी ने अनन्त नित्यानन्दस्वरूप चिन्मय ब्रह्म को भक्तों की अभीष्ट सिद्धि हेतु निराकार से साकार रूप में परमब्रह्म श्री राम को अवतरित कराया है क्योंकि योगी लोग सच्चिदानन्द ब्रह्म राम में ही रमण करते है।[84] निर्विकार[65] परमात्मा को अपने चरित नायक के रूप में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित करके वे विश्वबन्द्य हो गये।

गोस्वामी जी के राम "अंशी" नहीं स्वयं सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं जो निर्गुण एवं असीम से सगुण बन भक्त लोकहित में अवतरित होते है।

व्यापक ब्रह्म अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।

भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप।।

———0——

सन्दर्भ–सूची

प्रथम अध्याय

1– स ब्रह्म विद्यां सर्वविद्यांप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह मु0 1/1

2– अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।। मी0 10/33

3– प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रमः सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकीमता।। कौ0अर्थ0 1/2

4– श्रीमद्भागवत् 1/164/46 5– ऋग्वेद् 10/90/1–5

6– ऋगवेद् 10/129/1,2,2 7– ऋग्वेद् 4/40/5

8– सामवेद 6/3/17

9– ग्रिफिथ आर0टी0एच0 द हाईमनस। पेज– 266

10– सामवेदसंहिता 9/2/10 (ग्रिफिथ सम्पादित) तथा 6/34/10 (श्रीराम शर्मा सम्पादित)

11– यजुर्वेदसंहिता 32/1–4

12– यो भूतानामधिपतिर्यस्मिंल्लोका अधिश्रिताः यजुर्वेद 20/3

13– सायणभाष्य, अथर्ववेदसंहिता, 7/9/9/9

14– अथर्ववेदसंहिता 8/5/9/9 15– शतपथब्राह्मण, 11/2/3/1

16– S.B.F. Vol. XLIII, PP. 59, 60, 400 Vol. XLIV, P. 409

17– ऐतरेय ब्राह्मण (प्रथम भाग), पृष्ठ 28, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज।

18– ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् यतो धावापृथिवी निष्टतक्षुः। तै0ब्रा0 2/8/9/6

19– ब्रह्मवादिनो वदन्ति तावानात्मा। ऐ0आ0 1/3/10/6

20– यावती वै द्यावापृथिवी तावानात्मा ऐ0आ0 1/3/2

21– तदेवाग्निस्तद् वायुस्तत् सूर्यस्तच्चन्द्रमाः तदेव शुक्रं तदब्रह्मतत्आपस्तत् प्रजापतिः। तै0आ0 10/1/2

22– शाङ्खायनारण्यक, अध्याय–13

23– Ranade : Constructive Survey of Upanisadic Philosophy.

24– वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरिक सूत्रादीनिच। वेदान्तसार–3

25– वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः (मु0उप0 3/2/5) वेदान्ते परमं गुह्यम् (श्वेता0 6/22) यो वेदादौस्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः (महानारायण उप0 10/8)

26– अपरोक्षानुभूतिः44, अद्वैत आश्रम मायावती अल्मोड़ा।

27– Three great Acharyas P. 151

28– सर्वदर्शनसंग्रह : पृ0 108

29– सकलाचार्यमतसंग्रह पृ0 17

30– Radhe Krishnan : Indian Philosophy Vol. II, P. 753

31– शुद्धाद्वैतमार्तण्डः 28

32– शुद्धाद्वैतमार्तण्डः 27

33– इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स भाग 12 पृ0 470

34– दे0 रामायन आव तुलसीदास की भूमिका।

35– सन्दर्भसर्वस्व पृ0 145

36– रामदासगौड़ "मानस की भूमिका" 5वां खण्ड पृ0 1, 109

37– कल्याण मानसांक पृ0 10,60

38– Title, The Ramayan of Tulsidas

39- Title The Ramayan of Tulsidas 40- Ibid, P.20

41- The Ramayan of Tulsidas, P.20

42- J.R.A.S. (1903) P. 451 43- Ibid

44- The Ency of Rel. & Ethics P. 471

45- A Sketch of Hindi Lit., P. 59

46- A History of Hindi Lit. P. 49

47- The Ramayan of Tulsidas Title

48- The Holy Lake of the Acts of Rama, P.20

49- The Ramayan of Tulsidas P. 78

50– रा0मा0 7/116/1 51– रा0मा0 1/15

52– मा0, बालकाण्ड, 115–1 53– मा0बा0 114, 1–8

54– मा0बा0 14, 90,11 55– मा0 प्रारम्भिक सातवां श्लोक

56– तुलसीदास और उनका काव्य द्वारा पं0 रामनरेश त्रिपाठी पृ0 142

57– मानस में रामकथा पृ0 80–81

58– The Enc. of Rel. & Ethics P. 472

59- An outline of Religious Lit. of India, P. 329

60- The Holy Lake of The Acts of Rama, P. 16

61- The Ramayan of Tulsidas, P.8 62- Kavitavali, P.36

63– संस्कृति के चार अध्याय – दिनकर, पृ0 342

64— तुलसीदर्शन मीमांसा — डा0 उदयभानु सिंह, पृ0 51

65— मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास—डा0रामरतन भटनागर पृ031

66— मध्य0 बै0 सं0 और तुलसीदास — पृ0 50

67— 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् समूढमस्य पांसुरे ऋग्वेद, 1/22/17

68— 'अग्निर्वैदेवानामव मो विष्णुः परमः तदन्तरेण सर्वा 'अन्या देवता'

ऐ0ब्रा0 1/1

69— भागवत् सम्प्रदाय, पृ0 82

70— (क) सृष्टिस्थित्यन्त कालेषु त्रिधैव संप्रवर्तते

गुण—प्रवृत्यां परमं पदं तस्याःगुणं महत्।। (विष्णु पु0 1/22/41)

(ख) तत्र सर्वमिदं प्रोतमोतं चैवाखिलं जगत्।।

हरिरेव जगत् जगदेव हरिः, हरितो जगतो नहि भिन्न तनुः।।

विष्णु पु0 1/22/64

71— ऋग्यजुः समाथवर्ख्यिा वेदाश्चत्वार उद्धृताः

इतिहास पुराणं च पंचमो वेद उच्यते।।

72— इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्।

विभेत्यल्पश्रुताद्वदो मामयं प्रतिरिष्यति।। वार्हस्पत्य स्मृतिः

73— दोहावली दोहा सं0 251 पृ0 86

74— मा0बा0 दोहा सं0 44, पृ0 76

75— A manual of Hindi Pantheism - Major G.A. Jacob Page 2

76— मानस 1, 215

77— मानस, 1, 50

78— मा0 1/45/6

79— मा0 7/58

80— मा0 1/107—108

81— जन्माद्यस्य यतः (ब्र0सू0 1/1/12) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुरोधात् (ब्र0सू0 1/4/23)

82— सर्ववेदाः यत्यदमामनन्ति (कठ0 340, 2/15)

83— वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः (गी0 15/15)

84— रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्ते चिदात्मनि।
इति राम पदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते।। (रा0मु0ना0 1/6)

85— रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमव्ययम्।
सर्वोपाधिमिनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम्।।(अध्या0 रा0 1/32)

———0———

द्वितीय अध्याय

(क) वेदान्तसम्प्रदाय में ब्रह्मस्वरूप की मीमांसा।

(ख) रामचरितमानस में राम–जानकी का स्वरूप।

(ग) रामचरितमानस में निर्गुण–निर्विशेषब्रह्म की अवधारणा।

(घ) निर्गुण ब्रह्म की सगुणता के कारण की समीक्षा।

(ङ) भगवान् के दिव्यगुणों के स्वरूप का वर्णन।

ब्रह्म स्वरूप मीमांसा

श्रीमद्भागवत् में अखण्डानन्द परमब्रहम के तीन रूपों का वर्णन मिलता है –

वदन्तितत्वविद्स्तत्व यज ानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।

अर्थात् तत्व जानने वाले ानीजन इसी ान को तत्व कहते हैं और यही अद्वैत ान है। उस अद्वैत ान को ब्रह्म परमात्मा और भगवान् आदि नामों से जाना जाता है। इसी कथन को व्याख्यानात्मक रूप में लघुभागवतामृत में कहा गया है–

भगवान परमात्मेति प्रोच्यते ऽष्टांग योगिभिः।

ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठै र्निं च ानयोगिभिः।।

उस एक तत्व को अष्टांगयोगी परमात्मा, औपनिषदिक ब्रह्म तथा ानी ान कहते हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों के अनुसार ब्रह्म, परमात्मा और भगवान ये परमतत्व के तीन रूप सिद्ध होते हैं। ानाश्रयी भगवान के केवल चिन्मय रूप का साक्षात्कार करते है। उनकी दृष्टि से ब्रह्म केवल ानस्वरूप होता है। इस मत में ज्ञान निराकार होता है और ज्ञाता ज्ञेय से रहित होता है। द्वितीय मत में परमात्मा शक्ति तथा शक्तिमान भेदयुक्त है। यह स्वरूप योगियों का आराध्य है।

तीसरे मत में भगवान् परिपूर्ण तथा सर्वशक्ति विशिष्ट है। भक्त ही भगवान की सर्वशक्तियों के रस का अनुभव करता है।

वेदान्त की दृष्टि से ब्रह्म तत्त्व के सर्वाधिक महान होने के कारण इसे ब्रह्म शब्द से अभिहित किया गया है।[1] वेदान्त का ब्रह्म परमार्थ सत्य स्वरूप है।[2] परमार्थ सत्य से उस सत्य का तात्पर्य है जो भूत्, भविष्यत् तथा वर्तमान इन तीनों कालों में अबाधित रूप से वर्तमान रहता है।[3] ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्दस्वरूप है।[4] वेदान्त का ब्रह्म अनुभूतिस्वरूप एवं भावात्मक सत्य है। मुक्ति को ब्रह्म का पर्याय ही समझना चाहिए। ब्रह्म जीव का स्वभाव है। जब जीव अपने स्वभाव ब्रह्म का बोध कर लेता है, तो उसे मुक्त की संज्ञा दी जाती है। जब जीव को अपने स्वरूप ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है तो वह निर्विकार एवं शुद्ध तथा शान्त भाव को प्राप्त होता है। ब्रह्म को वेदान्त में कूटस्थ नित्य[5] दिक् काल आदि के भेद से अतीत् एवं सर्वव्यापी सिद्ध किया है।[6] सदानन्द ने ब्रह्मतत्व को सच्चिदानन्द, अद्वय एवं वस्तुस्वरूप कहा है।[7]

समस्त जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही माया शक्ति के कारण प्रपंचरूप जगत् का कारण है।[8]

वेदान्त में ब्रह्म के दो रूप बताये गये हैं– पर तथा अपर। अविद्याकृत नाम रूप आदि के भेद से रहित सूक्ष्म तत्त्व को पर ब्रह्म कहते है। नाम रूप आदि विशेषताओं से विशिष्ट को अपर ब्रह्म कहते है।[9] यही क्रमशः निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म का स्वरूप है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते है कि माया विशिष्ट ब्रह्म सगुण एवं माया विरहित ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म है। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की

प्रतिष्ठा के कारण वेदान्त में सगुण ब्रह्म की उपासना की शास्त्रीय संगति हो जाती है। इस प्रकार वेदान्त में ब्रह्म का निर्गुण तथा सगुण दोनों स्वरूप मान्य किया गया है। अतः अद्वैत वेदान्त एवं वैष्णव वेदान्तों के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण क्रमशः सम्यक् विवेचनीय है।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म –

आचार्य शंकर ने ब्रह्म के वास्तव स्वरूप का निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है – स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण। स्वरूप लक्षण पदार्थ के सत्य तात्त्विक रूप का परिचय देता है, परन्तु 'तटस्थ लक्षण' कुछ देर तक होने वाले आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है।

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। आगन्तुक गुणों के समावेश करने के कारण यह उसका 'तटस्थ' लक्षण है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[10] तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म[11] ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादक लक्षण है। वह सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान) और आनन्द रूप (सच्चिदानन्द) है। यही ब्रह्म का 'स्वरूप लक्षण' है; परन्तु यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है, जो इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है। ब्रह्म के दो रूप होते हैं – सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म। दोनों एक ही है, परन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता से दो रूपों में गृहीत किये जाते हैं। जिस प्रकार संसार के पदार्थ असत्य और काल्पनिक है, उसी प्रकार जीव भी अविद्या के ऊपर आश्रित सगुण ब्रह्म रहता है। 'ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है, इस ज्ञान के अभाव में ही जीव की सत्ता है। जीव ईश्वर की कल्पना उपासना के लिए करता है।

ईश्वर जगत् का स्वामी तथा नियन्ता है। इसीलिए जीव उसकी उपासना करता है और उसे दया, दाक्षिण्य, अगाध करूणा आदि गुणों से मण्डित मानता है। यही है ब्रह्म या ईश्वर। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की कल्पना उपासना के निमित्त व्यावहारिक दृष्टि से ही की गई है।

परमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है। उसके ऊपर जीव का या जगत् का कोई भी गुण आरोपित नहीं किया जा सकता। शंकर के मत में यह ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत – इन तीनों भेदों से निर्गुण ब्रह्म रहित होता है, परन्तु रामानुज के मत में ब्रह्म में स्वगत भेद रहता है। ब्रह्म में दो अंश होते है– चित् अंश तथा अचित् अंश और ये आपस में विरूद्ध होते है। इस प्रकार ब्रह्म में एक अंश दूसरे अंश से भिन्न होता है और स्वगत भेद की सिद्धि करता है। शंकर के मत में ब्रह्म के दो रूप होते हैं– विश्व तथा विश्वातीत रूप में वह अनिर्वचनीय है; क्योंकि उसमें किसी गुण की सत्ता नहीं मानी जा सकती। इसलिए वह निर्गुण है।

उपनिषत् ब्रह्म को ''नेति नेति'' शब्दों के द्वारा अभिहित करते हैं। इसका तात्पर्य क्या है? प्रत्येक विधेय उद्देश्य के क्षेत्र को सीमित करता है– वह उसका स्वभाव होता है। ब्रह्म के विषय में हम किसी विधेय का प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करने से वह सीमित तथा परिमित बन जाएगा, वह ठहरा वस्तुतः अपरिमित सत्ता। इस प्रकार उसमें कोई गुण नहीं रहता। न यह गुण वहां है, और न वह गुण। इस प्रकार सब गुणों के निषेध करने से जो तत्व बच जाता है वही है ब्रह्म। इस प्रकार जिस ब्रह्म के विषय में श्रुति ''नेति नेति'' शब्दों

का व्यवहार करती है वह ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म ही है। यही ब्रह्म का पारमार्थिक रूप है।

सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है। वह एक ही सत्ता है परन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण वह इन दोनों से पुकारा जाता है। वह संसार की सृष्टि, स्थिति तथा लय करता है। अतः संसार की अपेक्षा वह ईश्वर है परन्तु निरपेक्ष भाव से देखने पर वही ब्रह्म है। अतः सगुण ईश्वर तथा निर्गुण ब्रह्म में भेद मानना नितान्त भ्रामक है। निर्गुण ब्रह्म ही वास्तविक परमार्थिक सत्ता है, परन्तु व्यवहार के लिए, उपासना के निमित्त वही सगुण ईश्वर माना जाता है। तत्व एक ही है, दृष्टि भिन्न – भिन्न है और इसीलिए उसके दो रूप है। ज्ञान के मन्दिर में चढ़ने के लिए सीढ़ियां है, जिनके द्वारा ही साधक उसमें पहुंच सकता है। निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति अन्तिम लक्ष्य है, परन्तु उसे अभ्रान्त ज्ञानी ही पा सकता है। उसके सोपान रूप है उपासना और इसके लिए "ईश्वर" की महती आवश्यकता है। ईश्वर की उपासना से – सगुण ब्रह्म के भजन–पूजन से चित्त की शुद्धि होती है और तभी साधक विशुद्ध ज्ञान मार्ग का अवलम्बन कर निर्गुण ब्रह्म को पा सकता है अन्यथा नहीं। यही उपासना का उपयोग है।[12]

<u>विशिष्टाद्वैत का ब्रह्म</u> –

श्री रामानुजाचार्य शंकराचार्य की तरह ब्रह्म और ईश्वर इन दो भेदों की पृथक् कल्पना नहीं करते। रामानुज का ब्रह्म शंकराचार्य का केवलाद्वैत न होकर चित् एवं अचिद् से विशिष्ट है। विशिष्टाद्वैतवादी का यह सगुण ब्रह्म

समस्त द्वैत प्रपंच का कारण है।[13] ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान एवं आनन्दघन है। शांकर दर्शन के अनुसार ब्रह्म ज्ञान स्वरूप ही है, परन्तु रामानुज के मतानुसार ज्ञान ब्रह्म का प्रमुख विशेषण है। सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी होते हुए भी ब्रह्म का पापों से स्वाभाविक विरोध है। इसीलिए श्रुति में ब्रह्म को उभय लक्षण कहा गया है। कहीं वह विशिष्ट और कहीं निर्विशिष्ट है। ब्रह्म निखिल दोषों से निर्विशिष्ट एवं कल्याण गुणाकर से विशिष्ट है।

रामानुज का ब्रह्म अपहतपाप्मा, विजर विमृत्यु, विशोक, अविजिघत्स, तृष्णारहित सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प है।[14]

आचार्य रामानुज के मतानुसार चित् जीव और अचित् जगत् ब्रह्म के शरीर है। शरीर तथा आत्मा के सम्बन्ध के अनुरूप ही ब्रह्म और चिद्चित् के आश्रित रहता है और उसे कार्य में प्रवृत्त करता है।[15]

ब्रह्म अपने जीव शरीर के साथ प्रकृति में प्रवेश करता है, एवं नाम रूप प्रपंच का निर्माण करता है।[16]

इस प्रकार यही स्रष्टा है। प्रलय काल में जीव जगत् के सूक्ष्म रूप हो जाने पर सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट 'ब्रह्मकारणावस्थ' कहलाता है और सृष्टिकाल में स्थूल रूप धारण करने के कारण स्थूल चिदचिदविशिष्ट ब्रह्म कारणावस्थ कहलाता है और सृष्टि काल में स्थूल रूप धारण करने के कारण चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म कार्यावस्थ क लाता है। ब्रह्म निर्विशिष्ट किसी अवस्था में नहीं रहता। परन्तु हेय गुणों से शून्य होने के कारण ब्रह्म को निर्गुण कहा जाता है।

<u>विशिष्टाद्वैत के मत में ईश्वर</u> –

विशिष्टाद्वैतवादी के मतानुसार ईश्वर अर्न्तयामी होने के कारण समस्त सृष्टि का नियंता एवं शासक है। जिस प्रकार भौतिक शरीर का आत्मा जीव है, उसी प्रकार जीव का आत्मा ईश्वर है। ईश्वर भोक्ता जीव और भोग्य जगत् दोनों में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित है।[17] अन्तर्यामी ईश्वर सभी जीवों के साथ अन्तर्यामी रूप से रहता हुआ नियामक एवं शासक है। परन्तु ईश्वर 'अपहतपाप्मा' होने के कारण जीव की अनादि कर्म रूप अविद्या से लिप्त नहीं होता। अपरिच्छिन्न एवं निर्मल ज्ञान स्वरूप होते हुए भी चित् जीवात्मा के अविद्या से वेष्टित होने पर तत्तत् कर्मानुसार ज्ञान का संकोच–विकास एवं भोग्यभूत अचित् संसर्गजनितसुखदुःखोपभोग भगवतप्रपत्ति और भगवत् प्राप्ति आदि स्वभाव है।[18] नियंता ईश्वर जीवों के कर्मफल का दाता एवं लोक रक्षक है। अवतारवाद का सिद्धान्त भी लोकरक्षक ईश्वर की कृपापूर्ण दृष्टि का एक् ज्वलन्त उदाहरण है। ईश्वर जगत् की रक्षा के लिए ही पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चारूपों को ग्रहण करता है।[19]

प्रथम पर ज्ञानश्रुत्यादि अनन्त कल्याण गुणों से विशिष्ट नारायण का स्वरूप है। इसी को परब्रह्म एवं वासुदेवादि शब्दों के द्वारा वर्णित किया गया है। अपने व्यूह रूप के द्वारा ईश्वर जगत् की सृष्टयादि के लिये वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरूद्ध इन चार रूपों को धारण करके स्थिर रहता है। वासुदेव षड्गुणयुक्त, संकर्षण ज्ञान और बलयुक्त, प्रद्युम्न ऐश्वर्य और वीर्ययुक्त एवं अनिरूद्ध शक्ति और तेज गुणों से युक्त है। विभव रूप ईश्वर का अवतार रूप

है। लोकरक्षक ईश्वर धर्म की हानि एवं अधर्म की वृद्धि होने पर सदा अवतार लेता है।[20] भगवान के मत्स्यादि अवतार लोक रक्षा के लिये ग्रहण किये गये अवतार हैं। अपने अन्तर्यामी रूप के द्वारा ईश्वर स्वर्ग – नरकादि की अनुभव दशा में भी सुहृत रूप से जीवात्मा के हृदय में स्थित रहता है। परन्तु वह जीव के दोषों से अस्पृष्ट ही रहता है। अर्चारूप के द्वारा ईश्वर सदा के लिये अवतार धारण करता है। लोक रक्षक परम कारूणिक ईश्वर लोक कल्याण हेतु गृह ग्राम नगर एवं पर्वतादि प्रदेशों में मूर्ति विशेष ग्रहण करके स्थिर रहता है। ईश्वर का यह स्वरूप देश काल की बाधा से रहित है। वह अप्राकृत शरीर विशिष्ट ईश्वर स्नान, भोजन आसन और शयनादि के सम्बन्ध में अर्चक के अधीन होने के कारण सर्वसहिष्णु एवं परिपूर्ण है।

मीमांसा की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो ईश्वर 'शेषी' है और जीव 'शेष' है। शेषं जीव ईश्वर का उपकारक है। जीव की प्रत्येक क्रिया अन्तर्यामी ईश्वर के निर्देशानुसार ही होती है। इस प्रकार दोनों में सेवक और स्वामी का सम्बन्ध है।[21]

जिस समय जीव अपने और ईश्वर के मध्य स्थित सम्बन्ध को जान लेता है, उस समय वह कर्मो में भगवदर्पण बुद्धि से प्रवृत्त होता है। उस समय जीव अपनी अहंता को भगवदर्पित कर देता है।

<u>द्वैतवाद में परमात्मा (ब्रह्म) का स्वरूप</u> –

श्री मध्वाचार्य के मत में परमात्मा साक्षात् विष्णु हैं। परमात्मा अनन्तगुण

परिपूर्ण है। अर्थात् भगवान के गुण अनन्त है तथा उनमें प्रत्येक गुण निरवधिक और निरतिशय है। उनमें सजातीय उपभयविध आनन्त्य है। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान आवरण, बन्ध और मोक्ष – इन आठों के कर्ता भगवान ही है। वे सर्वज्ञ है तथा परम मुख्या वृत्ति से समस्त पद–वाच्य है। वे जीव जड़ और प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण है। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही भगवान के शरीर हैं। अतः शरीरी होने पर भी नित्य तथा सर्वस्वतन्त्र हैं। वे एक होकर भी नाना रूप धारण करते हैं। इनके समस्त रूप स्वयं परिपूर्ण हैं, अर्थात उनके मत्स्यादि अवतार स्वयं परिपूर्ण है। मत्स्य, कूर्मादि स्वरूपों से कर–चरणादि अवयवों से, ज्ञानानन्दादि गुणों से भगवान अत्यन्त अभिन्न हैं। अतएव भगवान तथा भगवान् के अवतारों में भेद–दृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।[22]

<u>द्वेताद्वैत की दृष्टि से ब्रह्म का स्वरूप</u> –

निम्बार्क के मत में ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप से की गई है। वह समस्त प्राकृत दोषों (अविद्यास्मितादि) से रहित और अशेष ज्ञान, बल आदि कल्याण गुणों का निधान है। इस जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर है या श्रुतिगोचर है, नारायण उसके भीतर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता है। नियम्य तथा परतन्त्र सत्वाश्रय चिदचिद्रूप विश्व ईश्वर के उपर अवलम्बित होने वाला है। परब्रह्म नारायण, भगवान कृष्ण, पुरूषोत्तम आदि परमात्मा की ही संज्ञाये हैं। ईश्वर समस्त प्राकृत (प्रकृतिजन्य) दोषों से रहित हैं तथा अशेष कल्याण गुणों का निधान हैं। प्राकृत दोषों से अभिप्राय – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेष से है, जो योगशास्त्र में क्लेशों के नाम से पुकारे जाते है। ज्ञान,

शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, सौशील्य, वात्सल्य, करूणा आदि गुण भगवान में सदा निवास करते है। कल्याण गुणों की भी इयत्ता नहीं हैं, वे अनन्त हैं, जिनमें जगत् के उदय का कारण होना तथा मोक्ष देना प्रधान है। ईश्वर जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। वह कर्म के अनुसार प्राणियों को फल का वितरण करता है। विश्व का आधारभूत परमात्मा सर्वव्यापी, सर्वनियन्ता, निरतिशय सूक्ष्म, निरतिशय महान, इश्वरों का ईश्वर तथा सबका अतिक्रमण करने वाला है। उसके शक्ति और सामर्थ्य की अवधि नहीं है। वह अनन्त शक्तियों से सम्पन्न है, तथा अपनी इच्छा के विलास से जगत की सृष्टि आदि व्यापार करता है।[23]

<u>शुद्धाद्वैत के मत में ब्रह्म का स्वरूप</u> –

इस मत में ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्ट अंगीकृत किया गया है। अतः उसमें विरूद्ध धर्मो की स्थिति भी नित्य है। अद्वैतवादियों के मतानुसार निधर्मक, निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म माया के सम्पर्क से सगुण के समान प्रतीत होता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अहिकुण्डल के लौकिक दृष्टान्त से ब्रह्म में उभयरूपता का होना श्रुतिसिद्ध है। यह विरूद्ध धर्मो की सत्ता माया से प्रतिभासित ही नहीं होती है, प्रत्युत स्वाभाविक भी है। भगवान की महिमा अनवग्राह्य है, अतः जो अणोरणीयान् है वे ही महतो महीयान है। वे अनेक रूप होकर भी एक है, स्वतन्त्र होने पर भी भक्त पराधीन है। यह संसार लीला निकेतन ब्रह्म की ललित लीलाओं का विकास मात्र है। यह जगत्कर्तृत्व वास्तव है, माया कल्पित नहीं। अखिल रसामृतमूर्ति निखिल लीलाधाम श्रीकृष्ण ही यह

परब्रह्म है।

आचार्य वल्लभ के मत में ब्रह्म तीन प्रकार का होता है– 1–आधिदैविक = परब्रह्म 2– आध्यात्मिक = अक्षरब्रह्म, 3– आधिभौतिक = जगत्। अतः जगत् ब्रह्मरूप ही है। कार्यकारण में भेद न होने से कार्यरूप जगत् कारण रूप ब्रह्म ही है। जिस प्रकार लपेटा गया कपड़ा फैलाने पर वही रहता है, उसी प्रकार आविर्भावदशा में जगत तथा तिरोभाव रूप में ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं। जगत् का आविर्भाव कार्य केवल लीलामात्र है।

वल्लभाचार्य के मत में ब्रह्म में ही स्वभाव से जगत् के कर्ता है। उनके कर्ता होने में माया का व्यापार तनिक भी नहीं होता। वे स्वयं लीलाधाम ठहरे और इसलिए जगत् की सृष्टि में ब्रह्म की लीला ही एकमात्र कारण होती है। जब उनकी इच्छा होती है वे जगत् का संहार या लय कर देते है। अन्ततः प्रलय भी भगवान् की लीला का ही एक रूप है। अतः भगवान् स्वाभाविक रीति से सृष्टि और प्रलय दोनों करते है। ` दोनों उनकी लीला के विलासमात्र हैं। जिस प्रकार कोई योगी अपनी विचित्र शक्तियों के सहारे वस्तुओं की सृष्टि कर उनसे खेलता है और अन्त में उनका संहार कर देता है, भगवान की भी यही दशा होती है। भगवान् की महिमा अतर्क्य है। कोई भी उनकी महिमा के यथार्थ रूप को जान नहीं सकता। भगवान अपनी अचिन्त्य माया से जगत् की सृष्टि कर उससे क्रीड़ा करते हैं और अन्त में सब सृष्टि को अपने में तिरोहित कर देते हैं। इस प्रकार जगत् का आविर्भाव तथा तिरोभाव भगवान की लीला के कारण होता है अन्यथा उस पूर्णकाम के लिए ऐसी कोई कामना ही शेष नहीं है जिसके लिए वह जगत्

की सृष्टि करता। यह जगत् ब्रह्म रूप है और ब्रह्म के समान ही नित्य है। अद्वैतियों के समान यह जगत् मायिक तथा असत्य नहीं है।

वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों पर श्रीमद्‌भागवत् तथा भगवद्‌गीता का विशेष प्रभाव पड़ा है। ब्रह्म के तीनों रूपों की कल्पना गीता के अष्टम तथा पंचदश अध्याय के वर्णन के अनुसार है। ब्रह्म के 'आथिभौतिक' रूप का ही दूसरा नाम है – क्षर पुरूष अर्थात् भौतिक तत्व (प्रकृति)। यह भी ब्रह्म के रूप होने से उसी के समान वास्तव तथा नित्य है। ब्रह्म में जब थोड़ी मात्रा में आनन्द अंश तिरोहित हो जाता है, तब उसे 'अक्षर–ब्रह्म' कहते हैं और जब आनन्द का अंश पूर्ण मात्रा में विद्यमान रहता है, तब वह परब्रह्म या पुरूषोत्तम कहलाता है। यह 'ब्रह्म का आधिदैविक रूप' होता है। ब्रह्म के इन दोनों रूपों की प्राप्ति का साधन भिन्न ही होता है। ज्ञानी जन अपने विशुद्ध ज्ञान के द्वारा अक्षर–ब्रह्म की प्राप्ति करते है परन्तु पुरूषोत्तम की प्राप्ति अनन्या भक्ति के ही द्वारा हो सकती है। गीता में कहा गया है कि परब्रह्म अनन्या भक्ति के द्वारा ही प्राप्त होता है।[24] पुरूषोत्तम ब्रह्म ही परब्रह्म के नाम से पुकारे जाते हैं और ये ही निरतिशय सर्वज्ञ ब्रह्म हैं।

<u>वेदान्त का ब्रह्म और तुलसी के राम</u> –

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को जन्मरहित, निद्रारहित, नाम रूप से रहित, नित्य सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य, सर्वज्ञ, सच्चिदानन्दस्वरूप, प्रकाश स्वरूप, सत्य–ज्ञान तथा अनन्त कहा गया है। माण्डूक्योपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है –

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम्।

सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ।।[25]

मानस में ब्रह्मतत्त्व के उपदेशक विदेहराज जनक अपने निर्मल अन्तःकरण की प्रेरणा द्वारा राम को साक्षात् वेषधारी ब्रह्म के रूप में देखते है और तभी उनकी परमातुर जिज्ञासा आत्मविभोर होकर प्रश्न कर बैठती है–

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभयवेष धरि को सोइ आवा।[26]

जगज्जनिनी गिरिराजनन्दिनी ने भगवान् भूतभावन शंकर से ब्रह्म राम के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए वेदान्त की "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा"[27] की तरह मानस का बीज मन्त्र इस प्रकार वपन किया।

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।

सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद।।[28]

मानस के समस्त श्रोतागणों ने मानस श्रवण के पूर्व रामतत्त्व या रामस्वरूप को जानने की जिज्ञासा की है और समस्त मानस इस जिज्ञासा का समाधान रूप है। कुछ जिज्ञासु इस प्रकार हैं–

(क) भरद्वाज – राम कवन प्रभु पूंछहुं तोही। कहिय बुझाइ कृपा निधि मोहीं।।[29]

(ख) गरूड – भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।

खर्वनिसाचर बांधेउ नागपास सोइ राम।।[30]

(ग) पार्वती – राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई।

जौ अनीह व्यापक विभु कोऊ। कहहुबुझाइ नाथ मोंहि सोऊ।।[31]

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।[32]

भगवान् भूत भावन शंकर ने अवध वीथियों में विचरण कर ब्रह्म राम के स्वरूप का अनुभव किया और उन्हें कहना ही पड़ा –

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विभेद।

सो अज प्रेम भगति बस कौशल्या की गोद।।[33]

वह ब्रह्म राम ज्ञान स्वरूप, स्वयं प्रकाश, सर्वानुभवस्वरूप, सृष्टि, पालन, संहारादि प्रतीयमान व्यवहारों के प्रकाशक, अखंड अजन्मा एवं स्वतः प्रमाण हैं–

सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवध पति सोई।।

जगत प्रकास्य प्रकाशक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू।।

रामचरित मानस के आधार ग्रन्थ अध्यात्मरामायण[34] में भी अहिल्या सीता एवं हनुमान् जी से रामतत्त्व की व्याख्या करती है –

रामं विद्धि परंब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्।

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम्।।

आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरंजनम।

सर्वव्यापिनमात्मानं स्वप्रकाशमकल्मषम्।।

राम को अद्वैत परब्रह्म सच्चिदानन्द समझो जो कि सब उपाधियों से रहित सत्य

स्वरूप, आनन्दरूप, निर्मल, शान्त, विकाररहित, निरंजन, सर्वव्यापी, आत्मरूप, स्वयंप्रकाशरूप तथा निष्पाप हैं।

वेदान्त में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" कह कर इस जगत के यथार्थ स्वरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा की है। "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यार्थो से सबमें ब्रह्म चेतना को जागृत कर भेद दृष्टि का उन्मूलन किया और "रसो वै सः" की प्रतीति कराकर समस्त मानव चेतना को उस परमानन्द में निमग्न कराया। तब आत्मविभोर विज्ञ आत्मरमणेच्छा से यती ज्ञानी जन की आत्मा "आनन्दं ब्रह्म, विज्ञानंब्रह्म, मनोब्रह्म, प्राणोब्रह्म सर्वत्र यत, किंचिद् जगत्यां जगत् में ब्रह्म रसामृत का ही आस्वादन करती है।

भक्ति रसामृतसिन्धु में निमग्न तुलसीदास ने भी अपने राम को जगत के कण–कण में व्याप्त सर्वत्र अवलोकन कर ही अपनी आत्मा की प्रणति अर्पित की है –

सीयराममय सब जग जानी। करउ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

तथा – "विश्व रूप व्यापक रघुराई" कह कर सर्वव्यापक ब्रह्म का ही बोध कराया है।

राम उत्तरतापिनी उपनिषद् में भी यह कहा गया है कि जो सुविख्यात श्री रामचन्द्र जी हैं वे अद्वैत, परमानन्द आत्मा, सच्चिदानन्द, चिदात्मा तथा भूः भुवः स्वः रूप हैं।[35]

वेदान्त में प्रतिपादित ब्रह्म की ही स्वायं भू मनु ने अनाद्यन्त, अखण्ड,

निजानन्द, निरूपाधि, त्रिगुणातीत के रूप में उपासना की थी और तद्रूप पर ब्रह्म श्री राम को प्राप्त किया।

परम भक्त कागभुशुंडि जी ने भी अजन्मा, विज्ञानरूप, सुखधाम, अखण्ड, अनन्त, अमोघशक्तिमान, सुखसन्दोह, सबउरवासी, निरीह, विरज, अविनासी ब्रह्मतत्त्व को ही सच्चिदानन्दघन "राम" को ही वर्णित किया है।

अगुन अखण्ड अनंन्त अनादी। जेहि चिन्तहिं परमारथ वादी।।

नेति नेति जेहि वेद निरूपा। निजानन्द निरूपाधि अनूपा।।

संभु विरंचि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।।[36]

सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विज्ञान रूप सुखधामा।

व्यापक व्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ शक्ति भगवन्ता।।

निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संन्दोहा।।

प्रकृति पार प्रभु सब उरवासी। ब्रह्म निरीह निरज अविनासी।।

परमतत्व राम को इन्द्रियातीत, वर्णनातीत, ध्यानातीत कहा गया है। परम ब्रह्म राम का स्वरूप "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" की भांति मायातीत, अवाङ् मनोगोचर, अतर्क्य है –

राम अतर्क्य बुद्धि मन वानी।[37]

मनक्रम वचन अगोचर जोई। दशरथ अजिर विरज प्रभु सोई।।

मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।।

उपनिषदों तथा वेदान्त शास्त्र में परब्रह्म को "सच्चिदानन्द घन" नाम से भी अभिहित किया गया है। सत् चित् आनन्द तथा घन इस तरह न्यास करने पर उक्त सभी ब्रह्म के लक्षण तथा धर्म प्रतीत होते हैं। परन्तु वस्तुतः ऐसा न होकर ये नाम ब्रह्म के ही पृथक् रूप से वाचक शब्द भी हैं। परमात्मा ही शाश्वत, अचल, ध्रुव तथा नित्य सत्य है –

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"[38]

अतः वही सत् है। वही सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक, अज्ञेय, ज्ञानस्वरूप, साक्षी तथा चिद्स्वरूप है। वही असीम, परमसुखरूप, विक्षेपादि से रहित अचिन्त्य आनन्दरूप पूर्णानन्द भी है।[39] वही वेदान्तोपनिषद का परम तत्त्व मानस के श्री राम भी हैं, जो सत् चित् आनन्द स्वरूप हैं।

इस प्रकार ब्रह्म के सभी लक्षणों को गोस्वामी जी ने मानस के राम में विधिवत समन्वित किया है –

(क) चिदानन्द मय देह तुम्हारी।

(ख) राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानन्द परेस पुराना।।

(ग) सोइ सच्चिदानन्द घन रामा।

(घ) उमा अवधवासी नर नारि कृतारथ रूप।

ब्रह्म सच्चिदानन्द घन रघुनायक जँह भूप।।

(ङ) जेहि इमिगावहिं वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।

सोइ दशरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान।।

अतः वेदान्तोपनिषद में प्रतिपादित ब्रह्म तथा मानस के प्रतिपाद्य ब्रह्म राम अभिन्न हैं। भगवान् शंकर ने मानस में "जय सच्चिदानन्द जगपावन" कह कर ही राम का अभिवादन किया है। उपनिषद् के इस परमतत्त्व को ही योगियों ने पुरूषोत्तम "राम" के रूप में दर्शन किया।

मुनिधीर योगी सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं।

कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गांवहीं।।

सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय मायापति धनी।।

अवतरेहु अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलघनी।।[40]

इस प्रकार वेदान्तिक ब्रह्म तथा मानस के ब्रह्म राम के सर्वातीत स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया तथा दोनों में तादात्म्य तथा साम्य दृष्टिगत हुआ। अब आलोच्य विषय यह है कि "राम" का स्वरूप भी सर्वकारणात्मक वेदान्तोपनिषदिक ब्रह्म के समकक्ष है अथवा नहीं।

<u>परब्रह्म राम का सर्वकारणात्मकस्वरूप</u> –

ब्रह्म के सर्वकारणात्मक स्वरूप के द्वारा वह सर्वातीत अनुसन्धेय है तथा सर्वातीत हैं सर्वकारणात्मक का परमाश्रय। दोनों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध से ही जगत् के कार्य–कारण व्यवस्था की प्रतिष्ठा सम्पादित होती है। वही परम

तत्व एक अद्वितीय अनवच्छिन्न सत्तायुक्त सच्चिदानन्द स्वरूप देखा गया तथा उसी को अचिन्त्य शक्ति द्वारा अपने को अनन्त विचित्र रूपों में प्रगट भी देखा।[41] परन्तु साथ वह अनिर्लिप्त सर्वातीत[42] परमात्मा अपने सर्वकारणात्मक स्वरूप से सबमें अनुस्यूत तथा सर्वान्तर्यामी भी प्रतिभासित हुआ। वही विश्वातीत परमतत्त्व चराचर भूतमात्र का कर्ता, अनन्त जगत सत्ता का एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान[43] कारण भी परिलक्षित हुआ। विश्व अजिर में उसी की अनन्तसत्ता, अपार वैभव, अपरिमित ज्ञान, अनन्त शक्ति रश्मियों का प्रकाश झलका जिसका उन दिव्यद्रष्टा ऋषियों ने अपनी दिव्यचक्षुओं द्वारा दर्शन लाभ कर आत्माराम होकर आनन्द सिन्धु में निमग्न हो परम साम्य को प्राप्त किया।[44] वह परमतत्व अपनी अनन्त शक्तियों द्वारा एकत्व के साथ–साथ अनेकत्व में प्रगट होता है।[45] इस नाम रूपात्मक जगत की रचना से पूर्व केवल वही सत रूप था।[37] जिसकी अनेक प्रकार से उत्पन्न होने की इच्छा का परिणाम यह दृश्यमान जगत है। परन्तु यह उसकी अचिन्त्य शक्ति का दिग्दर्शन है कि वह एक होता हुआ भी अनेक रूपों में परिलक्षित होता है। वही परम तत्व जीव तथा माया शक्ति का संचालन करता है, सभी तत्त्वों का प्रेरक समस्त कारण वर्ग में अनुस्यूत परम कारण रूप से सर्वत्र अनुवृत है। उसी की माया से निर्मित यह जगत् है। जो असत् होने पर भी सत् के समान प्रतीत होता है। यह सब विश्व सृजित करते हुए भी विश्वातीत् स्वरूप में स्थित रहता है। वह सभी में व्याप्त होते हुए भी निर्लेप रहते हैं। यही उसका अलौकिक ऐश्वर्य है।[47] वे इन्द्रियों से कार्य न करते हुए भी कर्ता हैं, भोगते हुए भी अभोक्ता हैं। उस चैतन्यघन पूर्ण परमात्मा में परस्पर विरोधी भावों का

समावेश है। यह स्वरूप उपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है। –

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः।।[38]

वे चलते हैं और नहीं चलते। वे दूर भी हैं और सबके भीतर भी हैं तथा सबके बाहर भी हैं।

अध्यात्मरामायण के ''राम'' का स्वरूप भी जगतकारणात्मक है। अहल्या राम को जगत् का उपादान कारण बताती है।

जगतामादिभूतस्त्वं जगत्वं जगदाश्रयः।

सर्वभूतेष्वसंयुक्त एको भाति भवान् परः।।[49]

विश्वस्य सृष्टिलयसंस्थितिहेतुरेकरत्त्वम्।[50]

राम का जगत्कारणात्मक व्यक्तित्व भी प्रारम्भिक वन्दना[51] में ही गोस्वामी जी ने प्रतिष्ठित कर दिया है। स्वयं भी ''अखिल विश्व यह मोर उपाया'' कह कर अपना कारणत्व सिद्ध कर देते हैं। वही रूप यहां पर श्री राम की आदि शक्ति स्वरूपा, अभिन्न स्वरूपा जगन्निर्माण – कर्त्री, जगज्जननी श्री जानकी जी का है :–

1– श्रुतिसेतु पालक राम तुम जगदीस माया जानकी।

जो सृजति जंग पालति हरति रूख पाइ कृपा निधान की।।[52]

2– आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिय मोरि यह माया।।[53]

3– उद्‌भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्''[54]

मानस में ब्रह्म राम का जगत प्रकाशकत्व, मायापतित्व एवं जड़ शक्ति माया का स्पष्ट दिग्दर्शन है :–

जगत प्रकास्य प्रकाशक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू।।

जासुसत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।[55]

सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।[56]

ब्रह्म राम की पराशक्ति या चिच्छक्ति सीता हैं, जिसका प्रमाण वे स्वयं आकाशवाणी एवं भविष्यवाणी के रूप में देते हैं।

''परमसक्ति समेत अवतरिहउं''

स्वायं भुव मनु की तपस्या से द्रवीभूत परात्पर ब्रह्म स्वचिन्मय शक्ति के साथ ही अवतरित होते हैं।

वाम भाग सोभति अनुकूला। आदि सक्ति सब विधि जगमूला।।

भृकुटि विलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई।।[57]

अध्यात्मरामायण में भी उपर्युक्त तथ्यों को प्रदर्शित किया गया है –

(क) आत्मना सृजसीदं त्वमात्मन्येवात्ममायया।

न सज्जसे नमोवत्वं चिच्छक्त्या सर्वसाक्षिकः।।[58]

(ख) त्वया समेतश्चिच्छक्त्या रामस्तिष्ठति भूतले।[59]

(ग) एषा सीता हरेर्माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी।[60]

(घ) सीता साक्षाज्जगद्धेतुश्चिच्छक्तिर्जगदम्बिका।।[61]

अतएव सर्वकारणात्मक पर ब्रह्म राम हैं तथा उनकी स्व स्वरूपा शक्ति सीता हैं।

वेदान्त की दृष्टि में महाप्रलय की स्थिति में समस्त विश्व का उसी कारण स्वरूप परमात्मा में विलय हो जाता है तथा केवल परम रूप ब्रह्म तथा उसकी प्रकृति शेष रहती है। समस्त जीव उस प्रकृति के अन्तर्गत विलीन हो जाते है। यही स्वरूप है श्री राम का। समस्त ब्रह्माण्ड उनके स्वरूप में लय है, उन्हीं में समाविष्ट है।

परब्रह्म राम के विश्वनिलयी रूप का दर्शन करने का सौभाग्य उनकी जननी माता कौशल्या को प्राप्त हुआ था।

देखरावा मातहिं निज अद्‌भुत रूप अखण्ड।

रोम रोम प्रति लागेउ कोटि कोटि ब्रह्मण्ड।।

अगनित रवि ससि सिव चतुरानन। बहुगिरि सरित सिंधु महि कानन।।

काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ।।

देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीति जोर कर ठाढ़ी।।

देखा जीव नचाववइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही।।[62]

इसी अद्‌भुत विश्वरूप के दर्शन द्वारा ही राम के सर्वकारणत्व जगदाधार स्वरूप का उन्हें सम्यक् ज्ञान हो सका और उनसे यह बिना कहे न रहा गया कि –

"जगत पिता मैं सुत करि जाना"

इससे भी विशदरूपेण दर्शन भक्त प्रवर काकभुशुण्डि जी ने किये तथा रामान्तर्गत सकल विश्व का दर्शन लाभ कर राम में ही उस एक परम सत्ता, केवल स्वरूप का पूर्णतः ज्ञान भी प्राप्त किया।

अगनित भुवन फिरेउं प्रभु राम न देखेंउं आन।।[63]

तथा– "राम रूप दूसर नहिं देखा" में संशयशील पार्वती जी ने कौतुक में ही श्री राम की प्रेरणावश उनके स्वरूप का दर्शन लाभ किया।

अतः वेदान्तवेद्य ब्रह्म ही वेदों का ब्रह्म है, वही रामायण तथा रामचरित मानस का राम है, वही भागवत का कृष्ण है, विष्णु पुराण का विष्णु तथा शिव पुराण का शिव है। वही शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि आगमों का शक्ति सूर्य और महागणपति भी है। राम विष्णु और कृष्ण एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न नाममात्र हैं। एक एक ब्रह्माण्ड के भी उत्पादक पालक और संहारक ब्रह्मा विष्णु और रूद्र होते हैं और अनन्तानन्त ब्रह्माण्डों के भी उत्पादक, पालक और संहारक भी ब्रह्मा विष्णु और रूद्र कहे जाते हैं। एक–एक ब्रह्माण्ड के उत्पादक पालक और संहारक कार्य ब्रह्म होते है। अनन्तानन्त ब्रह्माण्डों के उत्पादक पालक एवं संहारक कारणब्रह्म है।

यतो वा इमानिभूतानि भूतानि जायन्ते येन यातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति तद्ब्रह्म।।[64]

रामायण तथा रामचरितमानस के राम, भागवत के कृष्ण, विष्णुपुराण

के विष्णु एवं शिवपुराण के शिव कारण ब्रह्म ही हैं और जो शम्भु विरंचि तथा विष्णु राम के अंश से उद्भूत होते हैं वे कार्य ब्रह्म है कारण ब्रह्म नहीं।

अतएव राम भक्ति की दृष्टि से श्री राम ही वेदों, पुराणों, तन्त्रों और आगमों में अनेक नामों एवं रूपों में वर्णित है। वही नामरूपातीत निर्गुण निर्विशेष रूप में भी वर्णित है। ईश्वर एक ही होता है। उसके नाम और स्वरूप भिन्न भिन्न हो सकते है। परन्तु तत्त्व एक ही होता है।

यथा अनेकन वेष धरि नृत्य करै नट कोइ।

जोइ जोइ रूप देखावइ आपु न होइ न सोइ।।

स्थूल सूक्ष्म ब्रह्म का समन्वित स्वरूप श्री राम में सन्निहित है। उपनिषदों में ब्रह्म के स्थूल तथा सूक्ष्म दो रूपों की विशद् विवेचना की गई है। अधोलिखित उद्धरण में दोनों रूपों को स्पष्ट किया गया है –

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यतु वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।।[65]

इस जीवात्मा के हृदय रूपी गुफा में रहने वाला परमात्मा[66] सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म महान् से भी अतिमहान् है। परमात्मा की उस महिमा को कामनारहित, चिन्तारहित कोई सर्वाधार परब्रह्म की कृपा से ही देख पाते हैं।

स्थूल ब्रह्म को ही हम परब्रह्म का विराट स्वरूप भी अभिहित कर सकते हैं तथा सूक्ष्म के अन्तर्गत है उनका सर्वव्यापित्व तथा अन्तर्यामित्व। अर्थात्

सर्वकारणात्मक ब्रह्म स्थूल तथा सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का मान्य है। स्थूल ब्रह्म अंगांगी रूप से विराट् स्वरूप है, और सूक्ष्म ब्रह्म का समष्टिगत सर्वव्यापी स्वरूप तथा व्यष्टिगत अन्तर्यामी स्वरूप है।

श्रीराम का विराट स्वरूप –

जगत् में सम्पूर्ण सृष्टि को भगवान् के रूप में देखना उनके विभिन्न अंगों का दर्शन है। वही उनका विराट रूप है। जैसा कि भागवत्[67] में मिलता है।

मुण्डकोपनिषद् में परमेश्वर से सूक्ष्म तत्वों की उत्पत्ति बताकर इस जगत् में ही उनका विराट् रूप वर्णन करते हैं।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पदभ्यां पृथिवी हयेषभूतान्तरात्मा।[68]

इस परमेश्वर का अग्नि मस्तक है, चन्द्रमा सूर्य दोनों नेत्र है। सभी दिशायें दोनों कान हैं और प्रकट वेद वाणी हैं तथा वायु प्राण है, जगत् हृदय है। इसके दोनों पैरों से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। यही समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा है।

बाल्मीकि रामायण में ब्रह्म ''राम'' के विराट् रूप का संक्षिप्त चित्रण किया है। ''अध्यात्मरामायण''[70] में भी श्री राम का विराट् स्वरूप वर्णित है जिसमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव दर्शनीय है।

मानस में तत्त्व ज्ञात्री मन्दोदरी ''राम'' के इसी विराट स्वरूप की ओर इंगित करती है और रावण को ''राम'' का परमब्रह्मत्व समझाती है।

विश्वरूप रघुवंशमनि करहु वचनविस्वासु।

लोक कल्पना वेद कर अंग अंग प्रति जासु।।[71]

यहाँ वेदोक्त ब्रह्म के विराट् स्वरूप से "राम" के विराट् स्वरूप की अभिन्नता स्थापित की गई है।

"राम" तत्व के वास्तविक स्वरूप के ज्ञाताओं को भी स्वयंवर के अवसर पर 'राम' के विराट् रूप का दर्शन हुआ था–

"विदुषन्ह प्रभु विराटमय दीसा।।[72]

श्री राम का सर्वव्यापी स्वरूप –

समस्त विश्व में व्यापक व व्याप्य रूप में उसकी सत्ता उसके सर्व–व्यापित्व का बोध कराती है। उपनिषदों में ब्रह्म के सर्वव्यापी स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

यथा – ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्. ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।

अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।।[73]

यह अमृतस्वरूप पर ब्रह्म ही सामने है। ब्रह्म ही पीछे हैं, ब्रह्म ही दांयी ओर तथा बांयीं ओर, नीचे की ओर तथा ऊपर की ओर भी फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण जगत है सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

वेदोक्त ब्रह्म विश्व का सृजन कर पुनः वह उसी में व्याप्त हो गया–

"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्।।

उस जगत् की रचना के अनन्तर उसी में साथ–साथ प्रविष्ट हो गया उसमें प्रविष्ट होने के बाद मूर्त और अमूर्त भी हो गया।[74]

समस्त विश्व की स्थिति जीवन का एक मात्र कारण ही उस परमात्मा का व्यापकत्व है।

रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति। को ह्येवान्यात्कः प्रायाद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति।

वही रस है क्योंकि यह जीवात्मा उस रस को प्राप्त करके आनन्द युक्त होता है। यदि यह आनन्द स्वरूप आकाश की भाँति व्यापक परमात्मा न होता तो कौन जीवित रह सकता, कौन प्राणों की क्रिया करता। निःसंदेह यह परमात्मा ही सबको आनन्द प्रदान करता है।

अध्यात्मरामायण में भी आदि कवि श्री वाल्मीकि जी राम के व्यापकत्व का ही बोध कराते हुए कहते हैं।:–

यद्यत्समुत्पन्नमनन्त सृष्टावुत्पत्स्यते यच्च भवच्च यच्च।
न दृश्यते स्थावर जंगमादौ त्वया विनातः परतः परस्त्वम्।।[75]
त्वमेव सर्वलोकानां निवासस्थानमुत्तमम्।
तथापि सर्वभूतानि निवाससदनानि च[76]।।

यही भाव गोस्वामी जी के "राम" में भी पूर्ण निहित है। महर्षि बाल्मीकि जी कहते हैं:–

"जँह न होतु तँह देहुं कह तुम्हहिं देखावौं ठांउं"।[77]

यह कहकर राम के सर्वव्यापकत्व का बोध करा रहे हैं। परम्–स्वरूप दर्शन के परमाधिकारी भक्तराज कागभुशुंडि जी भी – "सोइ सच्चिदानन्द घन राम" को व्यापक –व्याप्य– अखंड कहते हैं। परम लीलाविग्रह अवतार धारण करने के पूर्व जिस परम व्यापक तत्त्व को सभी देवता आर्त होकर अपनी प्रार्थना सुनाते हैं, वही तत्त्व गगन गिरा के माध्यम से स्तुति स्वीकृत कर अवतरित होते हैं राम के रूप में। भगवान् शंकर उसी व्यापक तत्त्व हरि की प्रार्थना करने के लिए प्रेरित करते हैं। वैकुण्ठ लोक निवासी विष्णु को नहीं।

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना।।

देश काल दिसि विदिसहु मांही। कहहु सो कहां जहाँ प्रभु नाहीं।।

अगजगमय सव रहित विरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।[78]

गोस्वामी जी ने ब्रह्म राम के व्यापकत्वगुण के प्राकट्य का दिग्दर्शन इस प्रकार किया है:–

"जग निवास प्रभु प्रकटे अखिल लोक विश्राम।।[60]

रामतत्त्व के मर्मज्ञ भगवान् शंकर मानस के आदि में ही राम का व्यापकत्व घोषित करते हैं।

राम ब्रह्म व्यापक जगनाना। परमानन्द परेस पुराना।।[80]

अतः वेदान्तोपनिषद् में वर्णित ब्रह्म की व्यापकता के वे सभीगुण

मानस के ब्रह्म राम में अधोलिखित की भाँति निहित हैं– ब्रह्म की व्यापकता का व्याख्यात्मक दिग्दर्शन ऐतरेयोपनिषद् में इस प्रकार है:–

एषं ब्रह्मैव इन्द्रः एषं प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पंच महाभूतानि, पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारूजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वाः गावः पुरूषाः हस्तिनो यत्किंचिदेदं प्राणिजंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञाननेत्रम्। प्रज्ञाने–प्रतिष्ठितम्। प्रज्ञानेत्रों लोकः प्रज्ञाप्रतिष्ठा, प्रज्ञानं ब्रह्म।[81]

मानस में ब्रह्म राम का, यही व्यापकत्व निरुपित किया गया है।

<u>परब्रह्म राम का अन्तर्यामी स्वरूप–</u>

वेदान्त प्रतिपादित ब्रह्म का अन्तर्यामी स्वरूप उपनिषदों में वर्णित–हैकठोपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप अंगुष्ठ मात्र परिणामवाला प्रतिपादित किया गया है।[82] ज्योतिर्मय रूप से शरीर के हृदयाकाश में उसकी स्थिति है।[83] एतरयोपनिषद्[84] में उसका स्थान ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धा) में भी बताया गया है तथा उसके अन्य निवास स्थानों का भी उल्लेख है। ज्ञानियों अथवा योगियों के लिए मूर्घा में तथा भक्तों को हृदय गुहा[85] में उस परमतत्त्व के अन्तर्यामित्व की प्रतीति व अनुभूति होती है। तैत्तिरीयोयनिषद्[67] में अन्तर्यामी प्रभु के स्वरूप का सुमनोनीत ढ़ंग से पक्षी के रूपक से वर्णन किया गया है।

"तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तर पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।[86]

उस आनन्द मय का प्रिय ही मानो शिर है। भोद दाहिना पंख है, प्रमोद् वांया पंख है। आनन्द मध्य भाग है, ब्रह्म पूंछ एवं आधार है।

उपर्युक्त औपनिषद् ब्रह्म का अन्तर्यामी विभु स्वरूप ''राम में स्पष्ट परिलक्षित है। मानस में भगवान् शिव में अन्तर्यामी राम के दर्शन की अलौकिक शक्ति का प्रतिपादन हैः–

हर हिय राम चरित सब गाये। प्रेम पुलक लोचन जल छाये।।

श्री रघुनाथ रूप उर आवा। परमानन्द अमित सुख पावा।।[87]

भगवान् राम में समष्टिगत व्यापकत्व के साथ–साथ व्यष्टिगत अन्तर्यामित्व भी विद्यमान है। भगत उर चंदन तथा मुनि महेस मन मानस हंस'' रूप राम के इस रूप का वर्णन भगवान् शंकर ने अपनी अनुभूति एवं अन्तर्मुखी दृष्टि से मानस में किया हैः–

सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुवर सब उर अंतरयामी।।[88]

स्वायं भुव मनु एव सतरूपा की तपस्या तथा प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान् राम' रूप में अवतीर्ण हुए। उस प्रसंग में भी उनका अन्तर्यामित्व इन शब्दों में स्पष्ट हैः–

तुम ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अन्तरजामी।।[89]

तथा – सो तुम जानहु अन्तरजामी[90]

इतना ही नहीं दंडक वन में समस्त मुनिगण श्रीराम'' को समदरसी

तुम अंतरयामी''[91] कह कर संबोधित करते हैं। परमभक्त शिरोमणि मुनि सुतीक्ष्ण'' भी ''हर हृदि मानस बाल मराल'' राम को मानते हैं।

तथा – यद्पि निरज व्यापक अविनासी। सबके हृदय निरंतर[92] वासी।।

अध्यात्मरामायण में अगस्त्य ऋषि श्री राम के अन्तर्यामित्व का उल्लेख गीता एवं भागवत की भांति किया हैः–

रामस्त्वं सकलान्तरस्थममितो यो जानासि विज्ञानदृक्।

साक्षी सर्व हृदिस्थितो हि परमो नित्योदितो निर्मलः[93]।।

अन्यत्र भी –सर्वभूतहृदयेषु कृतालयः।।सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो[94]।।

अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते[95]।।

निष्कर्षः–

वस्तुतः वेदान्तोपनिषद् के अन्तर्यामी ब्रह्म का स्वरूप तथा भक्ताग्रगण्य गोस्वामी जी के इस स्वरूप में समानता होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है और वह सूक्ष्मता आपके भक्ति रसाप्लावित चातक हृदय जैसी लगन की तथा चकोर जैसी निर्निमेष दृष्टि की है। यह सूक्ष्मता उसी सरस भक्ति माधुरी की दृष्टि से ही अवलोकनीय है। मानस के अरण्यकाण्ड में भक्त लोग ''राम के अन्तर्यामी स्वरूप को भली प्रकार जानते हैं कि राम सबमें घट घट में रमे हुए हैं, हृदयासीन हैं, परन्तु फिर वे प्रभु से यह याचना क्यों करते हैंः–

"ममहिय गगन इन्दु इव वसहु सदा निहकाम[96]।।

ऋषि सरभंग– सीता अनुज तमेत प्रभु नील जलद् तनु स्याम।

मम हिय वसहु निरन्तर सगुन रूप श्रीराम।।

मुनिगण– यह वर मांगहु कृपा निकेता। वसुहु ह्दय श्री अनुज समेता[97]।।

"ह्दि आलय" में निवसित राम से पुनः उसमें स्थित होने की प्रार्थना कैसी स्वयं राम रूप जलधि में निमग्न शंकर जी भी राम के सिंहासनारूढ़ होने के समय अपने ह्दयासीन करने का उनसे वर मांगते हैं:–

अनुज जानकी सहित निरन्तर। वसहु राम नृप मम उर अन्तर।।

वस्तुतः उपर्युक्त बातें तर्क के विवादों का विषय नहीं है, अपितु भाव–लहरी के रस में आप्लावित हो अनुभूति के ही योग्य हैं। गोस्वामी जी के भावमग्न ह्दय की छटा इन भक्तों के श्री राम सम्बन्धी अन्तर्यामित्व में अलौकिकत्व प्रदान करती हुई अपनी मौलिकता का प्रतिपादन करती है।

इससे भी विशेष छटा दर्शनीय है दोहावली में, जहाँ ह्दय में प्रभु तो हैं ही, परन्तु समस्त अंग उसकी स्थिति के अधिकारीं तथा उस भाव जलधि में विभोर दृष्टिगत होते हैं।

हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना नाम सुनाम।

मनहुं पुरट सम्पुट लसत, तुलसी ललित ललाम।।

धन्य है तुलसी का विशिष्ट अन्तर्यामित्व जो उपनिषद् के समान हृदि

स्थित ही न होकर अंग अंग में नाम रूप की परमानुभूति देकर रम रहा है।

अतः वेद–वेदान्त प्रतिपादित निर्गुण–अचिन्त्य ब्रह्म की भांति ही श्रीराम का स्वरूप भी सर्वमय सर्वकारण हो` हुए भी कार्यकारणातीत सच्चिदानन्द स्वरूप ही है।

यह है गोस्वामी जी के राम का विशिष्ट अन्तर्यामित्व। जिसमें परमतत्व श्रीराम का सर्वत्र दर्शन गोस्वामी जी ने कराया है।

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।

राम का अनन्य उपासक समस्त संसार को राममय ही देखता है तथा सर्वत्र उसी स्वरूप को हृदय में अवस्थित करके श्रद्धालु व विनम्र रहा करता है तथा "मैं सेवक सचराचर रूप रासि भगवंत" के भाव में राम का व्यापक व्याप्य स्वरूप देखता है।

मानस के राम साक्षात् वेन्दातोंपनिषद् में ब्रह्म हैं तथा इससे भी परमतत्व विशेष हैं। अन्तर्यामी विभु श्रीराम ने अपने भक्तों को स्वयं उपदिष्ट किया है।

वचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निः काम।

तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम।।[98]

<u>परब्रह्म श्रीराम का अवतारी स्वरूप</u>

मानस के राम साक्षात् वेदान्त प्रतिपादित ब्रह्म हैं तथा उससे भी

परमतत्व विशेष हैं। वेद–वेदान्त प्रतिपादित ब्रह्म राम–कृष्ण आदि के रूप में अवतार भी ग्रहण करते है। अप्रगट रूप से प्रगट रूप में प्रादुर्भाव ही अवतार है। जैसा कि श्री भगवद् गीता में भगवान, श्री कृष्ण ने अपने श्री मुख से स्वयं कहा है–

जन्म कर्म च मे दिव्यंमेवं योवेत्ति तत्त्वतः।

व्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुनः[99]।।

वह निराकार विग्रह सच्चिदानन्दघन परमात्मा समय–समय पर आवश्यकतानुसार दिव्य जन्म तथा दिव्य कर्मों के साथ अवतरित होते हैं। किन्तु उपनिषद् वेत्ताओं कतिपय वेदान्तियों का कथन है कि "ईश्वरों नावतरति व्यापक त्वात् आकाशवत्"। परन्तु उनके इस दृष्टान्त का मनन करने के पश्चात् भावावबोध से स्पष्ट हो जाता है कि आकाश भी वायु के रूप में अवतीर्ण होता है एवं पुनः उसका तेज जल तथा पृथ्वी के रूप में अवतरित हुआ करता है। उपर्युक्त वेदान्तियों के सम्मुख ही "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"[100] का कथन इस तर्क का खण्डन कर स्पष्टीकरण कर देता है।।

भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में उपदेश दिया है–

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवांम्यात्ममायया[101]।।

श्री मद्भागवत में भगवान् के अवतारी स्वरूप का वर्णन श्री शुकदेव जी ने किया है:–

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमरिवलात्मनाम्।

जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया[102]।

ऋग्वेद् का यह मन्त्र भी अवतारवाद को घोषित कर रहा हैः–

रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव तद्स्य रूपं प्रतिचक्षणाय।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ताह्यस्य हरयः शतादश।।

अतः इन्हीं परात्पर ब्रह्म का अवतरण साकार विग्रह में होता है, यह श्रुति पुराण और गीता आदि भी प्रमाणित करती है। अव आंलोच्य विषय यह है कि इस अवतार के क्या कारण हैं ब्रह्म के अवतार धारण करने के हेतु क्या हो सकते हैं

इस संबंध में मानसकार ने यह भी कह दिया कि ब्रह्म के अवतरण का हेतु इदमित्थं नहीं कहा जा सकता हैं:–

हरि अवतार हेतु केहि होई। इद्मित्थं कहि जाव न सोई।। गीता में ब्रह्म के अवतार धारण करने का कारण भगवान् श्री कृष्ण के शब्दों में इस प्रकार वर्णित हैः–

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यह्म।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे[103]।।

मानस में ठीक इसी का प्रतिविम्ब कारण बताया गया है।[104] ब्रह्म के तद्रूप भगवान, शंकर भी उनकी व्यापक कीर्ति विस्तृति के साथ ही उसी की पुनरावृत्ति कर उस पूर्वोक्त कथन का समर्थन करते हैं:–

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निजश्रुति सेतु।

जगविस्तारहिं विसद् जस राम जन्म कर हेतु[105]।।

भगवान के अवतार कारणों की' व्याख्या भी उन्हीं के स्वरूप के अनुसार दुरूह इन्द्रियातीत है। धर्मनिष्ठ महात्मा भगवान् को अपनी धर्म रक्षा के निमित्त, देवता स्वरक्षा हेतु तथा राक्षसगण भी अपने को गति देने के निमित्त अवतरित होता हुआ समझते हैं। कार्य कारणातीत परमात्मा यद्यपि सहज ही अवतीर्ण होते हैं, परन्तु उनकी इस सहज करुणाशीलता से अपरिमित कल्याण तथा लोक संग्रह के क्षेत्र में सन्मार्ग का प्रदर्शन होता है। ब्रह्मानन्द में परिनिष्ठित निराकारोपासक अमलात्मा परमहंसो को निज साकार विग्रह का साक्षात् दिव्य दर्शन देकर भक्ति की प्रवृत्ति कराना भी आपके अवतरित होने का हेतु है और वे ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ तत्वज्ञ महान् ऋषिवर्य उस अवतरित दिव्य विग्रह की दर्शनानुभूति में अपना परमतत्व भी विस्मृत कर 'कोटि कन्दर्प कमनीय' स्वरूप दर्शन को ही निर्निमेष निहारते रहने में ही अपना परम कर्तव्य मान बैठते हैं। परन्तु उनके अवतार के रहस्य का वेत्ता भी कोई बिरला ही साधक हो सकता है जो उनके दिव्य जन्म तथा कर्म को सम्यक् रीत्या जान सकता है तथा उसकी दिव्यता का ज्ञाता भी तद्रूप होकर मुक्त हो जाता है। उनका अवतार न कर्म प्रेरित होता है और न माया जनित। कर्म की स्थिति माया जनित है और वह प्रभु मायातीत है।

इस प्रकार वह कर्म से भी परे है।[106] साथ ही उनका शरीर पंचभूतनिर्मित न होकर सच्चिदानन्दमय होने के कारण अनामय एवं दिव्य हुआ करता है। इसी कारण उनका प्राकट्य तथा अदृश्य होना हम पंचभूत निर्मित भूतों की तरह न होकर स्वतन्त्र. है। इसका प्रमाण उनका यत्र तत्र प्रकट होना तथा अन्तर्ध्यान होना एवं इच्छानुरूप रूप परिवर्तन कर लेना है।[107] उनका जन्म तथा तिरोधान साधारण नहीं अपितु अलौकिक है।

मानस में इसी कारण श्रीराम के जन्म के समय उनका प्रगट होना वर्णित किया गया हैः– ''जगनिवास प्रगटे प्रभु ''तथा'' भये प्रगट कृपाला''[108] इत्यादि। इसलिए यही कहना उचित होगा कि पर ब्रह्म का अवतार विग्रह उसका निजी स्वरूप है। यह अवतार रहस्य भी अति निगूढ़ विषय है, जिसे अपनी अल्पज्ञता के कारण प्रत्येक प्राणी नहीं जान सकता।[91] इसी प्रकार अवतार स्वरूप भी अज्ञेय है। अतः पूर्व वर्णित सच्चिदानन्दघन स्वरूप ही श्री रामावतार का दिव्य अनुपम स्वरूप भी है।

गोस्वामी जी ने मानस में पर ब्रह्म श्री राम के अवतरित होने के अनेक हेतुओं को प्रदर्शित किया है। भगवान् शंकर के मुख से – भगत प्रेमवश सगुन'' होना पार्वती जी की जिज्ञासा उन भक्तों को जानने के लिए आतुर हो उठती है और वे उन भक्तों का विशद् वर्णन पूंछती हैं, जिनके वशीभूत होकर राम को अवतरित होना पड़ा। अनेक कल्पों की अनेक कथाओं के अनुसार भगवान् शंकर छः प्रमुख हेतुओं का उल्लेख करते हैं।

1. ऋषि के शाप देने से जय और विजय का रावण कुम्भकर्ण रूप

धारण करना ।

2. जालन्धर का रावण बनना।

3. नारद शाप से रुद्रगणों का रावण कुम्भकर्ण रूप में जन्म लेना।

4. स्वायम्भुव मनु की तपस्या से प्रसन्न हो भगवान् का वरदान देना।

5. अभिशप्त भानु प्रताप का रावण बनना।

6. रावण के अत्याचारों से पीड़ित पृथ्वी का व्याकुल होना तथा देवों के साथ प्रार्थना करना।[109]

गोस्वामी जी ने "राम" के अवतार सम्बन्धी सभी कारणों तथा हेतुओं को समन्वित करते हुए सर्वत्र राम रूप की एकता का प्रतिपादन किया है।

अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंश उदारा।।

कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा।।

ते दशरथ कौशल्या रूपा। कोसलपुरी प्रकट नरभूपा।।

तिन्ह के गृह अवतरिहउं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई।।

नारद वचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउँ।।

हरिहउँ, सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई।।

उपर्युक्त प्रथम चौपााई में मनु सतरूपा को प्रदत्त वरदान के हेतु का उल्लेख है। द्वितीय चौपाई में जय–विजय और जालन्धर के हेतु का संकेत है। चतुर्थ में नारद श्राप का स्पष्टीकरण कर भानु प्रताप के ही शापित रूप दशानन रावण के अत्याचारों से पीड़ित पृथ्वी के अधर्म भार को नष्ट करने का संकल्प अन्तिम अर्धाली में किया है। अवतार हेतु अनेक होने पर भी राम एक हैं। वही मनु सतरूपा के 'भुसुंडि मन–मानस हंस, शंकर मानस–मराल' विस्ववास भगवान हैं, वही क्षीराब्धिनायक,[110] वैकुंठाधिपति[111] साकार विग्रह श्री विष्णु भी हैं जिनको नारद जी ने शाप दिया तथा जालन्धर की स्त्री द्वारा शापित हुए तथा वही भय भंजन असुर विनाशक लोक कल्याण कर्त्ता श्री मर्यादा पुरुषोत्तम ''राम' भी हैं।

परात्पर ब्रह्म राम का अन्य अवतारों के साथ सम्बन्ध

मानस में श्रीराम का गुणावतार प्रतिपादित न होकर गुणातीत स्वरूप ही वर्णित हुआ है। अतः संक्षिप्त दृष्टि डालकर यह अवलोकन भी अभीष्ट है कि राम का अन्य अवतारों के साथ क्या सम्बन्ध है अथवा उन अवतारों का रूप भी श्री राम का स्वरूप है या नहीं। पुरुषावतार गुणावतार के समान ही ''राम'' का लीलावतार भी है।

पुराणों में ब्रह्म के लीलावतारों की संख्या कहीं 24 कहीं 28 प्रतिपादित है। इनमें से 19 गुणावतार तथा 9 मन्वन्तरावतार हैं। आदि पुरुषावतार[112] इन समस्त अवतारों का विधान है।[113] इन अवतारों में से कुछ तो स्वरूपावतार हैं और कुछ अंशावतार। राम कृष्ण की गणना स्वरूपावतार में ही की जाती है। अवतारों के नाम इस प्रकार हैं–

आदि पुरुषावतार, कुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, वाराह, देवर्षिनारद, नरनारायण, कपिलदेव, दत्रात्रेय, यक्ष, ऋषभदेव, पृथु, मत्स्य कच्छप, धन्वन्तरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परसुराम, व्यास, श्री राम, श्री कृष्ण, बलदेव, हंस, हयग्रीव, हरि, पृश्निगर्भ, मनु, बुद्ध तथा कल्कि। विष्णुपुराण में भगवान् में 6 प्रमुख गुणों का समावेश बतलाया गया है। वे हैं ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री ज्ञान, तथा वैराग्य। इनमें से ऐश्वर्य का प्राकट्य नृसिंह, परसुराम और कल्कि में, धर्म का नारद, व्यास, वराह, बुद्ध में, यश का धन्वन्तरि में, यज्ञ का पुथु में, श्री का बलि, वामन , मोहिनी में, ज्ञान का दत्तात्रेय, मत्स्य, कुमार, कपिल में तथा वैराग्य का नर, नारायण, कूर्म, ऋषृभ में प्राकट्य पाया जाता है। परन्तु श्रीमद्भागवत् के कृष्ण इन समस्त 6 गुणों के निधान होने के कारण ''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' कहे गये हैं। वही रूप राम का है। यहाँ पर तो ''श्रीमद्भागवत्'' के आधार पर भगवान् श्री कृष्ण के समान राम को दर्शा देने मात्र से ही उनका स्वरूपावतार सिद्ध हो जाता है।

मानस में राम का विभिन्न अवतारों के साथ ऐक्य यत्र तत्र प्रदर्शित किया गया है। अन्य शब्दों में राम ही अनेक रूपों में अवतरित हुए हैं। ''राम जनम के हेतु अनेका'' कहकर गोस्वामी जी ने बाद में वाराह[114] नृसिंहावतार[115] का उल्लेख कर दोनों में ऐक्य स्थापित किया है। माल्यवान ने राम का अन्य अवतारों (वामन, परसुराम) के साथ ऐक्य स्थापित कर दिया है। देवताओं ने राम के स्वरूप निरूपण में स्तुति करते समय उन्हें मत्स्य कच्छपादि अवतारों का भी रूप वर्णित[116] करते हैं। इस प्रकार स्वरूपावतार तथा तदेकात्म–रूपावतार ग्रहणकर्ता

राम ही हैं, अन्य नहीं। इसका विशद उल्लेख अध्यात्म–रामायण में किया गया है। जिसमें प्रत्येक स्थान पर ''राघव'' रघूत्तम आदिनामों के उल्लेख द्वारा, वामदेव ने सभी अवतारों के स्वरूप का ''राम'' में समावेश किया गया है।[117]

वस्तुतस्तु भारतीय साहित्यों के अनुसार राम विष्णु के अवतार नहीं किन्तु किसी दृष्टि से अनन्त–अनन्त ब्रह्मा–विष्णु एवं रूद्र राम के अंश से प्रकट होते हैं।

संभु विरंचि विष्नु भगवाना। उपजंहि जासु अंस ते नाना।।[118]

श्रीमद्‌भागवत् के अनुसार ब्रह्मा जी ने ही स्पष्ट कहा है कि तम् महान् अहं, आकाश आदि अष्ट आवरणों से आवृत सप्तवितस्तिकाय वाला कहाँ मैं और कहाँ आप, जिनके रोमकूपों में इसी प्रकार के अगणित ब्रह्माण्ड–परमाणु निरंतर परिभ्रमण करते रहते हैं। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न ब्रह्माण्डों के उत्पादक, पालक और सहारक ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र कार्य ब्रह्म हैं, परन्तु अनन्त ब्रह्माण्डों के उत्पादक, पालक और संहारक ब्रह्म कारणब्रह्म हैं। ऐसी स्थिति में कार्यब्रह्म कारण ब्रह्म के अंश ही ठहरते हैं, अतः विष्णु पुराण के विष्णु, शिवपुराण के शिव, रामायण के राम श्रीमद् भागवत के कृष्ण तथा शाक्तागमों की शक्ति एक ही कारण वस्तु रूप हैं। परन्तु विष्णुपुराणोक्त विष्णु के अंशभूत अनन्त, ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि कार्यब्रह्म ही हैं। इसी तरह शिवपुराणोक्त शिव के अंशभूत विष्णु आदि भी कार्य ब्रह्म ही हैं। इसी दृष्टि से रामायण एवं भागवत के राम और कृष्ण भी कारण ब्रह्म रूप हैं। फलतः उनके रोमकूपों में कार्य ब्रह्मरूप अनन्त ब्रह्माण्डों के उत्पादक पालक और संहारक कार्यस्थ ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र

आदि उनके अंश ही हैं। इसी दृष्टि से राम का स्वतः लोकोत्तर महत्व प्रख्यात हैं। श्री राम पर ब्रह्म हैं और सीता मूलप्रकृति हैं।

<u>सीता का स्वरूप–</u>

अनन्त श्री विभूषित श्री हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री) जी के शब्दों में श्री सीता और श्री राम अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के अधिष्ठान स्वप्रकाश परब्रह्म स्वरूप हैं। वे ही सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि वाह्य ज्योतियों तथा श्रोत्र, नेत्र, मन बुद्धि, चित्त जीव, दैवत आदि आन्तर ज्योतियों के भी ज्योति हैं। वे ही ईश्वर के ईश्वर, ब्रह्मा के ब्रह्म, ज्ञान के ज्ञान, आनन्द के आनन्द तथा अनुपम अचिन्त्यअनन्त कल्याण गुणगणों के निधान हैं और सौन्दर्य, माधुर्य सौरस्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य, सौशील्य, आभा, प्रभा, शोभा कान्ति, शान्ति, प्रभृति दिव्य गुणों की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी समुदायों से सेव्य। अतएव अनन्तलक्ष्मियों की भी लक्ष्मी हं–

"सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रियाः श्रीश्च भवेदग्रया कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा।।

श्रीसीता–राम का स्वरूप सुषमा, कामधेनु के सौन्दर्य–पयोराशि से जनित नवनीत से निमित हैं। मृदिमा की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी के चरणकमल कमल से भी कोटिगुण अधिक सुकोमल हैं। वह मृदिमा की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी अपने लोकोत्तर सुकोमल हस्तारविन्द से श्री सीता के चरणारविन्द का स्पर्श करने में अपने पाणिपंकज को कठोर समझ कर सकुचातीं है, श्री तुलसीदास जी

के अनुसार सीता अनुपमेय है। ज्ञान विज्ञान की अधिष्ठात्री महादेवी सरस्वती परम ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी तथा सौन्दर्य–माधुर्यसार–सर्वस्व की अधिष्ठात्री राजराजेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी भी अनेक कारणों से श्री सीता की उपमान श्रेणी में नहीं आ सकतीं।

श्री महालक्ष्मी के प्राकट्य के लिए क्षीर समुद्र का मंथन करना पड़ा था। तदर्थ मंदराचल को मंथानिदंड बनाना पड़ा था। मंदराचल को धारण करने के लिए भगवान को कच्छपावतार धारण करना पड़ा था।

वासुकि नागरूपी रज्जु से मंदराचल को निवद्धकर देवताओं, दानवों तथा स्वयं श्री विष्णु को मंथन करने का आयास करना पड़ा था, तब महालक्ष्मी का प्रादुर्भाव हुआ था। पर आनन्द सिंधुसार–सर्वस्व भगवान राम के माधुर्यसार सर्वस्व की अधिष्ठात्री राघवेन्द्र प्राणेश्वरी श्री सीता के उपमान के लिए वह पर्याप्त नहीं है। हाँ यदि क्षीरसागर के बदले छवि–सुधा–सागर हो और पाषाणमय मंदराचल के स्थान पर श्रृंगार रूप मंदराचल हो और उसका आधारभूत कच्छप भी परमरूपमय हो। वासुकि नाग के स्थान में शोभामयी रज्जु और मंथन करने वाले देवता आदि के स्थान साक्षात् आधिदैविक राम ही स्वयं अपने पाणिपद्म से मंथन का कार्य करें, तो इस विधि विधान से जो अलौकिक लक्ष्मी प्रकट होगीं वही कथंचित श्री सीता का उपमान बन सकती हैं। विजयलक्ष्मी, सम्राज्यलक्ष्मी, ऐश्वर्यलक्ष्मी, माधुर्यलक्ष्मी मोक्षलक्ष्मी प्रभृति सब लक्ष्मियाँ अनायास ही वहाँ उपस्थित हो जाती हैं, जहाँ श्री सीता के कृपा कटाक्ष लेश का उन्मेष होता है।

अनुपम प्रेम, अनुपम–सौन्दर्य एक दूसरे से अभिन्न हैं। प्रेम सार

सर्वस्व राम है, एवं सौन्दर्यसार सर्वस्य श्री सीता हैं। राघवेन्द्र हृदयेश्वरी श्री सीता के अरूण चरणारविन्द की अरुण रज श्रुति सीमन्तिनी जनों के सीमन्त का सिंदूर है। अर्थात् श्री सीता के चरणारविन्दों के रज से ही श्रुतियां सौभाग्य शालिनी होती हैं।

"सीता" राम की महाशक्ति एवं सर्वस्यः–

अनेक रूपा श्री सीता के अनुग्रह से वेद वेद्य परमात्मा सौभाग्यशाली होते हैं, जैसे शीतलता, मधुरता एवं पवित्रता ही गंगा के प्रवाह का सार है तथा मधुरिमा अमृत का सर्वस्व है, वैसे ही आनन्द सिन्धु सुखराशि श्री राघवेन्द्र के माधुर्य सारसर्वस्व की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी ही सीता हैं। यद्यपि श्री सीता और राम दोनों परस्पर अभिन्न प्रेम सौन्दर्य सार हैं, उनमें चन्द्र तथा चन्द्रिका का एवं भास्कर तथा प्रभा का जैसा अभेद सम्बन्ध है, अमृत–सिन्धु का उसके माधुर्य से विप्रयोग की कल्पना असंभव है। श्री सीता एवं राम का संबंध पूर्वोक्त उदाहरणों से भी अत्यधिक घनिष्ठ है। वह कैसे विच्छिन्न हो सकता है, फिर भी श्री सीता जी श्री राम की अनन्य भक्ति एवं अनन्य सेवा स्वरूप होने के कारण संप्रयोग–विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध उभयविध श्रृंगारस–सार सर्वस्वस्वरूपा हैं। यही कारण है कि उनका जहाँ अखण्ड रूप से श्री राम के साथ नित्य संबंध है वही उनका श्री राम के साथ चिरविप्रयोग भी परिलक्षित होता है। विप्रयोग श्रृंगार का महत्व रसिको की दृष्टि से संप्रयोग से कहीं अधिक है। तभी तो किसी ने कहा है–

"संङ्मविरह विकल्पे वरमिह विरहो न संग, मस्तस्य।"

संग और विरह का वरदान मिल रहा हो तो भक्त विरह का वरदान मांगेगा संगम का नहीं, क्योंकि संगम से प्रियतम का सम्मिलन सीमित होता है परन्तु विरह में तो प्रियतम ही सर्वत्र सर्वरूप से अन्तः करण अन्तरात्मा, प्राणों तथा रोम रोम में निरन्तर मिलते रहते हैं। उसकी अनुभूति में श्रीराम इस प्रकार कहते हैं–

कुवलय विपिन कुंत वन सरिसा। वारिद तपत तेल जनु बरिसा।

जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग–स्वास सम त्रिविध समीरा।

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानतु प्रिया एकु मनु मोरा।।

सो मनु रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं।।

लोक में जो उत्कण्ठा प्रिय के विप्रयोग में होती है वह संयोग में नहीं होती, पर प्रियतम के बिना उस उत्कण्ठा का रसास्वादन ही नहीं होता और जब प्रियतम है तब वह उत्कण्ठा नहीं होती। इसी दृष्टि से श्री सीता–राम में सर्वदा सर्वांगीण सम्मिलन–संश्लेष्वंग रहने पर भी औपाधिक विश्लेष की अभिव्यक्ति होती है जिसमें प्रियतम की उपस्थिति से भी उत्कट उत्कण्ठा अनुभूत होती है और उत्कट उत्कण्ठा के साथ ही साथ प्रियतम का पूर्ण परिष्वंग प्राप्त होता है। उत्कण्ठापूर्ण परिष्वंग ही पूर्ण भक्ति है, वही पूर्ण सेवा है, वही प्रभु प्राप्ति का साधन है एवं वहीं फल भी है। वहीं सीता है, वहीं श्री राम का हृदय है और वही लोकोत्तर माधुर्य है।

"श्रीराम" इस महामंत्र में "श्री" शब्द से श्री सीता का ही उल्लेख

हुआ है। ''श्री'' शब्द का ''श्रयति इति श्री'' इस व्युत्पत्ति से सेवा करने वाली श्री सीता महालक्ष्मी का नाम ही 'श्री' है। भावार्थक् प्रत्यय करने पर भी श्री शब्द का अर्थ सेवा एवं भक्ति है। उत्कट उत्कण्ठापूर्वक मन, बुद्धि, चित्त एवं अन्तःकरण तथा अन्तरात्मा का तन्मयतापूर्ण प्रियतम परिष्वंग ही 'सेवा' है, वही ''श्री'' सीता है। वही ''श्रीयते सर्वेर्गुणैर्या सा श्रीः'' के अनुसार सकल–कल्याणों की अधिष्ठाती शक्तियों द्वारा सेव्या और वन्दनीया हैं। कान्ति, शान्ति, आभा, प्रभा, शोभा आदि सभी दिव्य शक्तियाँ उस श्रीसीता की सेविकाएँ हैं। ''श्रीयते हरिणापि या सा श्रीः'' के अनुसार श्री राम भी उसी श्री सीता की सेवा एवं आराधना करते हैं। आत्माराम का स्वरूप माधुर्य ही आत्मा है। उसमें आसमन्तात् रमण करना ही आत्माराम की आत्मारामता है। आत्मा ही परप्रेमास्पद होता है। आत्मज्ञों का वही सेव्य है। आनन्दसिन्धु राम का माधुर्य–सारसर्वस्व सीता ही आत्मा है। वही परप्रेमास्पद है, वही परम सम्भजनीय एवं परम वरेण्य राम का स्वरूपभूत भर्ग है। ऐश्वर्य की दृष्टि से भी अद्भुत्रामायण के अनुसार श्री नारद के उपदेश से श्री राम ने सीता की ध्यान, स्तुति, स्रोत आदि द्वारा आराधना की थी और सदा ही करते हैं। माधुर्य की दृष्टि से सीता श्रीराम की विशुद्ध अन्तरात्मा हैं। ऐश्वर्य की दृष्टि से सीता ही श्री राम के ऐश्वर्य का मूलमन्त्र महाशक्ति हैं। शक्ति के बिना ब्रह्म में अनन्तब्रह्माण्डोत्पादकत्व, सर्वपालकत्व, सर्वसंहारकत्व, आदि कुछ भी नहीं हो सकता है। तभी तो अध्यात्मरामायण में श्रीसीता ने कहा है– ''सृष्टि, स्थिति आदि तथा शिव धनुर्भंग, रावण–वध आदि सब कार्य मैं ही करती हूँ। श्री राम तो सर्वथा निर्विकार कूटस्थ चिदानन्द घनमात्र हैं।''

<u>सीता–राम का भेदाभेद विमर्श–</u>

इसी तरह श्रीसीता श्रीराम की सेविका है "श्री" हैं, शोभा है और वही श्रीराम की सेवा हैं, आराधना हैं एवं मूर्तिमती अलभ्य, दुर्लभ, भक्तसर्वस्व भक्ति हैं। वही श्रीराम की ऐश्वर्य शक्ति हैं, महाशक्ति हैं, महालक्ष्मी हैं और वही सीता सर्वगुणों की सेव्या तथा आराध्या हैं। वही श्रीराम की आराधनीया है, एवं वही श्रीराम के स्वरूपभूत माधुर्यसार सर्वस्व की अधिष्ठात्री पर प्रेमास्पदस्वरूपा श्रीराम की आत्मा हैं इस तरह यद्यपि सीता ही राम हैं, राम ही सीता हैं इसमें किंचित मात्र भी अन्तर नहीं है। तथापि–

"सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिअ उरगारि।" [119]

के अंनुसार वही अभिन्न होते हुए भी उपासना आराधना तथा सेवा की शिक्षा देने के लिए सीताराम दो रूपों में प्रकट हैं।

"कृष्णश्चैव बृहद्वलः"[120] के अनुसार श्रीराम ही श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट हुए हैं और उस स्थिति में श्रीसीता ही मुख्यशक्ति श्रीकृष्ण प्राणेश्वरी श्री राधा के रूप में प्रकट होती हैं अन्य शक्तियां रूक्मिणी आदि के रूप में प्रकट होती हैं। श्री राम ही यथा अवसर महाकामेश्वर के रूप में प्रकट होते हैं उस समय श्री सीता की अभिन्न शक्ति ही कामेश्वरांग निलयाा राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी के रूंप में प्रकट होती हैं। श्रीराम ही जब अनन्त ब्रह्माण्डों के उत्पादक सर्व विधाता बनते हैं, तब श्री सीता ज्ञान–विज्ञान की अधिष्ठात्री महासंवित् सरस्वती वन जाती हैं, जब श्रीराम विश्वपालक विष्णु रूप में व्यक्त होते हैं तब श्री सीता

ही अनन्त ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री महापालिनी महालक्ष्मी रूप में प्रकट होती हैं, श्री सीता रघुकुलकमल दिवाकर श्री राम की प्रभा तथा रामचन्द्र चन्द्रिका हैं। आनन्द सिंधु श्रीराम में वह माधुर्यसार सर्वस्व हैं। अध्यात्म रामायण के अनुसार जितने पुरूष वाचक शब्द हैं, उनका अर्थ 'श्री राम है'' और जितने स्त्री वाचक शब्द हैं उनका अर्थ 'श्री जनक नन्दिनी' 'जानकी' ही है। श्री सीता मूल प्रकृति ही नहीं किन्तु चित्स्वरूप परमतत्व भी हैं–

''यो ह वै श्री परमात्मा नारायणः स भगवान्''

''कलातीता भगवती सीतेति चित्स्वरूपा''।[121]

किं वहुना श्री सीता प्रेम–माधुर्यगुणों से वृंहित सौन्दर्य सारसर्वस्व है, वेदादिशास्त्र संवेद्य हैं, परब्रह्म राम स्वरूपा हैं, महालक्ष्मी तथा आदिशक्ति हैं। इस प्रकार विश्ववन्द्या सीता के सम्बन्ध में यह उक्ति सर्वथा चरितार्थ तथा उनके सार्वभौम स्वरूप को प्रकाशित करती है:–

सौन्दर्य सारसर्वस्वं माधुर्यगुणवृंहितम्।

ब्रह्मनैकमद्वितीयं तत् तत्त्वमेकं द्विधाकृतम्।।

वेदादिशास्त्र संवेद्यं सीतारामस्वरूपकम्।

सरहस्यं सतां सेव्यमंद्भुतं प्रणमाम्यहम्।।[122]

आचार्य श्री रामानन्द की दृष्टि में श्रीसीता–

वैष्णव आचार्य 'श्री रामानन्द' के मत में श्री शब्द से भगवती सीता का

अर्थ ग्रहण किया गया है। भगवती सीता ही श्री हैं, क्योंकि वेद में लक्ष्मी जी को श्री जी से पृथक् कहा है, जैसे–श्रीश्चते लक्ष्मीश्चते पत्न्यौ'[123] अर्थात् हे परमेश्वर आपकी श्री और लक्ष्मी ये दोनों पत्नियाँ हैं। श्री रामानन्दाचार्य की आचार्य परंपरा उन भगवती सीता से उत्पन्न मान्य की गयी है, जो स्वयं भगवती पृथ्वी से प्रकट हुई हैं तथा जिन्होंने धर्म पत्नी के रूप में साकेताधीश श्री राम को गौरव प्रदान किया है एवं जनकराज की पुत्री बनकर उन मिथिलाधिराज की कीर्ति तथा विजय श्री की वैजयन्ती पताका के रूप में सुशोभित हुईं। जिन्होंने उेत्तरकोशल के राजसिंहासन के राजाधिराज श्री राम की पट्टमहिषी बनकर महामहिम बना दिया तथा वह राम प्रिया सीता जिनके चरणारविन्द की नखमणि चन्द्रिका से कोटि–कोटि पार्वती सरस्वती एवं अनन्त महालक्ष्मियों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने अपने मन मन्दिर में भगवान् श्री राम को अधिदेवता के रूप में सदा–सदा के लिए प्रतिष्ठित किया है। ऐसी असंख्य कल्याण गुण–गुणों से युक्त श्रीराम प्रिया भगवती सीता महारानी ही रामानन्दाचार्य परंपरा की प्रमुख आचार्या मानी जाती हैं। इस प्रकार श्रीसीता और भगवान श्रीराम दोनों मिलकर पूर्ण अखण्ड ब्रह्म हैं। सीताजी परब्रह्म की भाँति ही सर्वव्यापिका हैं। जिस प्रकार श्री भगवान् राम जगदीश्वर हैं उसी प्रकार सीता जी जगत् की अधिष्ठात्री हैं। जिनका कभी तिरोभाव नहीं होता है। वह परमब्रह्म राम की नित्यानन्ददायिनी ह्लादिनी शक्ति हैं। भगवान् श्रीराम बोध हैं और सीता जी बुद्धि हैं। श्रीराम धर्म हैं तो सीता जी सत्क्रिया हैं। राम ही श्रीस्वरूप हो श्रीराम बन जाते हैं। इससे पर ब्रह्म की अखण्डता में कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में पतिव्रता सीता–

वाल्मीकि रामायण में सीता के जीवन का मूल आधार उनका अटल पातिव्रत धर्म है– ''इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा''[124] अर्थात् स्त्रियों की गति एक पति ही है, चाहे इस लोक में हो चाहे उस लोक (परलोक) में हो।

इसी आधार पर वे वन प्रसंग में राम से दुर्गम वन में भी साथ जाने का आग्रह करती हैं तथा उसका तार्किक ढंग से समर्थन भी करती हैं।

'भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरूषर्षभ।

अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि''।[125]

अर्थात् स्त्री पुरूष की अर्द्धांगिनी होने से अपने पति के भाग्य का भोग करती है, इसलिए मुझे भी आप वन चलने की आज्ञा दीजिए। उनके वनगमन का एकमात्र ध्येय पति सेवा हैं–

कृतज्ञेणाहं भद्रं ते गमनं प्रति राघव

वनवासस्य शूरस्य मम चर्या हि रोचते।[126]

राम उनके लिए देवता हैं, इस लोक परलोक के स्वामी हैं। वे अपने पति पर ही गर्वान्विता हैं। पति ही उनके वास्तविक प्राण हैं।

वे अपने पति के सुख दुःख की सहभागिनी हैं। वे स्वयं अपने को सावित्री के समान आज्ञाकारिणी एवं पतिव्रता मानने का आत्मगौरव रखती हैं। प्रत्येक स्थिति में राम का सहयोग उन्हें वांछित है। भले ही वह वनवास हो अथवा

स्वर्गवास। नारी धर्म की उन्हें सम्यक् शिक्षा प्राप्त है। माता पिता कौशल्या एवं अनुसूया आदि योग्य गुरूजनों की शिक्षा द्वारा उनकी वह शिक्षा दृढ़तम होती जाती हैं। इसका व्यावहारिक प्रत्यक्षीकरण उनके वन्य जीवन में पूर्णरूपेण निखर उठता है। अशोक वाटिका में स्थित जानकी को हनुमान केवल उनके पतिव्रत धर्म के कारण पहचान लेते हैं जबकि वे जानकी को राम का अखण्ड चिन्तन करता हुआ पाते हैं।

सीता के पतिव्रता धर्म का ज्वलन्त उदाहरण वह दृश्य है जहाँ विषम परिस्थिति में भी उनकी सुरक्षा का आलवाल् भी उनका सतीत्व है। चतुर्दिक् विकृताननना राक्षसियों के मध्य निर्भीक सीता स्वयं अपनी दृढ़ता का निदर्शन करती हैं। ये सती पतिव्रता शिरोमणियों को ही अपना आदर्श मानती हैं।

दीनों वा राज्यहीनो वा यो मेभर्ता स मे गुरुः।

तंनित्यमनुरक्तास्मि यथा सूर्यं सुवर्चला।।

यथा शची महाभागा शक्रंसमुपतिष्ठति।

अरून्धती वशिष्ठं च रोहिणी शशिनं यथा।।

लोपामुद्रा यथागस्त्यं सुकन्या च्यवनं यथा।

सावित्री सत्यवन्तं च कपिलं श्रीमती यथा।।

सौदासं मदयन्तीव केशिनी सगरं यथा।

नैषधं दमयन्तीव भैमीं पतिमनुव्रता।

तथाहं इक्ष्वाकुवरं रामं पतिमनुव्रता।।[127]

सीता इस अनन्यनिष्ठा का प्रमाण स्वयं अग्निपरीक्षा के प्रसंग में देती हैं और स्वयं अग्निदेव साकाररूप में प्रकट होकर सीता की पतिपरायणता की साक्षी देते हैं–

एषा ते राम वैदेही पापयस्यां न बिद्यते।

नैव वाचा नं मनसा नैव बुद्धया न चक्षुषा।

त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती

रुद्धा चान्तः पुरे गुप्ता त्वच्चिन्ता त्वत्परायणा।

रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरवुद्धिभिः[128]।।

सर्वदर्शी राम स्वयं भी ओजपूर्ण स्वर से अपने प्रति सीता की अनन्यता को स्वीकार करते हैं–

अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा।

विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिलीजनकात्मजा।।[129]।।

प्रजापवाद से प्रेरित राम द्वारा परित्यक्ता सीता उस स्थिति में भी राम में अनन्य भक्ति अर्पित करती हैं तथा अपने पति के अपवाद पर अपना परित्याग भी संहर्ष स्वीकार करती हैं और कहती हैं:–

"मया च परिहर्तव्यं त्वं हि में परमा गतिः[130]।।

अपनी उपेक्षा कर अपने पति के कर्म क्षेत्र में सहयोग देना ही वे अपना परम धर्म मानती हैं, क्योंकि पति उनके लिए सर्वस्व हैं।

यथापवादः पौराणां तथैव रघुनन्दनः।

पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्वन्धुः पतिर्गुरुः।।

प्रोणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः[131]।

यहीं तक नहीं रामायण में तो सीता का वह मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी चित्र भी प्रस्तुत है जहाँ वे अपनी अनन्यता एवं पातिव्रत धर्म की कसौटी पर खरी उतरती हुई अपने को बलिदान तक कर देती हैं। अन्तिम क्षण तक उनके मुख से यही ओजपूर्ण बचनावली निःसृत होती हुई गुंजरित होती है।

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।

तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।।

मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।

तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।।

यथैतत्सत्यमुक्तं में वेदि्मरामात्परं न च।

तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।।[132]

रामायण की भांति मानस की सीता भी पातिव्रत धर्मकी अखण्ड ज्योति हैं। इतना ही नहीं भक्त तुलसी ने अपनी जगदम्बा की ही भांति उनके नाम को भी पतिव्रता शिरोमणि अनुसूया द्वारा इस मार्ग का प्रेरक कहलाया है।

<u>राम चरित मानस में सीता का स्वरूपः–</u>

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं''[133]

मानस में उनके चरित्र की एक विशेषता और है। तुलसी के भक्त व्यक्तित्व का भी प्रभाव सीता के चरित्र चित्रण पर पड़ा है। सीता में पत्नी सुलभ रूप के साथ–साथ राम की अनन्त भक्ता के गुणों का भी समावेश किया गया है। इस स्वर्ण–सुगन्धि, संयोग की पृष्ठभूमि ही उसी ढंग से चित्रित की गई है। तुलसी ने सीता के प्रेम में अलौकिक प्रीति एवं प्रीति–पुरातन की अखण्डता का निदर्शन किया है, जिसे कि सूक्ष्मपारखी तुलसी ने ही लिखा है और किसी ने नहीं। इसी पुरातन एवं अलौकिक प्रेम से ही विवाह के पूर्व भी उनकी प्रीति को मर्यादावादी तुलसी ने पुनीत ही कहा है–

"प्रीति पुरातन लखै न कोई''[134]

उनका यह भक्ता रूप मानस में आद्योपान्त वर्णित है। वे निरन्तर अपने पति परम ब्रह्म श्री राम के चरण कमलों के ध्यान में लवलीन रहा करती हैं।

''सियमनु रामचरन मन लागा''[135]

तथा – नाम पाहरु दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।

लोचन निज पद् जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट।।[136]

प्रतिपल में विषम परिस्थिति में भी राम गुण जप एवं स्मरण द्वारा

आत्म–रक्षा करती हैं। वही उनका एक मात्र कवच है।

कृस तनु सीस जटा एक वेनी। जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी।।[137]

आर्त भक्त की तरह वह विलाप करती हुई प्रभुकृपा की याचिका हैं:–

हा जग एक वीर रघुराया। केहि अपराध विसारेहु दाया।।

आरति हरन सरन सुख दायक। हा रघुकुल सरोज दिन नायक।।[138]

उनका सन्देश एक विह्वल अति शरणागत भक्त से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

अनुज समेत गहेउ प्रभुचरना। दीनबन्धु प्रनतारति हरना।

मन क्रम वचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी।

अवगुन एक मोर मैं माना। विछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।।[139]

दीन दयाल विरिदु संभारी। हरहुनाथ मम संकट भारी।।[140]

यह अन्तिम पंक्ति तो भक्तों की जीवनाधार बन गई है। इस रूप के साथ–साथ उनके पातिव्रत रूप की अभिन्न झाँकी भी दर्शनीय है।

"प्रभु करुनामय परम विवेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी।।

प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई।।"[141]

उनका परम धन राम के चरण कमल रज ही हैं, जिसको वे अवध एवं जनकपुर के अतुल वैभव विलास के समकक्ष कहीं अधिक वरीयता प्रदान करती

हैं।

"बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि केउ सपनेहुँ सुखद न लागा।।[142]

सीता के स्वरूप की राम के साथ अखंड अभिन्नता का तात्विक निरूपण गोस्वामी जी ने बाल्मीक द्वारा कराया है।

'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।

जो सृजति जगु पालति हरति रूख पाइ कृपानिधान की।।[143]

माया सदैव ब्रह्म के आधीना है उनकी अभिन्न रूपा एवं आश्रिता है, उन्हीं की अवतार स्वरूपा राम भक्ता जानकी हैं।

"उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता।।

जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितव न सोइ।

राम पदारबिन्द रति करति सुभावहिं खोइ।।[144]

बाल्मीकि एवं मर्यादावादी तुलसी ने सीता का चित्रण सूर की राधा की भॉति नहीं किया है अपितु उनमें धार्मिक एवं सामाजिक तत्व भी प्रदर्शित किये हैं।

दोनों ग्रन्थों में वे धर्मज्ञा हैं। रामायण में अनेक स्थलों पर उनका धार्मिक स्वरूप उल्लिखित है। वे नित्यप्रति देव पूजन करती है।[145] अपने इष्टजनों की कल्याण कामनार्थ वे बन में गंगा[146] एवं यमुना[147] का पूजन करती हैं। एक सुगृहिणी की भाँति पंचमहायज्ञ करती है।[148] गुरुजनों एवं वृद्वजनों की पूजा

करना उनका आदर्श है, अतएवं अनसूया का वे पूजन करती हैं।[149] बटरूपधारी रावण का आतिथ्यसत्कार उनके अतिथिधर्म का निर्णायक है।[150] वे परमदानशीला हैं।[151]

मानस में भी (कवि तुलसी के व्यक्तित्व के अनुसार) सीता प्रारम्भ से ही शंकर,[152] "पार्वती[153] गणेश[154] की उपासिका दिखाई गई हैं। मार्ग में गंगा पूजनादि उनकी धार्मिक निष्ठा के प्रमाण हैं।[155] वट छाया पर वेदिका निर्माण तथा तुलसी वृक्षारोपण भी उनकी धार्मिक प्रवृत्ति का निरूपण है।[156]

रामायण में उनके धार्मिक व्यक्तित्व की ही भाँति सामाजिक विशेषतएँ भी उनमें अत्यधिक महान् हैं।

वे सब प्रकार से रीतियों से भिज्ञ हैं। कुलरीति,[157] राजनीति,[158] नीति[159] के सभी तत्वों का उन्हें सम्यक् ज्ञान है जिसकी सराहना स्वयं राम भी करते हैं।[160] यावज्जीवन के कर्तव्य–परायणता एवं व्यवहार कुशल राजबधू हैं इसका प्रत्यक्षीकरण हमें अवधनारियों के सीता के प्रति अनुरक्ति के प्रसंग में होता है।[161]

वे नारी सुलभ लज्जा से समन्वित,[162] सुशीलता[163] एवं मृदुलता की प्रतीक स्वरूपा हैं। जिसकी भूरि–भूरि सराहना राजा दशरथ भी करते हैं[164] वे त्यागमयी रमणी हैं।[165] एक वीर क्षत्राणी हैं, अपने वर्णानुकूल राम को वन प्रदेश में उनका क्षत्रिय धर्म स्मरण कराती हैं।

उनमें कुछ विशिष्ट नैतिक गुणों का भी समावेश है। वे सच्चरित्र शीला है,[166] दृढ़संकल्प हैं।[167] वे स्वयं दृढ़साहसी,[168] निर्भीकहृदया[169] एवं गौरवशीला[170]

हैं, वे भाग्यवादिनी भी है[171] तथा शक्तिशालिनी भी।[172] उनमें अटूट धैर्य एवं स्थिर बुद्धि हैं। वे कर्म मीमांसक हैं। परमत्यागी है। रागद्वेष से रहित शरणागतवत्सलता से भी अनुप्राणित हैं। वे जितेन्द्रिय है तथा परम तेजस्विनी हैं।[173]

मानस में भी सीता के इन विशिष्ट गुणों का उल्लेख किया गया है परन्तु रामायण की अपेक्षाकृत कम क्योंकि वहॉ तो वे प्रभु की अनन्त माया का अवतार हैं उनकी अनन्तता का वर्णन क्यों कर किया जा सकता हैं। पुष्पवाटिका, वन गमन, वनग्रामवधू प्रसंग के दृश्यों में उनकी लज्जा शीलता अत्यन्त शोभनीय है। वे मन क्रम, वचन से पुनीत हैं, जड़ चेतन उनके प्रेम के वशीभूत है। अशोक वाटिका में स्थित जानकी की वियोग व्यथा अत्यन्त हृदय द्रावक हैं वाल्मीकि ने उनकी इस करूण दशा का चित्र.ण अत्यन्त विशद एवं हृदयस्पर्शी ढ़ंग से किया है।[174] वे वहाँ भी रावण से धमकायी जाने के पश्चात् वन में परित्यक्त कन्यावत् विलाप करती है।[175]

मानस में सीता का रूप अत्यन्त संयत, मर्यादित धीर, एवं गम्भीर है। वन गमन के समाचार से वे दुःखित नहीं हुई, वरंच वे राम के वियोग की आशंका से व्याकुल हो उठीं। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को वे अन्दर ही अन्दर सीमित रखती है।[176] राम द्वारा वन के भीषण कष्टों का श्रवण करके अत्यन्त नम्रता से कौशल्या से क्षमा याचना कर मर्यादित रीति से अपनी अनन्यता एवं सेवा परायणता ही व्यक्त करती हैं।[177]

रामायण की सीता भी आदर्शमयी होने पर भी मानस की अलौकिक शक्तिरूपिणी सीता से कहीं अधिक मानवीय स्तर पर होने के कारण हमारे

सन्निकट हैं। उसके कतिपय उद्धरण निम्नांकित हैं–

अपना अहित करने वाली कैकेयी के प्रति वे क्षोभ प्रकट किये बिना नहीं रह सकीं।

हन्तेदानीं सकामा तु केकैयी वान्धवैः सह।

ह्रियेय धर्मकामस्य धर्मपत्नी यशस्विनः।[178]

इसी प्रकार का सजीव एवं मार्मिक दृश्य सीता की अग्नि परीक्षा का है। उस प्रसंग में महर्षि बाल्मीकि जी ने सीता का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक विवश, तर्कशीला एवं आतुर रूप में किया है। वे राम के कटु वचनों का प्रतिरोध करती है, उन्हें सामान्य, मानव मानती हैं, अपने चरित्र के प्रति जागृत राम की प्रकट हुई आशंकाओं का प्रतिवाद करती हैं, अपने अभिजात पर गर्व करती हैं तथा राम को कर्तव्यच्युत मानती है। अन्त में विवश होकर एक विश्वसनीया पत्नी की भॉति अवरूद्ध कंठ से लक्ष्मण को 'चितानिर्माण' का आदेश देती हैं।

परन्तु मानस में इन सब प्रतिवादों एवं तर्को का कोई स्थान नहीं, क्योंकि गोस्वामी जी को तो अपने पूर्वा पर प्रसंग में सम्बन्ध योजना करनी थी। पंचवटी में अग्नि प्रवेश की हुई सीता की थाती को स्वयं अग्नि देव द्वारा पुनः राम को अर्पित कराना था, माया सीता को पुनः अग्नि प्रवेश कराकर वास्तविक सीता, राम को अर्पित कराने का प्रसंग वर्णित करना था। अतएवं उन्होंने सीता को इस प्रसंग पर मौन ही दर्शाना उपयुक्त समझा। इस अलौकिक रहस्य एवं मर्म के

प्रसंग में ''पिय हिय की सिय जान निहारी'' का प्रतिवाद करना असंगत हो जाता इसी लिए तुरन्त अग्नि प्रवेश करते ही तुलसी ने अपना मन्तव्य समन्वयात्मिका प्रतिभा द्वारा प्रगट कर दिया।

'प्रतिविंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे।
प्रभु चरित काहु न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे।।
धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो।
जिमि छीर सागर इंदिरा रामहि समर्पी आनि सो।।[179]

एक प्रसंग में सीता का नारी सुलभ दुर्बलता का चित्रण दोनों काव्य में समान रूपेण किया गया है।

दोनों में वन गमन के समय सीता देवी देवताओं से मनोरथ पूर्त्यर्थ स्तुतिंयॉ एवं मनौतियाँ करती हैं परन्तु उनको क्रियात्मक रूप देना वे भूल जाती हैं।[180]

परन्तु सीता का समष्टि चित्रण सर्वोपरि है, धर्म का प्राणपन से परिपालन स्त्री सीता का चरित्र जाज्वल्यमान ध्रुव नक्षत्र है, जिसमें असाधारण पातिव्रत धर्म, त्याग, शील अभय, शान्ति, क्षमा सहनशीलता, संयम, साहस, व्यवहार कुशलता आदि प्रखर किरणें उनकी कीर्ति ज्योति को विकीर्ण करती हैं।

उनके अद्वितीय सौन्दर्य का अनेक स्थलों पर वाल्मीकि ने वर्णन किया है जिसके अनुसार सीता पूर्ण चन्द्र सम वदन वाली अपनी चन्द्रप्रभा से सब

दिशाओं को प्रकाशित करने वाली कोमलांगिनी, शुद्ध–सुवर्णवर्णा, शुभ–लक्ष्मी एवं रति की प्रतिरूपा नख–शिख सौन्दर्यमयी, मनोहारिणी हैं।[181] उनके अप्रतिम शोभा के समकक्ष त्रिलोक में कोई नहीं। सीता जी का चरित्र, सन्मार्ग पर चलने के लिए पूर्ण मार्गदर्शक है।

आदिशक्ति सीता–

वस्तुतः सीता पर ब्रह्म भगवान् राम की आदि शक्ति या परमशक्ति या माया हैं। राम से उनका उसी प्रकार अभेद सम्बन्ध है, जिस प्रकार वाणी का अर्थ से तथा जल का लहर से होता है।

गिरा अरथ जल वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।[182]

बंदउँ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।।

यदि राम भानु या चन्द्रमा हैं तो सीता क्रमशः उनकी प्रभा या चन्द्रिका हैं। मानस के प्रारम्भिक मंगलाचरण प्रकरण में रामबल्लभा सीता का अभिनन्दन करते हुए तुलसी ने उन्हें संसार का सर्जन, पालन एवं संहार करने वाली शक्ति के रूप में देखा है:–

"उद्भव–स्थिति–संहार–कारिणी सीतां न तोऽहं राम बल्लाभाम्।[183]

सीता वह आदि शक्ति हैं जिससे विश्व की उत्पत्ति होती है। मनु सतरूपा की तपस्या पर प्रसन्न होकर राम ने इसी आदि शक्ति सीता के साथ उन्हें दर्शन दिया था।

वाम भाग सोभति अनुकूला। आदि सक्ति छवि निधि जगमूला।।

भृगुटि विलास जासु जग होई। राम वाम दिसि सीता सोई।।[184]

आदि शक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहिं मोरि यह माया।।[185]

सीता ही ब्रह्म की वह माया और मूल प्रकृति हैं जिससे जगत् का उद्भव उसकी स्थिति और उसका संहार हुआ करते हैं।

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह् जगदीस माया जानकी।

जो सृजति जगु पालति हरति रूखपाइ कृपा निधान की।[186]

योगमाया सीता–

सीता आदि नारायण राम की योगमाया हैं। वे राम से उसी प्रकार अभिन्न हैं जैसे वाणी से उसका अर्थ अथवाजल से उसकी तरंग अभिन्न हुआ करते हैं। वही अविनासी परमात्मा की परम–शक्ति हैं। देवताओं की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए आकाशवाणी द्वारा भगवान् स्वयं कहते हैं:–

नारद वचन सत्य सब करिहऊँ। परमशक्ति समेत अवतरिहउँ।।[187]

अभिषेकोत्सव पर पधारे हुए वेद राम का स्तवन करते हुए कहते हैं:–

अवतार नर संसार भार विभंजि दारून दुःख दहे।

जय प्रनत पाल दयाल प्रभु संयुक्त शक्ति नमामहे।।[188]

मूल प्रकृति सीता–

इस लोक में राम परमात्मा और सीता मूल प्रकृति के अतिरिक्त और

कुछ नहीं हैं। इस लिए सम्पूर्ण जगत् को राम और सीता का स्वरूप मानकर तुलसीदास की एक साथ वन्दना करते हैं:–

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।[189]

<u>लक्ष्मी से श्रेष्ठा सीता–</u>

सीता को लक्ष्मी का भी अवतार माना गया है। कहा जाता है कि जनक नगर की संपदा का वरवान शारदा और शेष भी इसलिए नहीं कर सकते कि वहाँ लक्ष्मी माया नारी सीता के रूप में निवास करती हैं:–

बसइ नगर जेहिं लच्छि करि कपट नारि बर वेषु।

तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु।।[190]

मानस में सीता लक्ष्मी का मूल निवास स्थान क्षीर सागर बताया गया है:–

पय पयोधि तजि अवध बिहाई।

जहँ सिय रामु, लखनु रहे आई।[191]

मानस में तुलसी ने कहीं कहीं सीता के रूप में रमा नाम का पर्याप्त रूप में प्रयोग किया है:–

"अतिहरषि मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि–पुनि रमा।।[192]

"राम वाम दिसि सोभति रमा रूप गुन खानि।।[193]

इस प्रकार मानस में जिन स्थलों पर श्रीराम को ''रमा निवास'' ''इंदिरापति'' इंदिरा रमन'' रमेश, श्री रंग, तथा रमानाथ कहा गया है और विष्णु के साथ उनका तादात्म्य स्थापित किया गया है, उन सभी स्थलों पर सीता ही लक्ष्मी हैं, क्योंकि उपर्युक्त नामों का प्रयोग राम के पर्याय रूप में हुआ है। किन्तु अन्यत्र तुलसीदास सीता को लक्ष्मी से शभिन्न तथा श्रेष्ठ प्रतिपादित करते दिखाई देते हैं। मानस के अनुसार सीता–राम विवाह में लक्ष्मी भी विष्णु के साथ सम्मिलित होती हैं और विष्णु के साथ ही वह भी दूलह राम को देख कर मुग्ध हो जाती हैं।

हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।[194]

और तदनन्तर रनिवास की अन्य स्त्रियों के साथ मिल जाती हैं:–

सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी।।

कपट नारि वर वेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहिं जांई।।[195]

अन्यत्र भी तुलसीदास सीता को लक्ष्मी से श्रेष्ठ बताते हैं और कहते हैं कि राम की भांति वे भी अपरिवर्तनशील हैं। राम के ब्रह्मत्व पर शंका करने पर सती जिस प्रकार राम को उन विविध रूपों में परिवर्तित होने वाले देवताओं के बीच अपरिवर्तित पाती हैं उसी प्रकार सीता को भी अपरिवर्तित पाती हैं, जब कि इंदिरा आदि अनेकों रूपों में दिखाई देती हैं।

सची विधात्री इंदिरा देंखीं अमित अनूप।

जेहि जेहि वेष अजादि सुर तेहि तेहि तनु अनुरूप।।

अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न वेष घनेरे।।

सोइ रघुवर सोइ लक्षिमनुसीता। देखि सती अति भईं संभीता।।[196]

जगदम्बिका सीता के अंशमात्र से अगणित लक्ष्मी, उमा और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं। मनु सतरूपा को उनकी तपस्या का फल देने के लिए राम के साथ प्रगट होने वाली सीता के संबंध में तुलसीदास कहते हैं:–

जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।।

भृकुटि विलास जासुजग होई। राम वाम दिसि सीता सोई।।[197]

अन्त में यह भी कहना उपयुक्त होगा कि अपनी आराध्या लोकोत्तर गुणराशि विभूषित श्री स्वरूपा सीता लक्ष्मी तथा ब्रह्मणी द्वारा वंदित भी हैं।

उमा रमा ब्रह्मानि वंदिता। जगदंबा सततमनिन्दिता।।[198]

वस्तुतः गोस्वामी जी ने आदिशक्ति सीता को उपमा के योग्य भी नहीं समझा–

जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया।।

गिरा मुरवर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी।।

विष वारुनी वंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही।।[199]

मानस में निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म की अवधारणा:–

राम चरित मानस में ब्रह्म का कौन सा स्वरूप स्वीकृत है, निर्गुण

अथवा सगुण। उत्तर दोनों ही। अब यहाँ ब्रह्म के दोनों रूपों को समझने के लिए प्रकाश डालना आवश्यक है।

इस परम तत्व को उपनिषदों में ब्रह्म कहा गया है। इसके दो रूप हैं– निर्गुण या परब्रह्म और सगुण या अपर ब्रह्म। सगुण सविशेष साकार और सोपाधि है, निर्गुण गुण, विशेषण, आकार और उपाधि से परे है। निर्गुण ब्रह्म वह है जिसे किसी विशेषण, चिन्ह या लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता और सगुण ब्रह्म उसे कहते हैं जिसे किसी गुण चिन्ह या विशेषण द्वारा पहचाना जा सकता है और जिसका स्वरूप हृदयंगम किया जा सकता है। जब एक ही तत्व सगुण साकार, सविशेष है और निर्गुण निराकार, निर्विशेष है तब यह प्रश्न उठता है कि वह तत्व है क्या चीज? इस प्रश्न का समाधान बेदांती लोग इस प्रकार करते है कि ब्रह्म अपने आप में निर्गुण निराकार निर्विशेष और निरूपाधि ही है। किन्तु या तो अविद्या के कारण या उपासना के हेतु ब्रह्म को हम सगुण साकार सविशेष और सोपाधि समझते है। यदि रस्सी को देखकर हम साँप समझ लें तो हमारी ही भूल हैं। वस्तुतः ब्रह्म अपने मूल रूप में निर्गुण ही है।

श्रुतियों में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण स्वरूप को नाना प्रकार से समझाया गया है। सगुण ब्रह्म के बारे में यह कहा गया है कि वह सत्य ज्ञान और अनन्त रूप है, विज्ञान और आनन्द रूप है, उसमें ज्ञानशक्ति, बलशक्ति तथा क्रियाशक्ति नामक तीन शक्तियाँ विद्यमान हैं। छांदोग्य उपनिषद् मूँ "नज्जलान्" नामक एक ही शब्द द्वारा कहा गया है कि यह जगत ब्रह्म से उत्पन्न होता है, उसी में लीन होता है और उसी के कारण प्राण धारण करता हैं।[200] तात्पर्य यह

है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण ब्रह्म ही है। माण्डूक्योपनिषद् में 'ॐ' एक मात्र अक्षर को ब्रह्म कह कर ब्रह्म के सगुण रूप का वर्णन किया गया है। यह 'ॐ' अक्षर अविनासी परमात्मा है। यह सारा जगत् उसी की निकटतम महिमा का द्योतक है। भूत, वर्तमान और भविष्य भी यह 'ॐ'कार है। वह इन तीनों से भी अतीत और भिन्न है।[201] अर्थात् कारण, सूक्ष्म और स्थूल–इन तीनों भेदों वाला जगत् और इसको धारण करने वाला परमात्मा का जगत् द्वारा अभिव्यक्त अंश इतना ही परब्रह्म का स्वरूप नहीं है, उससे अतीत भी जो कुछ है वह सब मिलकर ही परब्रह्म का समग्र रूप है। इसी उपनिषद् के छठवें श्लोक में सगुण ब्रह्म के स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। "यह ब्रह्म सब ईश्वरों का ईश्वर है, सर्वज्ञ है, सबका अन्तर्यामी है, सम्पूर्ण जगत् का कारण है। क्योंकि वह समस्त जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का स्थान है।[202] "यद्यपि परब्रह्म पुरूषोत्तम निराकार, मन, इन्द्रिय आदि कारण समुदाय से सर्वथा रहित है तथापि वह सब कुछ करने में समर्थ हैं। इस सर्वशक्तिमान परब्रह्म पुरूषोत्तम से सृष्टिकाल में प्राण, मन, अन्तः करण और सम्पूर्ण इन्द्रियों तथा आकाश, वायु, तेज जल और सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करने वाली पृथ्वी – ये पॉचों महाभूत सबके सब उत्पन्न होते हैं।[203] दूसरे श्लोक में य बताया गया है कि यह प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला जगत् ही निराकार परब्रह्म का विराट् रूप है। "अग्नि ही परमेश्वर का मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र है, दिशायें दोनों कान हैं, विस्तृत वेद वाणी है, वायु प्राण है, जगत् हृदय है, पृथ्वी मानों दो पैर हैं। यही परब्रह्म परमेश्वर समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी परब्रह्म है।"[204]

जब एक ही परब्रह्म जगत् के सब पदार्थो में व्याप्त है, और सब पदार्थो के रूप भी उसी के रूप हैं तब यह प्रश्न उठता है कि उसका वास्तविक रूप क्या हैं। इस प्रश्न का उत्तर वेदान्तियों ने "नेति नेति" अर्थात् "यह भी नहीं, वह भी नहीं" कह कर दिया है। ऐसे ब्रह्म को किस तरह समझाया जाय? इसीलिए "वाष्कलि ऋषि के द्वारा ब्रह्म के बारे में जब बार–बार पूछा गया, तब वाध्व ऋषि ने मौन रहकर ही उत्तर दिया। श्रुतियों ने अभावात्मक अव्ययों द्वारा निर्गुण ब्रह्म का नाना प्रकार से वर्णन किया है। कठोपनिषद् में परब्रह्म को यो चित्रित किया है। "यह जो परब्रह्म शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूपरहित, रसरहित, गंधरहित है और जो अव्यय, नित्य, अनादि, असीम, महान् आत्मा से भी श्रेष्ठ, सत्य तत्व है उस परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु मुख से सदा के लिए छूट जाता है।[205] इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि सांसारिक विषयों को ग्रहण करने वाली। इन्द्रियों की परब्रह्म तक पहुँच नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य गार्गी को उपदेश देते हुए "अक्षर' परब्रह्म का विवेचन करते हैं– "हेगार्गी, वह अक्षर ब्रह्म स्थूल नहीं है, न अणु है, न ह्रस्व है, न दीर्घ है, न रस है, न गंध, न आँखे उसे देख सकती हैं, न श्रवण सुन सकता है, न वह मन या वाणी का विषय है, न तेज है, न प्राण और मुख से उसका सम्बन्ध है, न उसका कोई परिणाम है, न वह अन्दर है, न बाहर है, न रक्त है, न चिकना है, न छाया है, न अन्धकार है, न वायु है न आकाश है, न वह कुछ खाता है, न उसे कोई खा सकता है। यह सब न होते हुए भी वह परब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, सर्व स्रष्टा है, सर्वज्ञ है, स्वयं ही अपने प्रकाश का हेतु है, काल का भी महाकाल है। सम्पूर्ण दिव्य गुणों से

सम्पन्न है, सबको जानने वाला हैं, प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी है, समस्त गुणों का शासक है, और जन्म मृत्यु रूप संसार में बाँधने, स्थित रखने और उससे मुक्त करने वाला है।[206] दूसरे श्लोक में यह कहा गया है कि वह परब्रह्म परमेश्वर ही तन्मय–स्वरूप में स्थित है, अमृतरूप–एकरस–है। इस जगत् की उत्पत्ति, विनाश आदि परिवर्तन से उसका कोई परिवर्तन नहीं होता। इस समस्त जगत् का वही रक्षक है, और वही यथायोग्य नियंत्रण और संचालन करता है। दूसरा कोई भी सब पर शासन करने में समर्थ नहीं है।[207]

परब्रह्म देशातीत है, कालातीत है, और निमित्तातीत है। वह अप्रमेय है। चैतन्यात्मक होने के कारण परब्रह्म स्वयं विषयी है। 'अरस' और 'अशब्द' कहने का मतलब यह है किशब्द स्पर्श आदि के तुल्य विषय नहीं हो सकता है। इस जगत् के समस्त प्रकाश का कारण यही परब्रह्म परमात्मा है।

कठोपनिषद् में यमराज नचिकेता को उत्तर देते हुए सगुण और निर्गुण परब्रह्म की शक्ति और महत्ता का वर्णन करते है। उस स्वप्रकाश परमानन्द स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर के समीप सूर्य प्रकाशित नहीं हो सकता, चन्द्र तारे नहीं चमक सकते, बिजलियाँ नही चमक सकतीं, अग्नि नहीं जल सकती। उस प्रकाशशील परब्रह्म परमेश्वर से प्रकाश शक्ति पाकर ही ये सब प्रकाशित होते है।[208]

सगुण और निर्गुण शब्द के ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन वेदा त की दृष्टि से किया गया है। अब यहाँ विचारणीय है कि शास्त्रों में ब्रह्म के दोनों रूपों के प्रमाण उपलब्ध होते है। यदि कहे कि एक ही वस्तु में परस्पर विरूद्ध दो धर्मो की स्थापना अत्यन्त असम्भव है तो ऐसा वे कहना उचित नहीं होगा क्योंकि उस ब्रह्म का परस्पर विरूद्ध अनेक धर्मो को स्वीकार करना स्वभाव ही है। जिस प्रकार पृथ्वी एक ही काल में किसी बीच मेंअंकुर उगाती है, किसी में नही। अतः एक ही समय में अंकुर के प्रति वह सगुण है और बीज के प्रति निर्गुण। यही स्थिति ब्रह्म के संबंध में भी समझनी चाहिए, क्योंकि भगवान् असंख्य गुणों के आश्रय हैं। सभी गुण पूर्ण रूप से एक मात्र ब्रह्म में ही रहते हैं। जीव में भगवत्कृपा से अंशतः दिखते हैं। परमेश्वर भक्तों की आवश्यकतानुसार कतिपय गुणों को प्रगट करते हैं उनके अनुसार वे सगुण होते हैं और उसी समय परमेश्वर जिन गुणों को छिपाये रखते है उनके प्रति वे उसी समय निगुर्ण भी रहते हैं, क्योंकि निर्गुण शब्द का अर्थ ही है– "र्निर्लीनाः गुणाः यस्मिन् तन्निर्गुणः" है।

अर्थात् जिसमें पृथिवी में बीज की भॉति सभी गुण लीन अर्थात् छिपे रहते है वे ही निर्गुण हैं, इसलिए भगवान ने गीता में स्पष्ट कहा है कि ब्रह्म निर्गुण भी है और गुणों का भोक्ता भी।[209]

रामचरितमानस में भी इसका समर्थन किया गया हैः–

निर्गुण सगुण–विषम सम रूपं। ज्ञान गिरा गोतीत अनूपं।।

रामचरितमानस में निर्गुण और सगुण पक्ष के सम्बन्ध में गोस्वामी

तुलसीदास जी का सिद्धान्तानुरूप समाधान ध्यान देने योग्य है–

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।।

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें।।[210]

उपर्युक्त चौपाई के पूर्वार्ध में आक्षेप किया गया है कि जो गुणों से रहित हो वह गुणवान नहीं हो सकता और उत्तरार्द्ध में गोस्वामी जी उसका समाधान भी करते है कि जैसे– जल द्रव होने के कारण निराकार है तथा वर्फ सघन होने के कारण साकार है, किन्तु इन दोनों में वस्तुगत कोई पार्थक्य नहीं है। दोनों में समान रूप से जल का धर्म विद्यमान है। उसी प्रकार निर्गुण – सगुण तथा निराकार – साकार में कोई वस्तुगत भेद नहीं है। दोनों में समान रूप से ब्रह्मत्व विद्यमान है। जैसे–जल निर्गुण होता है, पुनः वही जल धनीभूत होकर हिम उपल होकर सगुण हो जाता और दोनों में ही शैत्य रूप गुण समान होते है। किन्तु जल में वह दिखाई नहीं देता और वर्फ तथा ओले में दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म निर्गुण अवस्था में गुणों को छिपा लेता है और सगुण पक्ष में उसे प्रगट करता है। इस दृष्टि से यहाँ निर्गुण शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी की जा सकती है "निर्लीनाः गुणाः पस्मिन्तन्निर्गुणः" अर्थात् जिसमें गुण विलीन रहते है, वही निर्गुण है। यही शास्त्रीय विग्रह है।

उपर्युक्त दृष्टांत से यह कहना भी उचित है कि जब परमेश्वर के गुण अपने प्रगट होने का यथेष्ट अवसर न पाकर परमेश्वर में छिप जाते है, उस समय उन्हें निर्गुण कहा जाता है परन्तु जब भक्तों पर आये संकट को दूर करने तथा

उनका अनुरंजन करने हेतु परिपूर्ण अवतार ग्रहण करते है तब वे सगुण कहे जाते हैं, किन्तु सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों में परमेश्वर का ब्रह्मत्व अक्षत रहता है क्योंकि ब्रह्म में माया का प्रसरण कभी भी संभव नहीं है इसीलिए श्रीमद्भागवत् में भगवान् के प्रति एक ही साथ निर्गुण और सगुण ये दोनों विशेषण दिये गये हैं– "निर्गुण माम् गुणाश्रयम्"[211] उक्त दृष्टि से भी ब्रह्म साकार भी है और निराकार भी है। जिस प्रकार ब्रह्म श्री राम में प्रत्यक्ष दर्शन की दृष्टि से साकारता है तथा वहीं कच्छप, मत्स्य, वाराह नृसिंह वामन, परसुराम, कृष्ण, बलराम आदि अवतारों की दृष्टि से निराकारता हैं, क्योंकि ये सभी आकार परब्रह्म राम में लीन है, जैसा कि गोस्वामी जी भी कहते हैं–

मीन कमठ सूकर नरहरी। वामन, परसुराम वपु धरी।।

जब–जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो।।[212]

रामचरितमानस में ब्रह्म राम "निज इच्छा निर्मित तनु" हैं। साधारण संसारी प्राणी के समान वह शरीर धारण नहीं करता। कर्म बन्धन और सत् रज, तम में बंधकर भी वह उनसे परे रहता है। भौतिक त्रिगुणात्मकता उसे बॉधती नहीं। वही कौशल्या की गोद में राम हैं–

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद।

सों अज प्रेम भगति बस कौशल्या के गोद।।[213]

सुद्ध सच्चिदानन्दमय कंद भानुकुल केतु।

चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु।।[214]

सुतीक्ष्ण राम के निर्गुण रूप से अधिक सगुण रूप के प्रति आकर्षित है। यद्यपि उन्हें इस बल का ज्ञान था कि राम ब्रह्म निर्गुण है। फिर भी वे कहते हैं–

जद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनंता। अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता।।

अस तब रूप बखानऊँ जानऊँ। फिरि–फिरि सगुन ब्रह्म रति मानऊँ।[215]

वस्तुतः राम निर्गुण होकर भी सगुण है और सगुण होकर भी निर्गुण। जो राम निर्गुण ब्रह्म है वही सगुण हो जाता है।

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।।

व्यापक विश्व रूप भगवाना। तेहिंधरि देह चरित कृत नाना।।[216]

अगुन सगुन दुई ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।।[217]

जनक राम को 'चिदानन्द निर्गुण गुनवासी' बताते है तो सुतीक्ष्ण 'सगुण विषय समरूपं'। जामवंत राम को निर्गुण मानते हुए भी अंगद को सगुण से प्रीति रखने का उपदेश देते हैं–

जामवंत अंगद दुख देखी। कहीं कथा उपदेश विसेषी।।

तात राम कहुँ नर जनि मानहुँ। निर्गुन ब्रह्म अजत अज जानहुँ।।

हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी।।[218]

सनकादि तथा अन्य ऋषियों की प्रार्थना में राम सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं। वेद यदि 'जय सगुन निर्गुन रूप'[219] कहकर राम की स्तुति करते हैं

तो सनकादि 'जय निर्गुण जय–जय गुनसागर, सुख मन्दिर सुन्दर अति नागर'[220] कहकर निर्गुण सगुण की स्थापना करते हैं। वस्तुतः राम वेदों के प्राण है और निर्गुण हैं–

विधि हरि हरमय वेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सों।।[221]

इस निर्गुण रूप में कोई पार्थक्य नहीं। वस्तुतः वे एक ही हैं। सगुण में ब्रह्म रूप ग्रहण करता है तो निर्गुण सूक्ष्म भाव से स्थित होता है। निर्गुण में सगुण की भी बड़ी स्थिति होती है। राम के इसी ब्रह्म स्वरूप को शास्त्रों और वेदों ने अपरम्पार बतलाया है। इस रूप की सेवा सभी करते हैं। वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास जी निर्गुण और सगुण ब्रह्म में कोई भेद नहीं मानते हैं– 'अगुनहिं सगुनहि नहि कछु भेदा'। वही अंगुन राम भक्त के कन्याण के लिए सगुण बन जाते है'–

अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई।'

सगुण–निर्गुण दोनों रूप परमार्थिक हैं। प्राकृतिक हेय गुणों से रहित होने के कारण राम निर्गुण और दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण सगुण कहे जाते हैं। तत्वतः उनमें कोई अन्तर नहीं है–

'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा'।

मानस में निर्गुण ब्रह्म की सगुणरूपता के कारण की समीक्षा–

रामचरितमानस में राम परमब्रह्म परमात्मा के पर्यायवाची है। वेदों में जो निर्गुण–सगुण ब्रह्म हैं वे ही मानस के राम है।

सारद शेष महेश विधि आगम निगम पुरान।

नेति–नेति कहि जासु गुन करहिं निरन्तर गान।[222]

तुलसीदास के राम, वेदों के निर्गुण राम तथा पुराणों के सगुण राम है। महर्षि व्यास ने श्रीमद्भागवत् या अन्य पुराणों में जिस भगवान् का कीर्तन गान किया है, तुलसी ने भी उसी भगवान् राम को राम चरित मानस का प्रतिपाद्य बनाया है। राम वेदों तथा पुराणों के ही राम है अन्य नहीं।

तुलसी ने निर्गुण ब्रह्म से बड़ा सगुण ब्रह्म राम को माना है और निर्गुण ब्रह्म का भी अत्यन्त समादर किया है।

अगुन सगुन दुई ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।।

यद्यपि पूर्व में निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म निरूपण के प्रसंग में ब्रह्म के दोनों रूपों की विवेचना की गई है किन्तु अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म का निर्गुण रूप ही पारमार्थिक स्वीकार किया गयाहै। रामचरितमानस में गोस्वामी जी ने एक शंका उठायी और उसका समाधान भी किया हैः–

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल विलग नहिं जैसे।[223]

उपर्युक्त चौपाई के पूर्वार्ध में आक्षेप किया गया है कि जो गुणों से रहित होता है वह गुणवान नहीं हो सकता और उत्तरार्द्ध में गोस्वामी जी उसका समाधान भी करते है कि जैसे– जल द्रव, होने के कारण निराकार है तथा बर्फ सघन होने के कारण साकार है, किन्तु इन दोनों में वस्तुगत कोई पार्थक्य नहीं है। दोनों में समान रूप से जल का शैत्य धर्म विद्यमान है उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म आवश्यकतानुसार सगुण साकार हो जाता है।

गोस्वामी जी ने निर्गुण ब्रह्म की सगुणता के सम्बन्ध में अन्य कारणों को भी स्पष्ट किया है–

अगुन अरुप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।[224]

अर्थात् जो ब्रह्म निर्गुण और निर्विकल्प हैं वहीं भक्तों के प्रेमवश सगुण रूप में इस धरा धाम पर अवतीर्ण होता है।

उपनिषद् तथा कतिपय वेदान्तियों का कथन है कि निर्गुण निर्विकार ब्रह्म सगुण ब्रह्म के रूप में अवतरित नहीं होता – ''ईश्वरोनावतरति व्यापकत्वाद् आकाशवत्''। परन्तु इसके आशय या दृष्टान्त का मनन करने के पश्चात् इस दृष्टान्त का भाव स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि आकाश भी वायु के रूप में अवतीर्ण होता है, पुनः उसका तेज, जल और पृथ्वी के रूप में अवतरण हुआ करता है। श्रीमद्‌भागवत् के प्रथम स्कन्ध में भगवान् के अवतारवाद तथा उनके अवतारों का स्पष्ट दिग्दर्शन है।

श्रीमद्‌भगवत् गीता में भी निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूप में अवतरित होने का कारण दर्शाया गया है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृति स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।[225]

इस प्रकार श्रुतियों पुराणों तथा गीता आदि से भी प्रमाणित होता है कि परात्पर ब्रह्म का अवतरण साकार विग्रह में होता है। अब यहाँ आलोच्य विषय यह है कि सगुण साकार रूप में ब्रह्म के अवतरित होने का कारण क्या है?

भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं इसका उत्तर दिया है–

'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।[226]

तथा उन्हीं के ही तद्रूप भगवान् शंकर भी उनकी व्यापक कीर्ति विस्तृति के साथ ही उसी की पुनरावृत्ति कर उस पूर्वोक्त कथन का समर्थन करते है–

मीन कमठ सूकर नरहरी। वामन परशुराम वपुधरी।।

जब–जब नाथ सुरन दुख पायो। नाना तनु धरि तिन्हई नसायो।।[227]

'असुर मारि थापहि सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।

जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु।।''[228]

भगवान् श्री कृष्ण के अनुसार धर्म की रक्षा के लिए और अधर्म के नाश के लिए ब्रह्म को सगुण रूप धारण करके अवतीर्ण होना पड़ता है। राम चरितमानस में पार्वती द्वारा पूछे जाने पर–

नाथ धरेऊ नरतनु केहि हेतु। मोहिं समुझाई कहउँ वृष केतू।।

प्रश्न सुनते ही अन्य कारणों के होते हुए भी भगवान शंकर ने केवल एक कारण का ही उल्लेख किया–

'व्यापक विस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृतनाना।

सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपालु प्रनत अनुरागी।[229]

वहीं पर लक्ष्मण ने प्रभु के अवतार हेतुओं में सर्वप्रथम स्थान प्रभु की अहैतुकी कृपा को ही देते हैः–

'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।

करत चरित धरि मनुज तनु। सुनत मिटहिं जग जाल।।''[230]

मानस में कई स्थलों पर इसी प्रकार के कारण बतायें गये है–

(क) भगत हेतु भगवान् प्रभु राम धरेउ तनु भूप।[231]

(ख) निज इच्छा प्रभु अवतरहिं सुर द्विज गो महि लागि।।[1232]

कृपा निधान की कृपा ही अवतार कारणों में सर्व प्रमुख है। कृपा–आकर की अपार निधि ही उसकी अहैतुकी दया है। वही उसकी परम कामना है, 'निज इच्छा'[233] है। भक्तों पर विशेष अनुग्रह प्रदर्शन ही उन्हें शरीर विग्रह में सीमित कर प्रणत भक्त के सन्मुख दयार्द्र करूणार्द्र बना देता है। उसी की प्रेरणावश भक्त अपनी भक्ति की ओर प्रवृत्त होकर साकार अवतरण का सम्बल पा जीवन्मुक्त बन जाता है इसीलिए 'अध्यात्मरामायण' में उनके अवतार का हेतु ''भक्तानां भक्ति सिद्धये''[234] भी कहा है।

प्रायः मानस के प्रसिद्ध ऋषि मुनि तथा देवगण वेद पुराण वर्णित राम के निर्गुण रूप की चर्चा सगुण ब्रह्म के महत्व को जानने के लिए ही करते हैं।

क्योंकि उनके लिए निर्गुण ब्रह्म को जानना सुलभ है किन्तु सगुण ब्रह्म का स्वरूप उन्हें ज्ञात नहीं है, जिससे उनके मन में भ्रम उत्पन्न होता है–

निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन जानि नहिं कोइ।

सुगम अगम नाना चरित सुनिमुनि मन भ्रम होइ।[235]

गोस्वामी जी की दृष्टि में ब्रह्म का निर्गुण रूप अत्यन्त समादरणीय है किन्तु परब्रह्म राम का सगुण साकार रूप सर्वोत्कृष्ट,जो उनकी भावना और दृष्टिकोण का प्रतिरूप ही है–

कोउ ब्रह्म निर्गुण ध्याव। अव्यक्त जेहिश्रुति गाव।।

मोंहिभाव कोसल भूप। श्री राम सगुन सरूप।।[236]

निष्कर्षः–

द्वैत–अद्वैत, तुलसी का दार्शनिक समन्वयवाद अत्यन्त विवाद का विषय रहा है। तुलसी के युग में वेदान्त का प्रभुत्व था। उसके भीतर भी दो तरह के संघर्ष थे– 1– सभी वैष्णव आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद और मायावाद के विरोधी थे।[237] सभी अद्वैतवादी[238] मध्व के द्वैतवाद के विरोधी थे। तुलसीदास जी शंकर के ब्रह्मवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद से मुख्यतया प्रभावित है। परन्तु अन्य मतों से भी उन्होंने विचार ग्रहण किये है।[239] यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपनिषदों और वेदान्त सम्प्रदायों में जो मान्यताएं समान रूप से पायी जाती है, वे तुलसीदास जी को स्वीकार्य है, जैसे ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, वह जगत का अभिन्ननिमित्तोंपादान और आश्रय है आदि। परन्तु जहां अद्वैतवादियों

और वैष्णव वेदान्तियों में मतभेद है, वहां उन्होंने समन्वयवादी दृष्टि से काम लिया है। केवलाद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्मस्वरूपतः निर्गुण, निर्विशेष और निर्लक्षण है, अर्थात् उसमें कृपा आदि विशेषताएं नहीं है। माया अविद्या है, उसके अस्तित्व के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, माया की उपाधि से मुक्त सगुण ब्रह्म (ईश्वर) हो अवतार लेता है, एकमात्र निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है, जीव–जगत और ईश्वर सब मिथ्या है, केवल ज्ञान ही मुक्ति का साधन है, आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना जीव के जीवत्व का नाश ही मुक्ति है। वैष्णव आचार्यो के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः सगुण अर्थात कृपा आदि दिव्यगुणों से युक्त है, वही कृष्ण आदि के रूप में अवतार लेता है, उसी की शक्ति माया है, जीव उसी का अंश है, भिन्न प्रतीयमान जगत् उससे अभिन्न है, भक्ति मुक्ति का अमोघ साधनहै, सालोक्य आदि मुक्तियां श्रेष्ठ है।

<u>**निर्गुण और सगुण**</u> – निर्गुण और सगुण का विवाद दो क्षेत्रों में था, दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में, और भक्ति के क्षेत्र में। शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्मवाद के विरूद्ध, रामानुज और वल्लभ ने बहुत बल देकर ब्रह्म को स्वभावतः सगुण बतलाया था।[240] तुलसी ने राम को बारम्बार निर्गुण – सगुण स्वरूप कहा है।[241]

1– सगुनहिं अगुमहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।।

2– अगुन सगुन दुई ब्रह्म स्वरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।।

3– जय सगुन निर्गुन रूप – अनूप भूप सिरोमने।

वस्तुतः राम एक हैं। वे ही निर्गुण और सगुण निराकार और साकार अव्यक्त और

व्यक्तं अंतर्यामी और बहिर्यामी, गुणातीत और गुणाश्रय है।[242] निर्गुण राम ही भक्तों के प्रेमवश सगुण रूप में प्रकट होते हैं।[243] दोनों में कोई विरोध नहीं है। यह विश्वास की बात है। अपनी प्रीति –प्रतीति के अनुसार भक्त उन्हें किसी भी रूप में भज सकता है। तुलसी और उनके काव्य में अंकित भक्त सगुण रूप के उपासक है, क्योंकि सगुण राम की भुजाएं ही भक्तों पर छाया करती आयी हैं, कर रही हैं औरकरती रहेंगी। इसका मनोवैज्ञानिक कारण है। भक्त अपने चारों ओर उस प्रेमास्पद भगवान को देखना चाहता है,जो संकट के समय उसकी रक्षा कर सकें।

इसलिए स्वरूपतः अभिन्न होते हुए भी अंतर्यामी की अपेक्षा बहिर्यामी श्रेष्ठ है।[244] पुनश्च तुलसी दास जी के सगुण – साकार राम में रूप और गुण का, शील, शक्ति और सौन्दर्य का, अनुपम समन्वय है।

<u>भगवान का दिव्यगुणावतार</u> –

परब्रह्म जब इस धरा धाम पर अवतार स्वरूप अवतीर्ण होता है तो उसे गुणावतार के रूप में भी शास्त्रों में बताया गया है। क्योंकि यह ब्रह्म का पुरूषावतार उनका स्वयं रूप है। जिसे हम पुरूषोत्तम[245] नाम से भी पुकार सकते हैं। परन्तु परब्रह्म के अंशसे उत्पन्न सत् रज, तम त्रिगुण के अधिनायक ब्रह्मा, विष्णु, महेश उनके गुणावतार हैं। ये अवतार भी उनके अंशी होने के कारण पूर्णावतार ही कहे जाते हैं। इन गुणावतारों को भी जगद् व्यापार में सृजन, पालन तथा संहार के क्रमशः अधिकार प्राप्त है। ये भी भगवद्विभूति रूप[246] अवतरित अंश है। अतः इनमें भी सर्वदा स्वरूपस्थिति सर्वज्ञत्व, नित्यनूतनत्व, सच्चिदानन्द

विग्रहत्व तथा सकल सिद्धियों का वशकारित्व अंश रूप में स्थित है।

श्रीमद् रूप गोस्वामी पाद ने इन गुणावतारों के 55 (पचपन) गुणों के नामों का उल्लेख किया है[114]:–

1– सर्वज्ञत्व 2– स्वरूपस्थिति 3– निव्यनूतनत्व 4– सच्चिदानन्द विग्रहत्व 5– सिद्धियों का वर्गीकरण 6– सुरम्यांगत्व 7– सर्वसुलक्षणसद्भाव 8– रूचिरता 9–तेजस्विता 10–बलवत्व 11–वयः, 12–सम्बन्ध 13–नाना अद्भुद भाषा ज्ञान 14–सत्यवादिता 15– प्रियवादिता 16– बावदूकता 17– सुपाण्डित्य 18–बुद्धिमत्ता 19–प्रतिमा सम्बन्ध 20–विदग्धता 21– चातुर्य 22– दक्षता 23–कृतज्ञता 24–सुदृढब्रतत्व 25–देशकालपात्रज्ञान, 26–शास्त्रदृष्टि 27– शुचित्व 28–वशित्व 29–स्थैर्य 30– दम 31– क्षमा 32– गंभीरत्व 33– घृति 34–साम्य 35– वदान्मता 36–धार्मिकत्व 37– शौर्य 38– करूणा 39– मान्यमानकारिता 40–दाक्षिण्य 41–विनय 42–ह्री 43–शरणागतपालकत्व 44– सुखित्व 45–भक्तसौहार्द 46–प्रेमवश्यकारिता 47–सर्वशुभंकारिता 48–प्रताप, 49–कीर्ति 50–लोकप्रियता 51– साधुसभाश्रयत्व 52– नारीचितरंजनत्व 53– सर्वाराध्यत्व 54–समृद्धिशालिता 55–वरीयस्ता तथा 56– ऐश्वर्य।

अध्यात्मरामायण में भी राम का त्रिदेवों के साथ एकीकरण ही दर्शा कर राम के व्यापक आदि रूप का चित्रण किया।

एष रामः परो विष्णुरादिनारायण'' कह कर उन्हीं को त्रिदेव स्वरूप भी दर्शाया है :–

एष एव रजोयुक्तो ब्रह्माभूद्विश्वभावन।

सत्वाविष्टस्तथ विष्णुस्त्रिजगत्प्रतिपालकः।।

एषरूद्रस्तामसोऽन्ते जगत्प्रलयकारणम्।।

वही राम रजोगुण से युक्त विश्वसृष्टिकर्ता ब्रह्म हैं। सत्वगुण से युक्त होकर त्रिभुवन प्रतिपालक विष्णु हैं, तथा वही तमोगुणाधीश संसार के प्रलयंकारी शंकर हैं।

अतः सूक्ष्म निरीक्षण के पश्चात स्पष्ट है कि "राम" गुणावतार के आदि स्वरूप भी है। त्रिगुणाधीश्वर त्रिदेव स्वरूप भी राम के स्वरूपान्तर्गत ही है।

<u>भगवान श्रीराम के दिव्यगुणों का स्वरूप</u> –

उत्तर रामचरित के अनुसार लोकोत्तर ईश्वरों के चरित्र वज्र से भी कठोर एवं कुसुम से भी कोमल होते है[247] उन्हें कौन जान सकता है। भगवान राम में अनन्त गुण है, जिसका वर्णन सम्भव नहीं है। आदिकवि बाल्मीकि ने राम के कतिपय गुणों का वर्णन रामायण में किया है। दृढ़ प्रतिज्ञ उनका प्रथम गुण है। राम कहते है कि हे सीते मैं लक्ष्मण और तुमको भी त्याग सकता हूँ, परन्तु मैं प्रतिज्ञा का विशेषतः ब्राम्हणों के प्रति की गई प्रतिज्ञा का त्याग नहीं कर सकता हूँ[248] सत्य पराक्रमी राम देते है प्रत्तिग्रह नहीं करते, सत्य बोलते हैं अनृत नहीं बोलते।[249] इस प्रकार अप्रत्तिग्रह तथा सत्य राम के गुण हैं। राम के क्रोध और प्रसाद निरर्थक नहीं होते अर्थात् उनके क्रोध और प्रसाद अमोघ हैं। वैवध्य व्यक्ति का अवश्य वध करते हैं और निर्दोष अवध्य के प्रति कभी भी कुपित नहीं होते

हैं।[250] राम की धर्म में तत्परता, मुख में मधुरता, दान में समुत्साह मित्र के प्रति अव्यक्तता तथा गुरू के प्रति विनयी थे, उनके चित्त में गम्भीरता आचार में पवित्रता गुणों में रूचि शास्त्रों में अभिज्ञता रूप में सुन्दरता एवं हरि में भक्ति भी अत्यन्त उत्कृष्ट थी।[251]

राम में मृदुता,करूणा, श्रुत (परम्परा से वेदादि शास्त्रों का ज्ञान) शील इन्द्रिय, निग्रह, मनोनिग्रह ये छः गुण राघवेन्द्र राम को शोभित करते हैं।

शोभा, कान्ति, छवि, वर्ण लक्षण, लावण्य,अभिजात्य, सौभाग्य शम आदि रूप से सभी भेद राम के सम्बन्ध से ही शोभित होते है।

"रूपं वर्णः प्रभा राग आभिजात्यं विलासिता।

लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः।।"

"अवयवानां रेखास्पाष्ट्यं रूपम्, गौरत्वादिधर्मविशेषो वर्णः, चाकचिक्यरूपा कान्तिः प्रभा, नैसर्गिकस्मेरत्वादिः सर्वेषां चक्षुर्बन्धको रागः, कुसुम धर्मा मार्दवादिस्पर्शविशेष आभिजात्यम्, कटाक्षादिः विलासः तरलता लावण्यम्।"

अंगों की रेखाओं की स्पष्टता रूप है, गौरत्वादि धर्म विशेष वर्ण है, चाकचिक्यादि कान्ति प्रभा है, चक्षुओं को बांधने वाला स्मितमुखत्वादि ही राग है, कुसुम के समान कोमल स्पर्श विशेष आभिजात्य है, कटाक्षादि विलास है एवं तरलता लावण्य है।

श्रीराम दिव्य लावण्य और सौन्दर्यपूर्ण दिव्यरूप सेसम्पन्न, वीर्यवान एवं असूयारहित थे। वे गुणों में दशरथ के तुल्य तथा भूमि भर में अनुपम पुत्र थे।

वे नित्य शान्तात्मा, मृदुभाषी एवं पहले ही बोलते थे। दूसरे के परूष वचन बोलने पर भी वे परूष उत्तर नहीं देते थे। वे किसी के द्वारा किये गये एक उपकार से ही सन्तुष्ट हो जाते थे और आत्मवान होने के कारण उसके सैकड़ों अपराधों का भी स्मरण नहीं करते थे –

"सच नित्यं प्रशान्तात्मा मृदु पूर्व प्रभाषते।
उच्यमानोऽपि परूषं नोत्तरं प्रतिपद्यते।।
कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
विस्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।।[252]

वे शीलवृद्ध, ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध सज्जनों से अस्त्र शस्त्रादि श्रम के भी मध्य में सदा ही वेद वेदान्त नीति सम्बन्धी चर्चा करते रहते थे। अन्य समय में सुतरां सज्जनों से शास्त्ररहस्य की चर्चा ही करते थे। राम परम बुद्धिमान तथा आये हुए लोगों से पहले ही बोलते थे। शब्दतः मधुराभिभाषी एवं अर्थतः प्रियंवद थे। वीर्यवान होने पर भी अपने महान वीर्य से विस्मित नहीं होते थे। अनृत कथा कभी नहीं करते थे। वे विद्वान थे और वृद्धों के पूजक थे। प्रजा सदा राम का अनुरज्जन करती थी और राम सदा ही प्रजाका अनुरज्जन करते थे। प्रजा का रंजन करने से ही राजा होता है, "रंजनाद्राजा" इस उक्ति को वे चरितार्थ करते थे। राम सानुक्रोश अर्थात् दुखियों के प्रति दयालु थे। जितक्रोध एवं विशेषरूप से ब्राह्मणों के प्रतिपूजक थे। दीनों पर अनुकम्पा करने वाले धर्मज्ञ एवं नित्य ही दुष्टनिग्रह एवं इन्द्रियनिग्रह में तत्पर तथा पवित्र थे। कुक्षोचित बुद्धि अर्थात अपने

कुल के अनुसार दया, दाक्षिण्य, शरणागत रक्षण आदि धर्मो में उनकी बुद्धि सदा रहती थी, अतएव क्षात्र धर्म प्रजापालनादि का बहुत आदर करते थे और उसके द्वारा महान स्वर्गफल की प्राप्ति समझते थे। श्रेय के विपरीत कर्म में उनकी कभी रति नहीं होती थी एवं उनकी धर्म विरूद्ध कथा में कभी रूचि नहीं होती थी।

राम कभी भी अश्रेयस्कर निषिद्ध कर्म में प्रवृत नहीं होते थे। वे आरोग अर्थात सत्कर्मानुष्ठानसमर्थ तरूण विपुलांशत्व आदि उत्तम लक्षणवाले वपु से युक्त; तत्तत्कर्मयोग्य देश तथा काल के ज्ञाता थे एवं निग्रह और अनुग्रह के लिए पुरूषों की अधर्मिष्ठता आदि जानते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि मानों ब्रह्मा द्वारा वे संसार में एक मात्र सर्वगुणयुक्त साधु पुरूष निर्मित हुए हैं। राम गुणों के कारण श्रेष्ठ गुणों से युक्त प्रजा जनों के बहिश्चर प्राणों के तुल्य परम प्रिय थे। वे यथावत सांगोपांग वेदों के ज्ञाता थे और तत्तद विद्याओं के लिए अपेक्षित व्रतों का अनुष्ठान कर व्रतस्नात हुए थे। मन्त्रहीन शस्त्रों एवं मन्त्रयुक्त अस्त्रों में भरताग्रज राम अपने पिता से भी श्रेष्ठ थे। विविध कल्याणों की वे जन्मभूमि थे। वे साधु तथा क्षोभ के हेतु उपस्थित होने पर भी अक्षुब्ध अन्तःकरण वाले, सत्यवाक एवं धर्मार्थदर्शी वृद्ध ब्राह्मणों द्वारा शिक्षित तथा सौम्य थे। वे धर्म, अर्थ और काम के याथात्म्य को जानने वाले और स्मृतिमान तथा प्रतिभा सम्पन्न थे। वे लौकिक कार्यो के करने में सामर्थ्यसम्पन्न तथा समयाचार धर्म में कुशल थे। वे विनीत, गूढ अभिप्राय वाले तथा फल निष्पत्ति पर्यन्त मन्त्रणा को गुप्त रखने वाले थे और मित्रत्वेन सब लोगों द्वारा अज्ञातमित्रों से सुरक्षित थे एवं उन्हीं के द्वारा परराष्ट्र भेद आदि में पूर्ण साहाय्य प्राप्त करते थे। राम के क्रोध और हर्ष

दोनों अमोघ थे। जिस पर प्रसन्न होते उसे निहाल कर देते थे। सत्पात्र में क्तिदान एवं न्यायपूर्वक धन संग्रह के वे कालज्ञ थे। वे गुरू आदि में दृढभक्ति वाले तथा स्थितप्रज्ञ अर्थात् विस्मृतिरहित थे। वे असदग्राही दुर्वचन बोलने वाले नहीं थे, आलस्यरहित, सावधान एवं स्वदोष तथा परदोष को जानने वाले थे। वे शास्त्रज्ञ, कृतज्ञ तथा परकृत अल्पउपकारों को भी जानते थे और वे पुरूषों के अन्तर (तारतम्य) को जानने वाले थे। शास्त्र समूहों तथा प्राकृतादि भाषामिश्रित नाटकादि में वे निपुण थे। निरालस्य होकर अर्थ और धर्म का संग्रह कर अर्थ और धर्म के अविरूद्ध काम का भी आदर करते थे। धनुर्वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ और अतिरथों से आदृत थे। वे परसेना के सम्मुख अभियान करने वाले एवं शत्रुओं पर प्रहार कर विजय पाने वाले थे। सेनाओं के नयन तथा व्यूह निर्माण आदि में विशारद थे। संग्राम में क्रुद्ध हुए देवताओं तथा दानवों के द्वारा भी सर्वदा अप्रधृष्य थे। असूया,क्रोध, घमंड तथा मत्सर से रहित थे। कोई प्राणी उनकी अवज्ञा नहीं कर सकता था। प्राकृत पुरूषों के समान वे कालपराधीन न होकर स्वायत्त परिकर थे। सर्वश्रेष्ठ गुणों से युक्त राजकुमार राम प्रजाजनों के सम्मत सर्वश्रेष्ठ गुणों से युक्त हैं। वे अपने क्षमा प्रधान गुणों के कारण वसुधा के तुल्य बुद्धि में वृहस्पति के तुल्य तथा वीर्य में इन्द्र के तुल्य थे। पिता को प्रसन्नता देने वाले तथा सभी प्रजाजनों के अभीष्ट उत्तम गुणों से राम इस प्रकार प्रदीप्त हुए जैसे अंशुजालों के द्वारा सूर्य दीप्त होता है। एवं गुण सम्पन्न तथा अप्रधृष्य पराक्रम वाले राम लोकनाथ विष्णु के तुल्य है। उन राम कोमेदनी ने अपना पति बनाना चाहा।[253] तभी मारीच जैसे राक्षस ने भी राम को निर्दोष विग्रहवान धर्म ही

बतलाया था।

"रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः।[254]

राम धर्म के मूर्तिमान् रूप है। साधु एवं सत्य पराक्रमी हैं। लंका जैसे वैभवशाली राष्ट्र को जीतकर भी राम ने उसके वैभव पर दृष्टि नहीं डाली। रावण के भाई विभीषण को ही लंका सौंप दी।

"द्विः शरं नाभिसन्धते", "रामो द्विर्नाभिभाषते।"[255]

राम दो बार बाण नहीं चलाते और दो बार नहीं बोलते अर्थात् एक ही बाण से सब अभीष्टों की सिद्धि हो जाती थी।

इस प्रकार महर्षि बाल्मीकि ने भगवान श्रीराम के अनन्त दिव्य गुण गणों का वर्णन रामायण में बड़े समारोह के साथ किया है। वस्तुतः उनकी दृष्टि से भगवान श्री राम के अनन्त दिव्य गुण है जिसका समग्र वर्णन करना सम्भव नहीं है।

गोस्वामी तुलसी दास जी ने भी महर्षि बाल्मीकि द्वारा वर्णित भगवान के दिव्य गुणों को रामचरितमानस में सांगोपांग पिरोया है, जिसे उद्धृत करना आवश्यक नहीं है। परन्तु मानस में भगवान् के कतिपय दिव्य गुणों को जो सर्वोपरि है उन्हें उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है। गोस्वामी जी स्वयं भक्त थे, अतएव भक्तवत्सल राम का गुण उन्हें स्पृहणीय थां तुलसी ने अपने इष्टदेव की प्रतिमूर्ति शक्ति, शील, सौन्दर्य समन्वित प्रस्तुत की जिसमें लोकरंजक एवं लोकरक्षक दोनों ही गुण विद्यमान हुए। तुलसी के आराध्य राम की भक्त

वत्सलता दीन बन्धुत्व तथा शरण्यता भक्तों का सर्वस्व बन गई। मानस में राम का यह रूप अत्यन्त उज्ज्वल चित्रित हुआ है। राम के इस रूप की अनेकों दिव्य गुण रश्मियां भक्त को रससिक्त कर देती है।

रामचरित मानस में भगवान श्रीराम के प्रमुख गुण इस प्रकार है–

दीनानाथत्व भक्तवत्सलत्व, शरणागतवत्सलत्व पतितपावनत्व तथा कृपानिधानत्व

<u>भगवान् श्रीराम का दीनानाथ रूप</u> –

मानस में भगवान् श्रीराम अयोध्या के ही नाथ नहीं –

"मीन पीन पाठीन पुराने" का व्यवसाय करने वाला भी उनको देख गदगदवाणी से कह उठता है –

'नाथ आज मैं काह न पावा। मिटे दोष दु:ख दारिद दावा।।

अमित काल मैं कीन्ह मंजूरी। आजु दीन्ह विधि मोहि भरिभूरी।।[256]

वह तो फिर भी निषादराज था। वन के अन्य कोल किरातादि वर्ग भी उस रूप के प्रति भाव तन्मय होकर राम की ओर उन्मुख हो उठे। वे स्तम्भित होकर सजल नयन पुलकित तन होकर स्नेह मग्न हो उठे। भाव वत्सल राम की दीन बन्धुता उमड़ चली और उन वन्य व्यक्तियों के प्रति अभिन्न कृपा का प्रदर्शन करने लगे–

वचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक वैन।[257]

तुलसी भी इस रूप की समीक्षा किये बिना न रह सके और कह उठे –

'रामहि केवल प्रेमु पियारा।

राम सकल बन चर तब तोषे। कहि मृदु वचन प्रेम परिपोसे।।[258]

जब जानवरों के प्रति राम की भाव प्रवणता का यह स्वरूप था तो फिर उत्तम वर्ग के प्रति तो उनका दीन बन्धुत्व सहज ही आंका जा सकता है। इसी लक्षण के कारण ही तो तुलसी ने अपने राम को सकल जीव जन्तु का प्राण प्रिय बना दिया।

'अस को ज़ीव जन्तु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं।।[259]

तथा अपना निष्कर्ष भी गोस्वामी जी ने कह सुनाया –

''अति कृपाल रघुनायक सदा दीन पर नेह।[260]

तपोनिष्ठ भक्त शिरोमणि सुतीक्ष्ण भी इसी कारण से राम के दीनबन्धु रूप को ही पुकार कर कृपा के अभिलाषी बनते है –

'हे विधि दीन बन्धु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहिं दाया।।[261]

और तो और अभिन्न स्वरूप जगज्जननी जानकी भी उनके दीनबन्धुता से परिचित होने के कारण अपनी विरहावस्था में उसी रूप की पुकार करती है–

'दीन दयालु विरदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी।।[262]

<u>शरणागतवत्सल राम</u> –

भगवान् श्रीराम का शरण्यत्व मानस में सर्वत्र वर्णित है तुलसी के राम ने स्वयं घोषित किया है कि –

कोटि विप्र वध लागहिं जाहू । आये शरन तजहु नहिं ताहूँ।[263]

प्रभु के शरणागत सभी वर्गो के व्यक्ति हैं, यह उनके शरण्यत्व की विशालता का प्रतीक है।

सात्विक गुण के प्रतीक भरत प्रभु के शरणापन्न होते है क्योंकि वे उनकी शरणागति का स्वरूप जानते हैं।

मैं जानऊँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहुँ पर कोह न काऊ।[264]

राजसी गुण के प्रतिनिधि सुग्रीव निज स्वार्थ की प्रेरणावश प्रभु की शरणापन्न हुआ और प्रभु की शरणागत वत्सलता मुखरित हो उठी।

तब रघुपति उठाई उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा।[265]

इतना ही नहीं शरण में लेने के उत्तरदायित्व का संकल्प भी कर डाला।

सखा सोच त्यागहु बल मोरे।[266]

सुन्दरकाण्ड में विभीषण की शरणागति तो प्रपन्न भक्तों का साधन सर्वस्व ही बन गई है। अपने भ्राता रावण से तिरस्कृत विभीषण दीनानाथ प्रभु का चरण चिन्तन करता हुआ आता है और दूर से विरूदावली वर्णन करता हुआ कहता है–

श्रवन सुजसु सुनि आयऊँ प्रभु भंजन भव भीर।

त्राहि – त्राहि आरति हरन श्रवन सुखद रघुवीर।।[267]

इसी प्रकार राक्षस मारीच भी राम का सानुराग शरणागति प्राप्त करना चाहता है।

'तब ताकिसि रघुनायक सरना'

प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि रामु समेत सनेहा।।

अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना।।[268]

तत्व द्रष्टा मन्दोदरी राम के इस रूप से परिचित होने के कारण ही रावण को शरणापन्न होने का आदेश देती है –

"सोइ रघुवीर प्रनत अनुरागी। भजहु नाथ ममता मद त्यागी।।[269]

राम की शरणागत वत्सलता की विस्तृत परिधि दर्शनीय है –

'कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी।।

तेऊ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए।।[270]

उनके शरण्यत्व में 'भुवन भूषण' बनाने की दिव्य शक्ति है।

<u>पतितपावन राम</u> –

"सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जन्म कोटिअघ नासहुं तबहीं।। का संकल्प करने वाले राम का पतितपावनत्व अत्यन्त कल्याण भावना एवं औदार्य से युक्त. होता है।

भक्त में अभिमान उसके पतन का मूल होता है। भगवान् राम कितने भक्त वत्सल है कि "सुनहु राम कर सहज सुभाऊ।

जन अभिमान न राखहिं काऊ।।[137]

के अनुसार अहंकार विगलन से ही भक्त का कल्याण सोच सर्वप्रथम राम इस विनाश के मूल की ही समाप्ति करते हैं। नारद, जयन्त, समुद्र, गरूड़ काकभुशुंडि सबका गर्व विष शोषण कर उन्हें भी पतित से पावन नहीं अपितु 'पतित पावन' की सी ही श्रेणी पर स्थित कर दिया है।

इस रूप में राम की एक विशेषता और उल्लेखनीय है, वह है उनका क्षमाशील एवं उदार स्वरूप। वे पतित पावन हैं, परन्तु इस महान उपकार का उन्हें न तो अभिमान है और न कोई भक्त के पूर्वकृत कर्मो के प्रति उपेक्षा भाव। यही है उनके औदार्ययुक्त क्षमाशीलता का प्रमाण ।

"जेहि अघ बधेउ व्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली।।

सोई करतूति विभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी।।

ते भरतहिं भेटत सनमाने। राज सभा रघुबीर बखाने।।[271]

<u>**कृपानिधान राम**</u> – उपर्युक्त सभी·रूपों में भी प्रभु कृपा की अजस्त्र निर्झरिणी तो प्रवाहित ही है, इसके अतिरिक्त अधिकांश प्रसंगों में करूणा निधान राम की कृपालुता वर्णित है।

'भगत बछल कृपालु रघुराई। सदैव कारन रहित कृपाल रहते है। अयोध्या आकर राम सब पर समान कृपा दृष्टि रखते है।

कृपा दृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नरनारि बिसोकी।।[272]

गोस्वामी तुलसीदास जी राम की कृपा का क्षेत्र भक्तों के लिए विशेष बतलाते है–

'सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपालु प्रनत अनुरागी।।[273]

कृपा सिंधु की करूणा में केवल निश्चेष्ट द्रवणशीलता ही नहीं है–

वे कृपा सिंधु मतिधीर अखिल विश्व कारन करन भी है।[274] उनकी कृपा में पीड़ा हरण शक्ति भी विद्यमान है:–

'कर सरोज सिर परसेउ, कृपा सिंधु रघुबीर।

निरखि राम छवि धाममुख विगतभई सब पीर।।[275]

राम की कृपा देश काल से बाधित नहीं है। उनके बाल सखा एवं भ्राता भरत उनकी वाल्यावस्था के इस रूप का भी परिचय देते हैं –

"मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही।

हारेहु खेल जितावहिं मोही।।"[276]

प्रभु राम की यह विशेषता है कि उनके विपक्षी भी उनकी करूणामयी कृपादृष्टि की कामना करते है –

' अब नाथ करि करूना बिलोकहु देहु जो वर मांगऊँ"[277]

प्रभु राम की कृपा केवल मानवों पर ही नहीं होती अपितु वह भक्तों के कर्म क्षेत्र की प्रेरिका शक्ति भी है। श्री हनुमान जी कहते हैं –

'प्रभु की कृपा भयउ सब काजू। जन्म हमार सुफल भा आजू।।

प्रभु की कृपा भगवान के भक्ति दान की भी प्रेरिका है, इसलिए प्रभु कृपा को ही संकेत करके कहते है :–

'नाथ भगति अति सुखदायिनी। देहु कृपा करि अनपायिनी।।[278]

तथा – ''परमानन्द कृपायतन मन परिपूरन काम।

प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम।।[279]

प्रभु की भक्त वत्सलता ही भक्ति उत्पादिनी चुम्बक शक्ति है। जो भक्तों के लिए चिन्तामणि है। जिसका पर्याप्त चित्रण गोस्वामी जी ने 'भक्तवत्सल राम' रूप में दर्शाया है।

रामायण के तेजस्वी राम स्वरूप की अपेक्षाकृत मानस के भक्तवत्सल श्री राम का व्यक्तित्व अत्यन्त हृदयाकर्षक एवं भक्त सर्वस्व है।

<u>सर्वलोकप्रिय राम</u> –

श्री राम जी धर्म तथा स्वजन के रक्षिता, सर्वलोकप्रिय, द्रष्टा, स्मर्ता, सभी लोगों के हितकारक, सहज असाधारण क्षात्रस्वभाव से अदीनात्मा, अतिदुःख, व्यसनादि परम्परा में भी अक्षुब्ध स्वभाव एवं विलक्षण हैं। जैसे नदियां सदैव समुद्र की ओर जाती है वैसे ही राम सदैव सत्पुरूषों द्वारा सेवित होते है। वे आर्य, सर्वप्रिय दर्शन, सर्वगुणोपेत कौशल्यानन्दवर्धन हैं –

''सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः।

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।।

आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः।

स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः।।[280]

राम गम्भीरता में समुद्र जैसे, धैर्य में हिमवान जैसे, वीर्य (पराक्रम) में विष्णु जैसे तथा चन्द्रमा के समान प्रियदर्शन हैं। क्रोध में कालाग्नि के तुल्य, क्षमा में पृथिवी के तुल्य, त्याग में कुबेर के तुल्य एवं सत्य में धर्म के तुल्य हैं। वनगमन तथा अखण्ड भूमण्डल के राज्य का त्याग करने में सर्वलोकातीत जीवन्मुक्त जैसे, उनके चित्त में कोई विक्रिया नहीं परिलक्षित होती –

"न चास्य महतीं लक्ष्मी राज्यनाशोऽपकर्षति।

लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः।।

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।

सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया।।" (वा0रा02/19/32, 33)

राम के समुचित रूपसंनिवेश, लक्ष्मी (शोभा), सौकुमार्य, सुवेषता आदि गुणों को विस्मित होकर वनवासी देखने लगे –

"रूप संहननं लक्ष्मीं सौकुमार्य सुवेषताम्।

ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः।।" (वा0रा0 3/1/13)

रामचरित के अनुसार राम की देह चिदानन्दमय है –

"चिदानन्दमय देह तुम्हारी।" (रा0मा0 3/1/13)

तुलसीदास ने बड़ी बुद्धिमानी से राम की शोभा का वर्णन किया है। देवताओं का सौन्दर्य तो प्रसिद्ध है। फिर ब्रह्मा विष्णु और शिव क सौन्दर्य का तो कहना ही क्या है? पर सखियां कहती है – विष्णु में चार भुजा और ब्रह्मा में चार मुख होने और विकट वेष शिव जी के पांच मुख होने से वे राम के समान कहां हो सकते है? फिर और कौन तनुधारी देव उनके समान हो सकता है –

"विष्णु चारि भुज विधि मुख चारी। विकटभेष मुख पंच पुरारी।।

अपर देव अस को जग माहीं। यह छवि सखि पटतरिये जाहीं।।

(रा0मा0 1/219/4)

वे राम के एक – एक अंग पर कोटि – कोटि शतकामों को निछावर करती है। बाल्मीकि रामायण के अनुसार तो राम सूर्य के सूर्य, अग्नि के अग्नि, प्रभु के भी प्रभु श्री – शोभा के भी शोभा, कीर्ति के कीर्ति तथा क्षमा के क्षमा हैं –

"सूर्यस्यापि भवेत् सूर्योः हयग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।

श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमा क्षमा।।"[281]

भागवत् के अनुसार अलंकारों से भगवान के अंग अलंकृत नहीं होते है, अपितु भगवान के अंग से ही अलंकार अलंकृत होते है – "भूषणभूषणांगम्" बाल्मीकि रामायण के अनुसार अपार सौन्दर्य सिन्धु राम के स्वरूप से कोई भी अपने मन एवं चक्षु को लौटा ही नहीं सकता था। राम का मंगलमय रूप मन एवं नेत्रों में

जगमगाता रहता था –

"नहि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात्।

नरः शक्नोत्यवाक्रष्टुमपक्रान्तेऽपि राधवे।।"[282]

जिसने राम को न देखा और राम ने जिसे नहीं देखा वे दोनों सब लोकों में निन्दित है। इतना ही नहीं उसकी अन्तरात्मा भी उसको धिक्कारती है –

"यश्च रामं न पश्येतु यं च रामो न पश्यति।

निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति।।"[283]

वे कहती है, सखि ऐसा कौन तनधारी है जो इस रूप पर मोहित न हो जाय। इसीलिए शंकर को 15 नेत्रों से राम के अनुपम रूप सौन्दर्य का रसास्वादन करने के कारण 15 नेत्र अतिप्रिय लगे –

"संकर राम रूप अनुरागे।

नयन पंचदस अतिप्रिय लागे।।"[284]

ब्रह्मा 8 नेत्रों से राम के माधुर्य का आस्वादन करते हुए शिव से कम अपने 8 ही नेत्र जानकर पछताने लगे। रमासहित रमापति भी रामरूप देखकर मोहित हो गये–

"हरि हित सहित राम जब जोहे।

रमा समेत रमापति मोहे।।''[285]

जिसने स्वप्न में भी एक बार भी राम – मुख माधुर्य का अनुभव कर लिया है वह ब्रह्म सुख को भी नहीं गिनता। सूर्य नारायण ने कोटि – कोटि किरणों से राम के रूप सौन्दर्य को निहारते निहारते मास भर अवध में बिता दिया।

''मास दिवस कर दिवस भा मरम न जाना कोइ।

रथसमेत रवि थाकेउ निसा कवन विधि होइ।।[286]

''सोइ सुख लवलेश जिन सपनेहु बारेक लहेउ।

ते नहिं गनहिं खगेश ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति।।[287]

सनकादि भी भगवान की अनुपम छवि देखकर विह्वल हो जाते है।

''मुनि रघुपति छवि अतुल विलोकी।

भये मगन मन सके न रोकी।।''[288]

ज्ञानी भक्त सात्विक लोग ही नहीं खरदूषण जैसे क्रूर प्रकृति के लोग भी राम की शोभा देखकर मोहित हो कहने लगते हैं –

''जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा।

वध लायक नहिं पुरूष अनूपा।।''[289]

जिनकी निधि वही है उनके लोचन रामरूप पर क्यों न ललचा उठें?

''देखि रूप लोचन ललचाने।

हरषे जनु निज निधि पहिचाने।।''[290]

''लाजहिं तनु शोभा निरखि कोटि कोटि सत काम।''[291]

श्री भागवत् के अनुसार भगवान की चपला लक्ष्मी भगवान् के पादारविन्द का माधुर्यामृत रसास्वादन करने गयी। रसास्वादन करने में उसे शोभा सिन्धु की थाह ही नहीं मिली। अनन्तकाल तक अनुभव करने पर भी उत्तरोत्तर कोटि – कोटि गुणित शोभा की अनुभूति बढ़ती ही गयी –

''चलापि यच्छीर्न जहाति कर्हिचित्।''[292]

सर्वज्ञशिरोमणि मणिमय स्तम्भों में प्रतिफलित निजप्रतिबिम्ब को निहारकर प्रेमोद्रेक में स्वयं भी नाच उठे –

''रूपरासि छवि अजिर बिहारी।

नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी।''[293]

–––0–––

सन्दर्भ सूची

द्वितीय अध्याय

1– बृहत्तमत्वाद् ब्रह्म (शां0भा0तै0 उप0 2/9)

2– परमार्थसत्यं ब्रह्म (शां0भा0तै0 उप0 2/6)

3– यद्विषया बुद्धिर्नव्यभिचरति तत् सत् (शां0भा0 श्री म0गीता 2/16)

4– सर्वदैकरूपम् (ईशा0उप0शां0भा0 2/6)

5– ब्र0सू0शां0भा0 1/1/2

6– कूटस्थनित्यम् (ब्र0सू0शां0भा0 1/3/19)

7– देशकालाद्यनपेक्षम् (आत्मबोध 63)

8– वेदान्तसार–6

9– ब्र0सू0शां0भा0 4/3/14

10– तैत्ति0 उप0 2/1/1

11– वृह0उप0 3/9/28

12– भारतीयदर्शन आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ0 351–353

13– Dr. Thibout, Introduction, S.B.E. Vol. XXXIVPXXX

14– अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकी विजिघित्सो पिपासरसत्यकामरसत्य संकल्पः (श्री भाष्य 3/2/11)

15– श्रीभाष्य 2/1/9

16– P.N. Srinivasachari, the Philosophy of Vishishtadvait, Page 221 Adyar 1946

17– परमेश्वरस्य भोक्तृभोग्ययोरूभयोरन्तर्यामित्वरूपेणास्थानम् (सर्वदर्शनसंग्रहः 4/31)

18– सर्वदर्शनसंग्रहः (पृ0 107–108)

19– एवं प्रकार ईश्वरः पर व्यूह–विभवान्तर्याम्यर्चावताररूपेण पंचप्रकारः

(यतिपतिमत दी0 9 पृ0 40)

20– गीता 4/7

21– P.N. Srinivasachari, the Philosophy of Vishishtaduait, Page 186

22– भारतीयदर्शन आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ0 404–405

23– भारतीयदर्शन की चिन्तनधारा पृ0 97

24– गीता 8/22

25– माण्डू0 उप0 26

26– मानस 1/215/2

27– ब्र0सू0 1/1/1

28– मा0 1/50

29– मा0 1/45/6

30– मा0 7/58

31– मा0 1/107, 1/108

32– मा0 1/115

33– मा0 1/118

34– अध्या0रा0 1/1/32–33

35– ऊँ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा।

यः सच्चिदानन्दद्वेतैकचिदात्माभूर्भुवः स्वस्तस्मै वो नमोनमः।।रा0उ0ता0

36– मा0 3/143

37– मा0 1/202

38– ध्रुवं तत (कठोपनिषद)

39– तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति। कठोप0। विज्ञानमानन्दं

ब्रह्म, रसो वै सः, रस हयेवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति (तै0उप0)

40– मा० सोरठा 1/51

41– यथोर्णनामिः .... तथाऽक्षरात् सम्भवतीहविश्वम्। (मुण्ड०उप० 1/7)

42– नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मु०उप० 1/6)

43– यः कारणानि निखिलानि....। श्वे०उप० 1/3

44– मु०उ०उप० 3/1/3

45– बहुमूर्त्येकमूर्तिकम्। (श्रीमदभागवत् 10/40/7)

46– सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। (छान्दोग्य उप० 6/2/1)

47– तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय इति। (छान्दो० 6/2/3)

48– ईशावास्य० 15

49– अध्या० रा० 1/5/52

50– अध्या० रा० 3/2/30

51– मा० 1/6 श्लो०

52– मा० 2/125 छन्द

53– मा० 1/151

54– मा० 1/5 श्लो०

55– मा० 1/116

56– मा० 1/116

57– मा० 2/147

58– अ०रा० 6/14/23

59– अ०रा० 6/4/37

60– अ०रा० 2/5/23

61– अ०रा० 6/4/40

62– मा० 1/201

63– जठरे तव दृश्यन्ते ब्रह्माण्डाः परमाणवः।। (अ०रा०1/3/25)

64– तै०उप० 3/1

65– कठोप० 20

66– ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति। गीता० 18/61

67— श्रीमदभागवत् 2/1/श्लो0 23 से 26 तक

68— मुण्डकोपनिषद, 4

69— वा0रा0 6/20 श्लो0 21 से 24 तक

70— अध्या0 रा0 7/2/64 से 69 तक

71— मा0 6/14—15

72— मा0 1/242/1

73— मुंण्डको0 11

74— तैत्तरेय उप0 6 अनु0

75— अध्यात्म रा0 6/15/49

76— अध्या0रा0 2/6/52

77— मा0 2/127

78— मा0 1/185

79— मा0 1/191

80— मा0 1/115

81— तैत्तिरीयोपनिषद 3/3

82— अंगुष्ठमात्रः पुरूषो मध्य आत्मनि तिष्ठति
ईशानो मूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। (कठ0 4/12)

83— स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। (तैत्ति0 उप0 6/1)

84— ऐतरेयोप0 12

85— परे वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन। तैत्तिरीय01

86— तैत्तिरीयोप0 5

87— मा0 1/110

88— मा0 1/118

89— मा0 1/118

90— मा0 1/149

91— मा0 1/138

92— मा0 3/10

93— अ0रा0 7/1/2

94— गीता 15/15

95— श्रीमद्भागवत 10/46/36

96— मा0 3/8

97— मा0 3/12

98– मा0 3 / 16

99– श्रीमदभगवद गीता0 4 / 8

100– श्रीमदभागवत 1 / 3

101–गीता 4 / 6

102– श्रीमदभागवत 10 / 14 / 55

103–गीता 4 / 7–8

104– मा0 1 / 121

105–मा0 1 / 121

106– न मां कर्माणि लिप्यन्ति न मे कर्म फलेस्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। शी0 4 / 15

107– अमित रूप प्रगटें तेहि काला / यथा योग मिले सवहिं कृपाला।।
मा0 7 / 5 इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन विसेषा।।
मा0 1 / 200

108– मा0 1 / 191 छन्द

109– देखें – मा0 1 / 122 / मा01 / 123 / मा0 1 / 135 / मा0 1 / 151 / मा0 1 / 175 मा0 1 / 183

110– छीरसिन्धु गवने मुनिनाथा।जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा।मा01 / 127

111– जालन्धर के प्रसंग में शापग्रहण कर्ता बैकुण्ठनाथ है।
तासु श्राप हरि दीन्हप्रमाना। कौतुकनिधिकृपाल भगवाना। मा0 1 / 123

112– जगृहे पौरूषं रूपं भगवान महदादिमिः। सम्भूतं षोडशकलामादौलोक सिसृक्षया।। (श्रीमद् भागवत् 1 / 3 / 1)

113– एतन्नानावताराणां विधानं बीजमव्ययम्।। (श्रीमदभागवत 1 / 3 / 5)

114– द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरू विजय जान सब कोऊ।।
विप्र शाप ते दूनउ भाई। तामस असुर देह तिन्ह पाई।।

कनक कशिपु अरू हाटक लोचन। जगत विदित सुरपति मदमोचन।।

विजयी समर वीर विख्याता। धरि वराह वपु एक निपाता।।

होइ नर हरि दूसर पुनि मारा। मा0 1/121

115– हिरन्याच्छ भ्राता सहित मधुकैटभ बलवान।

जेहि मारे सोइ अवतरेउ कृपासिंधु भगवान।। मा0 6/48

116– जेहि बलि बांधि सहसभुजमारा। सोइ भवतरेउ हरन महिभारा।। मा0 6/5

मीन कमठ सूकर नरहरी। वामन परसुराम वपु धरी।। मा0 6/109

117– अध्यात्म रा0 2/5/श्लो0 14 से 20 तक

118– मा0 1/143

119–मा0 6/119

120– वा0रा0 6/119/15

121–तार0 उ0म0 3

122– रा0मी0 पृ0 1–5 तक

123–शु0 ययुर्वेद 31/19

124– वा0रा0 2/27/6

125–वा0रा0 2/27/5

126– वा0रा0 2/29/15

127–वा0रा0 5/24/10 से 13 तक

128– वा0रा0 6/118/5 से 8 तक

129– वा0रा0 6/118/18 से 19 तक

130– वा0रा0 7/48/14

131–वा0रा0 7/4/17–18

132– वा0रा0 7/97/श्लो0 14 से 16 तक

133– मा0 सो0 3/5

134– मा0 1/228/मा0 1/229 सुमिरि सीय नारद वचन उपजा प्रीति पुनीत।।

135– मा0 2/77 | 136–मा0 5/30

137– मा0 5/7 | 138–मा0 3/28

139– मा0 5/27 | 140–मा0 5/26

141– मा0 2/96 | 142–मा0 2/97

143– मा0 2/125 (छन्द) | 144–मा0 7/24

145– वा0रा0 2/26/4 एवं 7/46/18 | 146–वा0रा0 2/52/82–91

147– वा0रा0 2/55/20–21 | 148–वा0रा0 2/96/36–37

149– वा0रा0 2/119/22 | 150–वा0रा0 3/46/33–36

151– वा0रा0 2/30/46 एवं 2/33 | 152–मा0 1/256

153– मा0 1/227 एवं 1/234 | 154–मा0 1/2/102

155– मा0 2/236 | 156–वा0रा0 2/26/10–15

157– वा0रा0 2/26/4

158– वा0रा0 3/9/2 से 4 श्लो0/वा0रा0 5/21/6–10 वा0रा0 6/113/18–20

159– वा0रा0 2/30/41 | 160–वा0रा02/37/16–19

161– वा0रा0 2/55/17 | 162–वा0रा03/9/24

163– वा0रा0 2/38/8 | 164–वा0रा0 3/4/3

165– वा0रा0 5/55/28 | 166–वा0रा0 2/37/37

167– वा0रा0 3/56/2 | 168–वा0रा0 5/23/8,25

169– वा0रा0 3/56/22 | 170–वा0रा0 6/113/38

171– वा0रा0 5/22/20 | 172–वा0रा0 2/29/12

173– वा0रा0 5/19/2,22/वा0रा0 5/28/2

174– मा0 2/57

175–मा0 2/63 से 67 तक

176– मानसपीयूष

177–कल्याण रामायणांक

178– वा0रा0 3/49/29

179–मा0 6/108 (छन्द)

180– वा0रा0 2/52/82–83

181–वा0रा0 3/46/16–22

182– मा0 1/18

183–मा0 1/5 श्लो0

184– मा0 1/148

185–मा0 1/5

186– मा0 2/126

187–मा0 1/187

188– मा0 7/13

189–मा0 1/8

190– मा0 1/289

191–मा0 2/139

192– मा0 7/107

193–मा0 8/11

194– मा0 1/317

195–मा0 2/3/8

196– मा0 1/148

197–मा0 7/24

198– मा0 7/24

199–मा0 1/246

200– परास्यशक्तिर्विविधैवश्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।

श्वेताश्व0 6/8 तज्जलानीति शान्त उपासीत। छा0 उप0 3/14/1

201– ओभित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। मा0उप01

202– सर्वसर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।

मा0उप0 6

203– दिव्योह्यमूर्तः पुरूषः स वाहयाभ्यन्तरोह्यजः। अप्राणौ ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः मु0उ0 2/2

204– एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणिच। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्यधारिणी, मु0 2/3

अग्निमूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वागविवृताश्चवेदाः वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा। मु0उ0 2/4

205– अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात पमुच्यते। कठ0उ0 3/15

206– सविश्वकृदविश्वचिदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्ध हेतुः।। श्वेताश्वतरोपनिषद 6/16

207– सतन्मयो ह्यमृत ईश संस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्यगोप्ता। य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय।। श्वे0उप0 6/17

208– न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।कठ0 5/15

209– गीता
210–मा0 1/116
211– गीता
212–मा0 6/116
213– मा0 1/198
214–मा0 2/87
215– मा0 3/12
216–मा0 1/12
217– मा0 1/22
218–मा0 4/25
219– मा0 7/12
220–मा0 7/33
221– मा0 1/18
222–मा0 1/12

223– मा0 1/116

224–मा0 1/115

225– गीता 4/6 भगवान के अवतारी स्वरूप का वर्णन श्री शुकदेव जी भी करते हैं – कृष्णमेनमवेहित्वमात्मानमखिलात्मनाम्।

जगद्धिताय सोऽप्यत्र देवीवाभाति मामया।।

(श्रीमद्भा0 10/14/55)

226– गीता 4/7/8

227–मा0 6/119

228– मा0 1/121

229–मा0

230– मा0 2/93

231–मा0 4/72

232– मा0 4/26

233–अ0रा0 6/15/53

234– अ0रा0 2/2/24

235–मा0 7/73

236– मा0 6/112

237– ब्रह्म सूत्र 1/2/12 तथा 1/1/2 पर श्रीभाष्य दिफिलासिफी आफ श्री वल्लभाचार्य पृ0 156

238– मा0 1/117, मा0 1/23, मा0 7/13 छन्द

239– तुलसी दर्शन मीमांसा (उपसंहार)

240– एकु दारूगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू।मा0 1/23

241– मा0 1/16/2

242–मा0 3/11

243– मा0 1/16/1

244–कवितावली 7/129

245– अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरूषोत्तमः, । गीता 15/18

246– आदित्यानामहं विष्णुः। गी0 10/21

247– उत्तररामचरितम (भवभूति) 248–वा0रा0 3/1/18–19

249– वा0रा0 5/33/25 250–वा0रा0 1/1/45–49

251– धर्मेतत्परता मुखेमधुरता दानेसमुत्साहिता।
मित्रेऽवंचकता गुरौ विनायिता चित्तेऽतिगम्भीरता।।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेऽति विज्ञानता।
रूपे सुन्दरता हरौ भजनिता चैते गुणाः राघवे।। चाणक्य 12/15

252– वा0रा0 2/1/10–11 253–वा0रा0 2/1/3–34

254– वा0रा0 3/37/13 255–वा0रा0 2/18/30

256– मा0 2/10, मा0 1/5 257–मा0 2/136

258– मा0 2/136 259–मा0 2/161

260– मा0 3/1 261–मा0 3/9/1

262– मा0 5/26/4 263–मा0 5/43

264– मा0 2/559 265–मा0 4/2

266– मा0 4/6 267–मा0 5/45

268– मा0 3/25–26 269–मा0 6/6

270– मा0 2/298 271–मा0 1/28

272– मा0 7/5 273–मा0 1/12

274– मा0 1/208 275–मा0 3/30

276– मा0 2/259 277–मा0 4/9 (छन्द)

278– मा0 5/33 279–मा0 7/34

भगत वछलता प्रभु कै देखी।उपजी मम उर प्रीति बिसेखी।। मा0 7/82

280– वा0रा0 1/1/15

281–वा0रा0 2/44/15

282– वा0रा0 2/17/13

283–वा0रा0 2/17/14

284– मा0 1/316

285–मा0 1/316/2

286– मा0 1/195

287–मा0 7/88

288– मा0 7/32

289–मा0 3/18

290– मा0 1/231

291–मा0 1/146

292– श्रीमद्भागवत् 1/12/32

293–मा0 7/76

–––0–––

तृतीय अध्याय

(क) वेदान्त सम्प्रदाय में जीव का स्वरूप।

(ख) जीव के अणुत्व, बन्धत्व, व्यापकत्व तथा मोक्षादि का विचार।

(ग) ब्रह्म एवं जीव में वेदान्त तथा मानस के अनुसार भेदाभेद विमर्श

(घ) जीवों की परमार्थगति एवं संसारगति।

अद्वैत वेदान्त में जीव का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त के अनुसार अन्तःकरण द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं। शंकराचार्य के मतनमें शरीर तथा इन्द्रिय समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहतेन्हैं। जीव चैतन्य स्वरूप है। आत्म चैतन्य के जीव रूप में प्रकट होने की तीन अवस्थायें हैं – जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत अवस्था में जीव खाना, पीना, उठना, बैठना आदि नाना कार्यों में रत रहता है। स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ बाहरी जगत् से हटकर निश्चेष्ट हो जाती हैं। परन्तु चैतन्य उस समय भी बना रहता है। तीसरी अवस्था सुषुप्ति है। सुषुप्ति का तात्पर्य प्रगाढ़ निद्रा से है। चैतन्य इस दशा में भी वर्तमान रहता है। क्योंकि हम गहरी नींद सोने के बाद भी ''सुखमहमस्वाप्सम्'' (मैं सुख से सोया) रूप अनुभूति प्राप्त करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति अवस्था में भी चैतन्य की सत्ता रहती है। व्यष्टि रूप से स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों का अभिमानी जीव विश्व, तैजस और प्राज्ञ कहलाता है। समष्टि के अभिमानी चैतन्य को विराट् (वैश्वानर) सूत्रात्मा तथा ईश्वर कहते हैं। जीव अविद्या के वश में होकर देह एवं इन्द्रियों के साथ अभिन्नता प्राप्त करके शरीरादि के दुःख का भोक्ता बन जाता है।[1] अविद्या के कारण ही जीव दुःखादि का भोक्ता है। इसलिए अविद्या के दूर होने के पश्चात् जीव ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। जिस प्रकार जल में दिखाई पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के अनुसार रूप ग्रहण करता है। जल के घटने पर सूर्य का प्रतिबिम्ब घट जाता है और जल के बढ़ जाने पर सूर्य का

प्रतिबिम्ब बढ़ जाता है। जल में कम्पन आने पर सूर्य – प्रतिबिम्ब में भी कम्पन आने लगता है। प्रतिबिम्ब जलधर्म का अनुयायी होता है। उसमें परिवर्तन अपेक्षित है। परन्तु बिम्ब स्थानीय सूर्य स्वतन्त्र रहता है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं होता। उसी प्रकार ब्रह्म भी वस्तुतः विकारहीन एवं एकरूप है। जिन देह–इन्द्रियों आदि उपाधियों को जीव धारण करता है। उनके धर्मों को वह ग्रहण करता सा प्रतीत होता है। वास्तव में यह प्रतीति असत्य है। अविद्या एवं उपाधि से युक्त ब्रह्म जीव का स्वरूप है। यही जीव अविद्या और उपाधि के न रहने पर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

<u>जीव एवं ईश्वर के सम्बन्ध में विविध मत</u> –

वेदान्त में जीव – ईश्वर की स्वरूप कल्पना वैमत्य का प्रधान विषय है। इस विषय में 1– आभासवाद, 2– प्रतिबिम्बवाद, 3– अवच्छेदवाद, 4–जीवैक्यवाद आदि अनेक विशिष्ट मत है।

1– **आभासवाद** – अद्वैतमत में एक आत्मा ही सत्य है, आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं है, अतः आत्मा न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत कारण तथापि अज्ञान रूप उपाधि से युक्त आत्मा अज्ञान के साथ तादात्म्य प्राप्त कर उसमें पड़े चिदाभास के अविवेक के कारण अन्तर्यामी, साक्षी और ईश्वर कहलाता है। बुद्धि – उपहित तादात्म्य को प्राप्त कर बुद्धिगत स्वकीय चिदाभास को न जानकर जीव कर्ता, भोक्ता तथा प्रमाता कहा जाता है। इस मत की संज्ञा आभासवाद है। इसके अनुसार जीव नाना और ईश्वर एक हैं।

2– **<u>प्रतिबिम्बवाद</u>** – अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर तथा बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहते है, परन्तु अज्ञान की उपाधि से रहित बिम्बचैतन्य शुद्ध है। स्वतन्त्रादि गुणों से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर बिम्बस्थानापन्न है और परतन्त्रता के कारण अविद्या में चिदाभास जीव है अर्थात् ईश्वर बिम्बरूप है और जीव प्रतिबिम्बरूप है। यही प्रतिबिम्बवाद है, परन्तु इस सिद्धान्त में अनेक वेदान्तियों को अरूचि है। समस्त प्रतिबिम्ब स्थलों में प्रायः रूपवान पदार्थ का रूंपवान आधांर में ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। जैसे रूपवान चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब रूपवान जल में ही पड़ता हैं। परन्तु ब्रह्म के रूपहीन होने से न तो उसका प्रतिबिम्ब सम्भव है और न ही रूपहीन अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब उत्पादन की शक्ति ही है।

3– **<u>अवच्छेदवाद</u>** – वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद को युक्ति युक्त मानते है। इस पक्ष में एक ही चैतन्य अज्ञान के आश्रय और विषय के भेद से दो प्रकार का है– अज्ञान का विषयीभूत चैतन्य ईश्वर है। अज्ञान का आश्रयभूत चैतन्य जीव है। अथवा अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है और अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर कहलाता है। अज्ञान के नाना होने से इस मत में जीव भी नाना है। इस पक्ष में स्वाज्ञान से उपहित होने से जीव जगत का उपादान कारण है, ईश्वर उपचारमात्र से कारण माना जाता है।[2]

4– **<u>जीवैक्यवाद</u>** – वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त 'एक–जीव–वाद' है। इस मत में अज्ञानरूपी उपाधि से विरहित शुद्ध चैतन्य ईश्वर है और अज्ञान से उपहित चैतन्य जीव है। जीव ही अपने अज्ञानवश जगत का उपादान तथा निमित्त

कारण है। देहभेद से जीवभेद की प्रतीति भ्रान्तिमयी हैं, क्योंकि वस्तुतः जीव एक ही है। गुरू की कृपा तथा शास्त्र विहित श्रवणादि उपायों से एक ही आत्मा का मोक्ष होता है, शुक वामदेवादिकों की मोक्षवार्ता अर्थवादमात्र है। इसी मत का दूसरा नाम दृष्टिसृष्टिवाद है –

आत्मन्येव जगत सर्वं दृष्टिमात्रं सतत्त्वकम्।

उदभूय स्थितिमास्थाय विनश्यति मुहुर्मुहुः[3] ।।

5– कुछ वेदान्तियों की सम्मति में जिस प्रकार कौन्तेय (कुन्ती पुत्र कर्ण) की ही अविद्या के कारण राधेय (राधा पुत्र) रूप से प्रतीति होती है, उसी प्रकार अविकृत ब्रह्म ही अविद्या से जीव भाव को प्राप्त करता है। व्याधकुलवर्धित राजपुत्र के समान जीव अविद्या के वशीभूत होकर अपने शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव को भुलाये हुए है। आचार्योपदेश से शुद्ध सच्चिदानन्द रूप को जानते ही वह मुक्त हो जाता है।

विशिष्टाद्वैत के मत में जीव का स्वरूप

शांकर–दर्शन में जीव ब्रह्म ही है। अविद्या – उपाधि के द्वारा ब्रह्म का ही जीव रूप से बोध होता है। परन्तु विशिष्टाद्वैतवादी के मत में शंकराचार्य प्रतिपादित माया को स्वीकार न करने के कारण जीव की भिन्न रूप से कल्पना की गई है। रामानुजाचार्य के मतानुसार जीव ब्रह्म का अंश है और ब्रह्म अंशी है। शंकराचार्य ने भी अंशाशिभाव के दृष्टान्त के द्वारा जीव और ब्रह्म के स्वरूप के विषय में विवेचन किया है। परन्तु आचार्य ने जीव को निरवयव ब्रह्म का मुख्य

अंश न होने के कारण, पूर्णतया अंश न कहकर अंश के समान (अंशश्व) कहा है।[4] श्रीभाष्यकार रामानुज के मत में जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव होने पर भी विशेषण – विशेष्य भाव के कारण स्वभाव वैलक्षण्य पाया जाता है।[5]

जहाँ अद्वैती शंकर जीव की मायिक सत्ता मानकर जीव को ब्रह्म ही कहते है, वहाँ आचार्य रामानुज ब्रह्म को प्रकारी एवं चिदचित् रूप जगत् को प्रकारी (ब्रह्म) का प्रकार सिद्ध करने के पक्षपाती है। विशिष्टाद्वैतसिद्धि के अभिप्राय से ही आचार्य रामानुज ने चिदचिद् वस्तुरूप जीव एवं जगत् को ब्रह्म का शरीर कहा है। प्रकार रूप चिदचिदात्मक शरीर प्रकारी ब्रह्म से भिन्न नहीं है, यही विशिष्टाद्वैतवादी का प्रमुख सिद्धान्त है।[6] प्रकार प्रकारीभाव के आधार पर प्रकारी उपादान एवं प्रकार उपादान कारण का कार्य कहा गया है। विशिष्टाद्वैतवादी की इस प्रकार प्रकारी भाव की कल्पना का मूल कारण विशिष्टाद्वैतवादी का सत्कार्यवाद अथवा परिणामवाद के सिद्धान्तानुसार जीव एवं जगत की सत्तायें ब्रह्म के परिणाम हैं। कार्य–रूप जीव एवं जगत की सत्ता कारण रूप ब्रह्म में वर्तमान रहती है।[7] इसलिए कारण और कार्य का भेद केवल प्रकारी और प्रकार का भेद समझना चाहिए। इसके विपरीत आचार्य शंकर सत् कार्यवाद अथवा परिणामवाद के समर्थक न होकर विवर्तवाद के समर्थक हैं। शंकराचार्य के केवलांद्वैतवाद के अनुसार समस्त प्रपंच उसी प्रकार मिथ्या है, जिस प्रकार जलवर्ती बुदबुद तरंगादि विकार मिथ्या होते हैं। शंकराचार्य के मतानुसार अखिल प्रपंच ब्रह्म का विवर्त एवं माया का परिणाम है।

रामानुज दर्शन में जीव को 'ज्ञ' न कहकर ज्ञाता कहा गया है।

शंकराचार्य ने वैशेषिक के आमन्तुक चैतन्य[8] एवं स्वतः अचेतन जीव का खण्डन करके जीव को 'ज्ञ' एवं नित्य चेतन स्वरूप कहा है। इस प्रकार आचार्य रामानुज ने वैशेषिक ही नहीं अपितु सांख्य एवं शांकर–वेदान्त में स्वीकृत जीव के शुद्ध चैतन्य भाव का खण्डन करके जीव को 'ज्ञाता' सिद्ध किया है।[9]

जीव का अणुत्व – आचार्य रामानुज का 'जीव' ज्ञाता होने के साथ साथ सर्वगत न होकर अणु है। जीव की अणुत्व सिद्धि की प्रमाण – उत्क्रान्ति, गति एवं आगति है। उत्क्रान्ति के द्वारा जीवात्मा चक्षु, मूर्धा एवं शरीर के अन्यान्य देशों से निष्क्रमण करता हुआ देखा जाता है। गति के द्वारा ही जीव इस लोक से चन्द्रलोक से प्रवेश करता है। आगति के अनुसार जीव चन्द्रलोक से पुनः इस कर्मभूमि मर्त्यलोक में आता है।[10] जीव की अणुत्व सिद्धि की यह समस्त प्रक्रिया शंकराचार्य के इस तथ्य की प्रतिक्रिया है कि जीव सर्वगत एवं विभु है।[11] शांकर–दर्शन के अनुसार जीव का स्वरूप ब्रह्मेतर न होकर ब्रह्म ही है। आचार्य रामानुज का कथन है कि जिस प्रकार एक देशवर्ती मणि आदि का प्रकाश अनेक देश–व्यापी देखा जाता है, उसी प्रकार अणु जीवात्मा भी अपने ज्ञान के द्वारा सकल देश में व्याप्त रहता है।[12] जीव में ही कर्तृत्त्व एवं सुख–दुःखादि का अभिमान वर्तमान रहता है।

वद्ध मुक्त एवं नित्य जीव –

रामानुजदर्शन के अन्तर्गत जीव के वद्ध, मुक्त एवं नित्य रूप से तीन भेद माने गये है।[13] जो जीव अज्ञान एवं स्वार्थ के कारण संसार में बार–बार जन्म लेंते हैं, वे बद्ध कहलाते हैं।[14] चतुर्दश भुवनों में रहने वाले ब्रह्मा आदि से लेकर

कीट पर्यन्त जीव बद्ध कोटि में आते हैं। बद्ध जीव के ही देव, मनुष्य तिर्यक एवं स्थावर में चार भेद हैं। कुछ एक विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान जीवों का एक भेद नित्य बद्ध भी मानते हैं। नित्यबद्ध वे जीव हैं जो सदा संसार चक्र में फँसे रहते हैं।[15] दूसरे प्रकार के जीव मुक्त जीव कहलाते हैं। ये वे जीव है, जो अपनी बुद्धि, गुणों एवं भक्ति के द्वारा संसार के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे प्रकार के नित्य जीव वे जीव हैं, जो भगवदभिमत आचरण के विरूद्ध व्यवहार नहीं करते। ऐसे जीवों के ज्ञान के संकोच का अवसर नहीं आता।[16] ये जीव कर्म एवं प्रकृति के बन्धन से मुक्त होकर आनन्द का अनुभव करते हुए वैकुण्ठ में निवास करते हैं। गरूड़ एवं विष्वक्सेन आदि जीव नित्य जीवों की कोटि में आते हैं।

शांकर–वेदान्त का जीव विभु एवं सर्वव्यापक है, परन्तु रामानुजाचार्य ने जीव के विभुत्व का निराकरण कर उसे अणु सिद्ध किया है।[17] जीव के विभुत्व एवं अणुत्व के आधार पर ही, दोनों दर्शनपद्धतियों का यह भेद भी द्रष्टव्य है, कि अद्वैतवेदान्त के विभु जीव के उत्क्रमण एवं आगमन का प्रश्न नहीं उपस्थित होता, जबकि विशिष्टाद्वैत वेदान्त के अनुसार अणु, जीव की उत्क्रान्ति, चन्द्रादि लोकगमन एवं उर्ध्व लोकों से आगमन की बात पूर्णतया सिद्ध होती है।[18] इस प्रकार शांकर वेदान्त और रामानुज वेदान्त की जीव सम्बन्धित विचारधारा में मौलिक भेद है।

<u>द्वैतवाद में जीव का स्वरूप</u> –

जीव अज्ञान, मोह, दुःख भयादि दोषों से युक्त तथा संसारशील होते है। ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं – मुक्तियोग्य, नित्यसंसारी और तमो योग्य। मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ चक्रवर्ती तथा उत्तम

मनुष्य रूप से पांच प्रकार होते हैं। नित्य संसारी जीव सदा सुख – दुःख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीय कर्मानुसार ऊँच–नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग, नरक तथा भूलोक में विचरण करता है। इस कोटि के जीव 'मध्यम मनुष्य कहे जाते है।[19] वे कभी मुक्ति नहीं पाते। तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते है, जिसमें दैत्य राक्षस तथा पिशाचों से साथ अधम मनुष्यों की भी गणना है। इस प्रकार गुणों के तारतम्य के कारण मनुष्य तीनों श्रेणियों में अन्तर्भुक्त किया गया है। संसार में प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व पृथक बनाये रहता है। वह अन्य जीवों से भिन्न है, तथा सर्वज्ञ परमात्मा से तो सुतरां भिन्न है। संसार–दशा में हो जीवों में तारतम्य नहीं है, प्रत्युत मुक्तावस्था में भी वह भिन्नता विद्यमान रहती है[20], मुक्त पुरूष आनन्द का अनुभव अवश्य करता है, परन्तु माध्वमत में आनन्दानुभूति में भी परस्पर तारतम्य होता है।[21] मुक्त जीवों के ज्ञानादि गुणों के समान उनके आनन्द में भी भेद है। यह सिद्धान्त माध्वमत की विशेषता है। मुक्तावस्था में जीव परम साध्य को प्राप्त कर लेता है। (निरंजनः परमं साम्यमुपैति – मुण्डक, 3/1/3) इस श्रुति का तात्पर्य प्राकृत विषयक है, अभेद विषयक नहीं। भगवान के साथ चैतन्यांश को लेकर ही जीव की एकता प्रतिपादित की जाती है, परन्तु समस्त गुणों पर दृष्टिपात करने से दोनों का पृथक्त्व ही प्रमाण सिद्ध है।

द्वैताद्वैत के मत में जीव का स्वरूप

आचार्य निम्बार्क विशिष्टाद्वैतवादी की ही तरह चित् अचित् तथा ईश्वर ये तीन तत्व मानते है। ये तीनों क्रमशः कर्ता, भोक्ता, योग्य एवं नियन्ता है। चित् जीव स्वरूप है। यह ज्ञान स्वरूप, प्रज्ञान धन, स्वयं ज्योति एवं ज्ञानमय

है। इन्द्रिय निरपेक्ष जीव इन्द्रियों की सहायता के बिना ही विषयज्ञान में समर्थ है। आचार्य निम्बार्क जीव और उसके ज्ञान में धर्मधर्मिभाव स्वीकार करते है। उनका कथन है कि जीव और उसके ज्ञान इन दोनों के ज्ञानत्व विषय में भेद न होने पर भी जीव धर्मी और ज्ञान उसका धर्म है।[22] जीव का स्वरूपभूत ज्ञान एवं गुण भू ज्ञान ज्ञानरूप से अभिन्न है परन्तु धर्मधर्मिभाव की दृष्टि से दोनों भिन्न है। इसीलिये इस सिद्धान्त का प्रचलन भेदाभेद एवं द्वैताद्वैत के नाम से हुआ है। यह तो निःसंकोच स्वीकार्य होगा कि द्वैताद्वैतवादी आचार्य निम्बार्क ने द्वैत एवं अद्वैत, उभय सिद्धान्तों की प्रतिपादक श्रुतियों के सामरस्यपूर्ण अध्ययन के लिए एक सरल प्रयास खोज निकाला है। इस स्थल पर रामानुज और निम्बार्क का सैद्धान्तिक अन्तर विचारणीय है। आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार अद्वैत पर ही बल देते है, परन्तु निम्बार्क धर्मधर्मिभाव के द्वारा द्वैत एवं अद्वैत दोनों के समर्थक है।

रामानुज के ही समान निम्बार्काचार्य भी जीव और ईश्वर में अंशाशिभाव को मानते है। अणु परिमाण वाला जीव अंशीरूप हरि का अंश है। यहां यह विशेषतया द्रष्टव्य है कि श्री निवासाचार्य के वेदान्त कौस्तुभ के अनुसार अंश शब्द का अर्थ शक्ति रूप है।[23] अनादि माया से युक्त होने के कारण जीव का धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो जाता है भगवान के प्रसाद से ही हरि के सत्यरूप का ज्ञान हो सकता है।[24] परन्तु जीव की मुक्ति होने पर जीव पूर्णतया ईश्वर रूप को नहीं प्राप्त करता। जीव सदा ईश्वर के अधीन होने के कारण नियम्य है एवं ईश्वर नियन्ता है।

जीव की कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व रूप अहं बुद्धि मुक्तावस्था तक बनी रहती है। निम्बार्क मत में मुक्तावस्था में भी जीव के कर्तृत्व में बाधा नहीं पड़ती।[25]

जीव परिमाण में अणु है – ऐसी स्थिति में संशय उत्पन्न होता है कि वह अणु होने पर शरीर के भिन्न–भिन्न अंगों में होने वाले सुख – दुख का अनुभव किस प्रकार करता है? इसका समाधान यह है कि जीव में व्यापक ज्ञान लक्षण गुण सदा विद्यमान रहता है और इसी गुण की सहायता से जीव सकल शरीर में होने वाले सुख – दुःख का अनुभव सदा किया करता है। वह रहता तो है हृदय में ही, परन्तु वहीं से वह शरीर के अन्य भागों में उत्पन्न सुख – दुःख का अनुभव किया करता है। जैसे – चन्दन का तिलक तो ललाट के ऊपर रहता है, परन्तु वह वही से समग्र शरीर को विभूषित करता है, दीपक घर के एक कोने में रक्खा जाता है, परन्तु वहीं से वह समस्त घर को प्रकाशित करता है। अणुरूप जीव की भी ठीक यही दशा है। जीव प्रतिशरीर में भिन्न है और इसलिए वह अनन्त माना जाता है।

इस प्रकार जीव परिमाण में अणु तथा संख्या में नाना है। वह हरि का अंशरूप है। अंश शब्द का अर्थ अवयव – विभाग नहीं है, प्रत्युत कौस्तुभ के अनुसार अंश का अर्थ शक्तिरूप है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है, अतः वह अंशी है; जीव उसका शक्तिरूप है, अतः वह अंशरूप है। अघटित घटना पटीयसी, गुणमयी प्रकृतिरूपिणी माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो जाता है। भगवान् के प्रसाद से ही जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। मुमुक्षु (मुक्ति का इच्छुक) तथा बुभुक्षु (विषयानन्द का इच्छुक) भेद

से बद्ध जीव दो प्रकार का है। क्लेशों से पीड़ित होने पर विरक्त तथा मुक्ति चाहने वाला जीव मुमुक्षु कहलाता है, परन्तु विषय आनन्द का इच्छुक जीव बुभुक्षु कहलाता है। बद्ध जीव के दो प्रकारों के समान मुक्त जीव भी दो प्रकार का होता है – 1– नित्यमुक्त तथा 2– मुक्त।

जो जीव गर्भ, जन्म, जरा, मरण आदि प्राकृत दुःखों के अनुभव से शून्य है और नित्य भगवान् के स्वरूप का दर्शन करता हुआ भजनानन्द में मस्त रहता है वह नित्य मुक्त माना जाता है। भगवान के पार्षद विश्वक्सेन तथा गरूड़ आदि इसी श्रेणी के जीव है। जो जीव अविद्या से उत्पन्न दुखों के अनुभव से रहित होता है वह केवल मुक्त कहलाता है। मुक्त पुरूषों की भी अनेक श्रेणियां आकर ग्रन्थों में वर्णित हैं। मुक्त पुरूषों में कुछ तों ऐसे हैं जो निरतिशय आनन्द रूप भगवद्भाव को पाने वाले हैं और दूसरे मुक्त जीव अपने आत्मज्ञान से स्वरूपानन्द की प्राप्ति करने वाले होते हैं और इतने से ही वे सन्तुष्ट होते हैं।

शुद्धाद्वैत के मत में जीव का स्वरूप

भगवान को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनन्दादि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस व्यापार में क्रीड़ा की इच्छा ही प्रधान कारण है, माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है और यश के तिरोधान से हीनता। श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियों का आस्पद होता है; ज्ञान के तिरोधान से देहादिकों में आत्मबुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दुख प्राप्त करता है। ब्रह्म से जीव का उदय अग्नि स्फुलिंगवत है।

यह व्युच्चरण उत्पत्ति नहीं है। अतः व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता का ह्रास नहीं होता। वल्लभ मत में भी जीव ज्ञाता ज्ञानस्वरूप तथा अणुरूप है। भगवान के अविकृत सदंश से जड़ का निर्गमन और अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है। जड़ के निर्गमन काल में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोधान रहता है, परन्तु जीव के निर्गमन काल में केवल आनन्दांश का ही तिरोभाव रहता है।[26]

जीव नित्य है। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियां (स्फुलिंग) छिटक कर निकलती है, उसी प्रकार जीव ईश्वर से निकलता है। इस निकलने से (व्युच्चरण से) जीव की नित्यता में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। वह उसी भांति नित्य बना रहता है। अग्नि – स्फुलिंग का दृष्टान्त जीव के निर्गमन के लिए श्रुति तथा भागवत पुराण दोनों में उपलब्ध होता है। वल्लभाचार्य परिणामवाद को मानते है। इनकी दृष्टि में जीव तथा जगत् दोनों परब्रह्म के परिणामरूप है, परन्तु परिणाम होने से ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। वह परिणामी नहीं होता, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता।

भगवान में तीन अंश है – सत्, चित् और आनन्द। इनमें कोई भी अंश विकार नहीं प्राप्त करता। ब्रह्म के अविकृत (विकार न पाने वाले) 'सत्' अंश से भौतिक पदार्थो का उदय होता है और अविकृत 'चित्' अंश से जीवों का आविर्भाव होता है। जब भौतिक पदार्थो का उदय होता है, तब ब्रह्म के दोनों अंश – चित् और आनन्द अंश छिपे रहते है। केवल 'सत्' अंश ही प्रकट रहता है और इसलिए इस अंश से ही भौतिक पदार्थो का जन्म होता है। जीव के उदय काल

में ब्रह्म में आनन्द अंश ही तिरोहित रहता है, अन्य दो अंश विद्यमान रहते है। इस प्रकार ब्रह्म से सृष्टि की प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

जीव अनेक प्रकार का होता है – 1– शुद्ध, 2– मुक्त, 3– संसारी। स्फुलिंगवत् व्युच्चरण के समय आनन्दांश का तिरोधान होने पर अविद्या से सम्बन्ध होने के कारण पूर्व जीव 'शुद्ध' कहलाता है। अविद्या के साथ सम्बन्ध रखने वाला जीव 'संसारी' कहलाता है। यह भी दो प्रकार के होते है – दैव और आसुर। दैव जीव भी मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भेद से भिन्न – भिन्न होता है। मुक्त जीवों में भी कतिपय जीवन्मुक्त होते है और कतिपय मुक्त। जीव सच्चिदानंद भगवान् से नितान्त अभिन्न है। संसारी दशा में जब पुष्टिमार्ग के सेवन से भगवान का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों के ऊपर होता है, तब उसमें तिरोहित आनन्द के अंशों का पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्त अवस्था में जीव आनन्द अंशों को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान से अभेद प्राप्त कर लेता है। "तत् त्वमसि" महावाक्य इसी अद्वैत सत्ता को प्रतिपादित करता है। ज़िस प्रकार सुवर्ण के कटक कुण्डलादि अंश सुवर्ण से अभिन्न है, उसी प्रकार चिदंश जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है।

रामचरितमानस में जीव का स्वरूप

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में जीव का लक्षण बताते हुए कहा है कि –

"माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव"[27]

अर्थात् माया ईश्वर तथा अपने यथार्थ स्वरूप का जिसे ज्ञान नहीं है वही जीव है।

जीव मन, प्राण, बुद्धि और इन्द्रियों से विलक्षण विशुद्ध और नित्य है। बालि वध के उपरान्त तारा को उपदेश देते हुए राम जो कहते हैं उससे जीवात्मा की नित्यता का बोध हो जाता है –

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा।।

प्रगट सो तनु तब आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम रोवा।।[28]

द्वन्द्वात्मक, हर्ष विषाद, ज्ञान अज्ञान, अहंकार तथा अभिमान ही जीव के धर्म हैं–

हरष विषाद ग्यान अग्याना। जीव धरम अहमिति अभिमाना।।[29]

जीव ईश्वर का अंश है और नित्य है वह चैतन्य स्वरूप है, मल रहित है तथा सुख का निधान है –

ईश्वर अंस जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी।।

तुलसीदास जी को ईश्वर और जीव में वस्तुतः कोई भेद मान्य नहीं है। जो भेद दोनों में ज्ञात होता है, वह मिथ्या है और केवल मायाजनित हैं। दोनों में अन्तर ज्ञान–अज्ञान का है। यदि जीव को अखण्ड एकरस ज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो ईश्वर और जीव का भेद मिट जाता है–

ग्यान अखण्ड एक सीतावर। मायावस्य जीव सचराचर।

जौ सब के रह ग्यान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस।

मुधा भेद जद्यपि कृत माया।[30]

यह भेद हमारा भ्रम है, जो आत्मानुभूति से नष्ट हो जाता है –

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेदभ्रम नासा।[31]

इसीलिए आत्मानुभूति प्राप्त 'संत' और 'अनंत' में कोई अन्तर नहीं माना जाता–

जानेसु संत अनंत समाना।[32]

माया ने जीव को मोहित कर रक्खा है – उसे मोह (अज्ञान) में डाल रक्खा है–

नाथ जीव तव माया मोहा।[33]

जीव के बिना राम की इस विषम माया के द्वारा भ्रमित होकर काल कर्म और गुणों में लगा हुआ भव चक्र में पड़ जाता है–

तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।

भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे।।[34]

मानस में ईश्वर और जीव का भेद तथा ईश्वर और जीव में किस तरह का अभेद है वह गोस्वामी जी बतलाते हैं –

सुरसरि जलकृत बारूनि जाना। कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना।।

सुरसरि मिले सो पावन जैसे। ईस अनीसहि अंतरू तैसे।।[35]

नित्य स्वरूप जीवात्मा, माया के वशवर्ती होकर अपने शुद्ध रूप को भ्रम में भूल जाता है और भ्रान्ति में अनेक कर्म करता हुआ सुख–दुख का भागी बन कर्मफल

भोगता है।

जीव माया के पराधीन रहता है और ईश्वर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है जैसा कि गोस्वामी जी ने कहा है –

"परबस जीव स्ववस भगवंता"

जीव अपने कर्मो के अनुसार ही उसके फल को भोगता है –

निज कृत करम भोग सबु भ्राता।[36]

करम प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करई सो तस फल चाखा।।[37]

राम की माया दो रूपों में भासती है – एक 'विद्या' और दूसरी 'अविद्या' –

तेहि करि भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।[38]

अनात्म में आत्म भावना ही 'अविद्या' है, और अनात्म से आत्म – भावना का बाध ही 'विद्या' है। 'अविद्या' संसृति का हेतु है, और 'विद्या' जीव को संसृति से मुक्त करने वाली है। प्रवृत्ति मार्ग वाले 'अविद्या' के वशीभूत होते है और निवृत्ति मार्ग वाले 'विद्या' मय होते हैं। कागभुशुंडि अपने ऊपर राम की माया का प्रभाव बतलाते हुए कहते हैं –

सो माया न दुःखद मॉहि काही। आन जीव इव संसृति नाहीं।

नाथ इहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरिजाना।

हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहिविद्या।

तातें नास न होइ दासकर। भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर।[39]

'अविद्या' माया के दो भेद होते है – एक 'आवरण' जो सम्पूर्ण ज्ञान को आवृत्त कर रखती है, और जिसके कारण जीव भव – चक्र में पड़ा रहता है, तथा 'विक्षेप' जो विश्व की कल्पना करती है। लक्ष्मण को राम 'अविद्या' माया के ये दोनों भेद इस प्रकार समझाते हैं –

एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव पराभव कूपा।

एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।[40]

इसी माया से प्रेरित होकर जीवात्मा संसार सागर में भ्रमण करता फिरता है यही जीवात्मा की सांसारिक गति है गोस्वामी जी ने जीव की सांसारिक गति, को वेदान्त की परिधि में निरूपित किया हैं–

नर तनु पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी।।

फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्मसुभाव गुन घेरा।।

कबहुँक करि करूना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।।

नर तनु भव वारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरूत अनुग्रह मेरो।।

करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।।[41]

तुलसीदास जी ने जीव के तीन भेद किये है– बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त।

विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग वेद बखाने।।[42]

जीव और ब्रह्म

जीव की अनेकता को गोस्वामी जी स्वीकार करते हैं जीवात्मा एक नहीं अनेक हैं और केवल परमात्मा एक है।

"जीव अनेक एक श्रीकंता"[43]

जीव भी परमात्मा की भांति नित्य अविनाशी है और स्वरूपतः वे अनेक हैं। मुण्डकोपनिषद् में तो भगवती श्रुति ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में बड़ी ही सरल, सुबोध तथा मनोहर आलंकारिक रीति से ब्रह्म एवं जीव का भेद समझाया है। श्रुति कहती है कि यह संसार एक वृक्ष की भांति है। इस पर ब्रह्म एवं जीव सुन्दर पंखों वाले, साथ–साथ भ्रमण करने वाले तथा एक ही साथ खेलने वाले दो पक्षी के रूप में विराजते हैं। उनमें एक तो संसार वृक्ष के फलों का भोक्ता है और दूसरा बिना कुछ खाये पिये ही जीव रूप पक्षी के साथ रहकर उसके शुभाशुभ कर्मो का निरीक्षण करता हुआ सर्वदा परम प्रसन्न एवं शोभायमान रहता है। वह मंत्र इस प्रकार है –

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्ननन्यो अभिचाकशीति।।44

इस प्रकार अनेक श्रुतियों द्वारा ब्रह्म एवं जीव का स्वरूपतः भेद

कण्ठतः कहा गया है और श्री तुलसीदास जी भी इस पक्ष का समर्थन करते है—

जौं अस हिषिसा करहि नर जड़ विवेक अभिमान।

परहिं कलप भरि नरक महुँ, जीव कि ईस समान।।[45]

जीवों की परमार्थगति एवं संसारगति –

दृग्दृश्य विवेक के अन्तर्गत विद्यारण्य मुनि ने जीव के तीन भेद किये है— 1— अन्तःकरणावच्छिन्न कूटस्थ चैतन्य पारमार्थिक जीव। 2— मायावृत कूटस्थ में चित् का आभासरूप व्यावहारिक जीव, 3— निद्रा से आवृत व्यावहारिक जीव में कल्पित प्रातिभासिक जीव।[46] इस प्रकार विद्यारण्य ने जीव के उक्त भेदों का उल्लेख करके वैज्ञानिक अध्ययन का परिचय दिया है।

जीवों की सांसारिक गति का मूल कारण अविद्या है। वेदान्त के अनुसार अविद्या के द्वारा ही जीव में कर्तृत्त्वादि का अभिमान उत्पन्न होता है। विद्या की उत्पत्ति एवं अविद्या की निवृत्ति होने पर जीव अपने स्वरूप का बोध कर लेता है। यह आत्मबोध ही मुक्ति है। मुक्ति प्राप्त होने पर जीव का जीवत्त्व नष्ट होने से जीव का बन्धन नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार अविद्यावश जब तक रज्जु का सर्परूपेण ज्ञान होता है तब तक सर्पजन्य भय आदि बन्धन बने रहते है, परन्तु जब वास्तविक रूप रज्जु का ज्ञान होता है तो भ्रान्तिकालीन सर्प के नष्ट हो जाने पर तज्जन्य भयादि बन्धन भी स्वतः ही नष्ट हो जाते है। उसी प्रकार कूटस्थ ब्रह्मात्मकता के बोध के द्वारा जीव का जीवत्त्व नष्ट होने पर जीव के सुख – दुःखादि बन्धन भी स्वतः नष्ट हो जाते है।[47] इस प्रकार बन्धन

और मोक्ष का व्यवहार भी मायिक ही है।[48] ब्रह्म स्वभाव से शुद्ध एवं मुक्त है।

जीवों की सांसारिक गति का स्वरूप रामचरित मानस की दृष्टि से पूर्व में ही निरूपित किया जा चुका है। अतएव यहां मानस की दृष्टि में जीवों की पारमार्थिक गति विवेचनीय है।

<u>रामचरित मानस में जीवों की पारमार्थिक गति</u> –

गोस्वामी जी यहां वेदान्त के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए दिखाई देते है, उनका कहना है कि जीव और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होने पर दोनों में भेद भ्रम और तज्जनित भव संसृति दोनों नष्ट हो जाते हैं–

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तव भव मूल भेद भ्रम नासा।[49]

ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर जीव स्वतः "अहं ब्रह्मास्मि" ब्रह्म हो जाता है–

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।[50]

अनात्म में आत्म का बाध करना, और अपने को नित्य शुद्ध – बुद्ध 'चिदात्मा' समझाना 'बोधज्ञान' कहलाता है। संसार एक मोह की रात्रि के समान है। उस रात्रि में सभी सोए हुए होते है। जागने वाले केवल वे होते हैं जो परमार्थ (चिदात्मा का बोध प्राप्त करने) में उद्युक्त और अनात्म विश्व से वियुक्त होते हैं–

एंहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।[51]

जीव को जगा हुआ ('बोधज्ञान' के पथ में अग्रसर) तभी समझाना चाहिए जब उसे समस्त इन्द्रियों के विषयों से और उनकी वासनाओं से विरक्ति हो जावे–

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास बिरागा।।[52]

भव–चक्र और उससे उत्पन्न समस्त कष्टों से मुक्ति पाने का केवल एक ही मार्ग है, और वह यह है कि माया का त्याग किया जावे और 'परलोक' (परमार्थ) के साधन में लगा जावे–

तजि माया सेइअ परलोका। मिटहिं सकल भवसंभव सोका।[53]

शरीरों में सबसे अधिक दुर्लभ मानव शरीर है। इसके समान दूसरा शरीर नहीं है, क्योंकि इसी के द्वारा जीव को जैसी भी गति उसको अभीष्ट हो, वह प्राप्त कर सकता है–

नर तनु सम नहिं कवनिउँ देही। जीव चराचर जाचत जेही।

नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ग्यान विराग भगति सुभदेनी।।[54]

तुलसीदास जी ने जीव को निर्देश दिया है कि इस मानव शरीर को प्राप्त कर मनुष्य का केवल एक ही लक्ष्य होना चाहिए – परमार्थ साधन। इस साधन धाम और मोक्ष के प्रवेश द्वार को प्राप्त करके भी जिसने परमार्थ का साधन नहीं किया उसको अन्त में दुख उठाना ही पड़ेगा। इसलिए जीवात्मा को परमार्थ साधना को लक्ष्य बनाकर अग्रसर होना चाहिए, जैसा कि रामचरितमानस में प्रतिपादित किया गया है–

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।

साधन धाम मोच्छ करं द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि–धुनि पछिताइ।

कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।।

एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।

नर तनु पाइ विषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।

ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि सोई।

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी।

फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा।

कबहुँक करि करूना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरूत अनुग्रह मेरो।

करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।

सोकृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ।।[55]

अविद्या का बन्धन कर्म के साधनों से टूटता नहीं, बल्कि और भी दृढ़ होता है। कर्म – सन्यास द्वारा ही उससे छुटकारा मिला है। इसलिए बुद्धिमान और अनुभवी लोग शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मो को छोड़कर राम की भक्ति करते हैं –

करहि मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।

कालरूप तिन्हकहँ मैं भ्राता। सुभ अरू अशुभ करम फल दाता।

अस विचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहिं संसृति दुख जाने।

त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक। भजहिं मोहि सुरनर मुनि नायक।[56]

कर्म के संस्कारों का जो मल चित्त पर लगा हुआ है, वह कर्म (प्रवृत्तिमार्ग) से नहीं छूटता, उसके लिए प्रेम भक्ति का जल चाहिए –

छूटई मल कि मलहि के धोएँ। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोएँ।

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।[57]

वस्तुतः गोस्वामी जी की दृष्टि से भक्ति ही परम परमार्थगति है। तुलसीदास जी का मत है कि राग द्वेष और इन्द्रियों की प्रभावशीलता को त्यागकर विश्वासपूर्वक रामभक्ति में लीन होकर ही जीवात्मा संसार के कष्टों से मुक्त हो सकता है। शरीर और जीवात्मा के मिथ्या सम्बन्ध से उद्भूत कष्टों को राम ही दूर कर सकते है–

हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच।

तुलसी अलखहि का लखहि राम नाम जपु नीच।।[58]

जीवात्मा की ब्रह्मप्राप्ति के अवलंब राम है। वे व्यापक ब्रह्म है और जीवात्मा उनके सानिन्ध्य प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है, किन्तु मायिक वातावरण सच्ची प्रीति की रीति को पनपने नहीं देता।

वेदव्यास जी के मत में यह भक्ति जीवात्मा और परमात्मा में सम्बन्ध

ा निबन्धन एकत्व की स्थापना करती है क्योंकि जीवात्मा का परमात्मा से स्वरूपतः अभेद सम्भव नहीं है दोनों का स्वरूप नित्य है इसलिए जब तक एक का स्वरूप किसी एक में विलीन नहीं होगा तब तक नित्यता सम्भव नहीं है जबकि ये दोनों ही नित्य शाश्वत एवं पुराण हैं। जीव अज्ञान के वशीभूत होकर नाशवान सम्बन्धों से जुड़ जाता है इसलिए परमात्मा में भेद की कल्पना करके अपने से अभिन्न परमात्मा को पराया मान बैठता है। भक्ति तो संसार के सम्बन्धों को तोड़कर और परमात्मा का-जीव के साथ सेव्यसेवक भाव सम्बन्ध निश्चित करके उसके सभी सम्बन्धों को परमात्मा में समाहार करके जीव और ब्रह्म की सम्बन्ध निबन्धना एकता स्थापित करती है।

अतः जीव की पारमार्थिक गति भक्ति को ही मानना उचित होगा।

<u>वेदान्त तथा मानस की दृष्टि में ईश्वर जीव का सम्बन्ध</u> –

भगवान शंकराचार्य के अनुसार और तुलसी के अनुसार ईश्वर जीव का सम्बन्ध वारि वीचिसम्बन्ध जैसा ही है –

"सत्यपि भेदागमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।

सामुद्रो हि तरंगः कंचन समुद्रो न तारंगः।।[59]

"सो तैं तोहि ताहि नहि भेदा। वारि बीचि जिमि गावहिं वेदा।।[60]

हे नाथ ! यद्यपि हमारा आपका भेद नहीं तथापि मैं आपका हूँ आप मेरे नहीं। जैसे समुद्र का तरंग कहा जाता है, तरंग का समुद्र नहीं कहा जाता है। वह तू है, उसमें तुझमें भेद नहीं है। भेद वैसा ही है, जैसा वारि और बीचि का भेद है।

इस दृष्टि से विष्णु सच्चिदानंद समुद्र है। अनन्तानन्त जीव उनकी अनन्तानन्त तरंगें ही हैं। अतएव वे ही चेतन, अमल सहज सुखराशि है। संसार के सभी जीव तरंग ही है। पति पुत्रादि जीवों का आपसी सम्बन्ध वैसा ही है जैसे तरंगों का आपसी सम्बन्ध। एक तरंग का अपर तरंगों के साथ सम्बन्ध होता है। परन्तु वह सम्बन्ध स्थायी नहीं होता है। तरंगों के समान ही संयोग वियोग होता ही रहता है। जैसे चौराहे के प्याऊ पर चारों तरफ से राहगीर आकर इकट्ठे होते है। आपस में मेल जोल और प्रेम की बातें करते हैं। फिर अपने अपने रास्ते सब चले जाते हैं। किसी का कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं होता।

"कति नाम सुता न लालिताः कति नेह वधूरभुंजि हि।

क्व नु ते क्व नु ताश्च के वयं भवसंगपान्थसंगमः।।

कितने पुत्रों का लालन पालन नहीं किया, कितनी ही वधुओं का सम्बन्ध नहीं किया। परन्तु आज कहां वे सब हैं कहां हम है। निश्चित भवसंगम पान्थसंगम ही है।

नदी की बाढ़ में इधर उधर से आकर काष्ठ मिल जाते हैं। कुछ दूर तक मिले भी रहते हैं, परन्तु प्रवाह के थपेड़ों से सब पुनः विभक्त होकर बह जाते हैं वैसे ही जीव कर्मो के अनुसार पति – पत्नी आदि रूप से मिल जाते हैं–

"यथा काष्ठंच काष्ठंच समेयातां महोदधौ।

संयुज्य च व्यपेयातां तद्वज्जीवसमागमः ।।

परन्तु किसी भी हालत में तरंग का जैसे जल के साथ वियोग नहीं होता है, उसी

तरह जीवों का परमेश्वर के साथ वियोग नहीं होता। अतएव जीवों के सच्चे संगी साथी परमेश्वर ही हैं। जीव नहीं। मुख्य पति–पत्नी का सम्बन्ध भी वारि–बीचि जैसा ही है–

"गिरा अर्थ जल बीचि जिमि कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दहुँ सीतारामपद जिनहिं परम प्रिय खिन्न।।

सीता और राम का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा गिरा एवं अर्थ का तथा जल एवं बीचि का। इस दृष्टि से सब तरंगरूप जीवों के परम पति समुद्रस्वरूप भगवान ही हैं।

निष्कर्ष – तुलसी का जीव – विषयक सिद्धान्त वैष्णव वेदान्तियों के मत का समन्वंय है। रामानुज और बल्लभ के अनुसार जीव ईश्वर का अंश, नित्य ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता, ईश्वराधीन आदि है।[61] मध्व ने प्रत्येक जीव को अन्य जीवों से, ओर परमात्मा से तत्त्वतः भिन्न माना है। तुलसी ने भेदभाव ओर अभेदवाद दोनों का समन्वय किया है। स्वरूप की दृष्टि से जीव और ईश्वर में अभेद है। वह ईश्वर का अंश है, अतः ईश्वर की भॉति ही सत्य, चेतन एवं आनन्दमय है।[62] ऐवर्श्य आदि की दृष्टि से दोनों में भेद है।[63] जीवों की संख्या अनन्त है जीव ईश्वर का अंश मात्र है। वह माया का स्वामी नहीं है। मुक्त होने पर वह ईश्वर का स्वरूप तो प्राप्त कर लेता है, किन्तु ऐवर्श्य नहीं। उसका सारूप्य भोग–साम्य तक ही सीमित है। उसमें ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्व व्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता नहीं आती।

सन्दर्भ सूची

तृतीय अध्याय

1– जीवो हि अविद्यावेशवशाद् देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते.......... मिथ्याभिमान भ्रम निमित्त एवं दुःखानुभवः। (ब्र0सू0शा0भा0 2/3/46)

2– सिद्धान्तबिन्दु, पृ0 80

3– वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, श्लोक 22

4– ब्र0सू0शा0भा0 2–3–43

5– श्रीभाष्य, 2/3/45

6– सर्वदर्शनसंग्रह 4/30

7– Ghate The Vedant, Page 28

8– वैशेषिक मत में आत्मा और मन के संयोग से आगन्तुक चैतन्य होता है– (ब्र0सू0शा0िाा0 2/3/18)

9– Dr. Thibout, S.B.E. Introduction, Vol. XXXIV P. liv.

10– श्रीभाष्य, 2/3/20

11– ब्र0सू0शां0भा0 2/3/29

12– श्री भाष्य, 2/3/26

13– स जीवस्त्रिविधः वद्ध–मुक्त नित्यभेदात्

14– रहस्यत्रयसार, 4

15– तत्त्वमुक्ताकलाप, 2/27, 28

16– यतिपतिमतदीपिका पृ0 36

17– नायं सर्वगतः अपि त्वणुरेवायमात्मा (श्रीभाष्य, 2/3/20)

18– श्रीभाष्य, 2/3/20

19– भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ0 405

20– भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय

21– भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय

22– वेदान्तपरिजातसौरभ, 2/3/27

23– वेदान्तकौस्तुभ 2/3/42

24– दशश्लोकी, 2

25– Ghate The vedant, Page 9

26– प्रमेयरत्नार्णवः पृ0 7–9, 27 भा0द0

27– मानस, 15

28– मानस, 4/10

29– मानस, बालकाण्ड, 116

30– मानस, उत्तर काण्ड, 78

31– मानस, उत्तरकाण्ड, 118

32– मानस, उत्तरकाण्ड 109

33– मानस, किष्किन्धाकाण्ड, 3

34– मानस, उत्तरकाण्ड, 13

35– मानस, 1/69

36– मानस, अयोध्याकाण्ड, 92

37– मानस, अयोध्याकाण्ड 219

38– मानस, अरण्यकाण्ड 15

39– मानस, उत्तरकाण्ड, 78–79

40– मानस, अरण्यकाण्ड, 15

41– मानस, उत्तरकाण्ड, दोहा सं0 43 के पश्चात्

42– मानस अयोध्याकाण्ड, 276

43– मानस, उत्तरकाण्ड

44– मुण्डकोपनिषद 3/1/1

45– मानस, 1/39

46– सिद्धान्तलेश संग्रह 1/38/39 पृ0

47– मुण्डकोपनिषद् 2/2/8

48– बन्धमोक्षोपदेशादिव्यवहारोऽपि मायया। मानसोल्लास 2–56, अड्यार मद्रास

49– मानस उत्तरकाण्ड, 118

50– मानस, अयोध्याकाण्ड 127

51– मा0 अयोध्याकाण्ड, 93

52– मानस अयोध्याकाण्ड 93

53– मानस किष्किन्धाकाण्ड, 23

54– मानस उत्तरकाण्ड, 121

55– मानस, उत्तरकाण्ड, 43–44

56– मानस, उत्तरकाण्ड, 41

57– मानस, उत्तरकाण्ड, 7, 49

58– दोहावली, दोहा सं0 19

59– षट्पदी

60–रामचरितमानस 7/110/3

61– तुलसी–दर्शन–मीमांसा, पृ0 347, 350

62– रामचरितमानस 7/117–11

63–तुलसी दर्शन मीमांसा पृ0104–5

---0---

चतुर्थ अध्याय

(क) वेदान्त सम्प्रदाय में जगत् का स्वरूप।

(ख) रामचरितमानस में जगत् का स्वरूप।

(ग) जगत् की सत्यता एवं मिथ्यात्व का विचार।

(घ) माया का स्वरूप एवं कार्य।

(ङ) माया का परिवार तथा माया और प्रकृति।

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में जगत का स्वरूप

शांकर अद्वैतवाद का मूल सिद्धान्त – ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'' जीवो ब्रह्मैव नापरः है। इस सिद्धान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, और जीव ब्रह्म ही है। जगत् और जीव की द्वैतानुभूति का निराकरण करके एकमात्र ब्रह्म को सत्य स्वीकार करना ही अद्वैतवाद है। उस ब्रह्म की ज्ञान क्रिया और बलक्रिया भी स्वाभाविक ही है।[1] ब्रह्म स्वयं परिपूर्ण शक्तिवाला है।[2] ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा लय का कारण है। अद्वैत मतानुसार यह जगत् नितान्त असत्य है। नित्यपरिवर्तनशील या परिणामस्वभाव ही जगत् है। परिणाम, प्रवृत्ति या परिवर्तन जगत् का स्वभाव है। एक क्षण के लिए भी जगत प्रवृत्तिशून्य नहीं रहता। जगत् स्वप्नवत् अलीक है। स्वप्न ज्ञान–स्मृतिमात्र है, परन्तु जागरित ज्ञान उपलब्धि है। इसलिए जगत् को स्वप्नवत अलीक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः जीवन्मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी के लिए जगत् बाधित रहता है, पर व्यवहार दशा में यह जगत् उतना ही ठोस व वास्तव है जितना अन्य कोई पदार्थ। अतः जगत् की पारमार्थिकी स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी स्थिति मान्य है।

ब्रह्म प्रपंच रहित और शिवस्वरूप है। ब्रह्म–जीव ब्रह्म–जगत और जीव की द्वैतावस्था का भान तभी तक होता है, जब तक कि पारमार्थिक ब्रह्मज्ञान नहीं हो जाता। इस भेद बुद्धि एवं प्रपंच की सत्य प्रतीति का कारण अध्यास है।

अध्यास

अध्यास सर्व प्रपंच का मूल कारण है। यह अध्यास नैसर्गिक है। अध्यास ही मिथ्या प्रत्यय रूप है और कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रर्वतक होने के साथ – साथ लोक प्रत्यक्षीकरण का हेतु है।[3] अनादि एवं अनन्त अध्यास ही जगत के प्रमाण एवं प्रमेय समस्त व्यवहार का मूल कारण है। शंकराचार्य ने अध्यास की निम्नलिखित परिभाषा दी है –

'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः।

किसी पदार्थ में उससे भिन्न पदार्थ का आरोप ही अध्यास है। अध्यास को ही शंकराचार्य ने अविद्या कहा है।[4] आरोपवाद के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य ने रज्जुसर्प का दृष्टान्त दिया है।[5] रस्सी रूप वस्तु में सर्प अवस्तु का मिथ्या ज्ञान ही आरोप है। अध्यास अर्थात् अविद्या के द्वारा ही रस्सी सर्प रूप में भासित होती है। परन्तु अविद्या निवृत्ति के पश्चात रस्सी का वास्तविक ज्ञान हो जाता है। यही बात ब्रह्म रूप सद्वस्तु और जगत् रूप असद् वस्तु के सम्बन्ध में विचारणीय है। स्वयंप्रकाश, चेतन, आनन्द स्वरूप ब्रह्म परमार्थ वस्तु है और प्रपंच रूप दृष्यमान समस्त जड़ पदार्थ समूह अवस्तु है। अध्यास के द्वारा ही स्वयं प्रकाश ब्रह्म रूप परमार्थ वस्तु में अज्ञान तथा तज्जनित सम्पूर्ण चराचर जगत् रूप वस्तु अवस्तु अवभासित होती रहती है। किन्तु ब्रह्मरूप वस्तु के ज्ञात होने पर जगत् रूप अवस्तु का भ्रम दूर हो जाता है। यही अद्वैतसिद्धान्त, अभिमत सिद्धान्त है। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन विर्वतवाद के सिद्धान्त के आध ार पर किया है।

<u>विर्वतवाद का सिद्धान्त</u> – आचार्य शंकर ने अध्यास के सहारे समस्त प्रपंच रूप जगत का खंडन करके अद्वैत ब्रह्म तत्व का मंडन किया था। आचार्य शंकर का तर्क है कि पारमार्थिक रूप से अद्वैत ब्रह्म रूप कारण और प्रपंच रूप जगत में अनन्यत्व है। इसीलिए शंकराचार्य ने कार्य कारण संबंध के विषय में विकारवाद का खंडन करके विर्वतवाद के सिद्धान्त की स्थापना की है। तात्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं।[6] शंकराचार्य के मतानुसार जगत को ब्रह्म का विकार कहना असंगत है। जगत् को ब्रह्म का विकार कहना उसी प्रकार असंगत है, जिस प्रकार घट अथवा शराब को मृत्तिका का विकार कहना अनुचित है।[7] जिस प्रकार घट और शराब के भग्न होने के उपरान्त केवल मृत्तिका ही वर्तमान रह जाती है, उसी प्रकार मिथ्या प्रपंच जगत का विनाश होने के उपरान्त केवल एक ब्रह्म ही सत्य रह जाता है। शांकर दर्शन में ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध में विकारवाद का सिद्धान्त पूर्णतया अस्वीकार्य है। दही दूध का विकार है, परन्तु जगत् को ब्रह्म का विकार नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म और जगत् के इस सम्बन्ध में जो सत्यासत्य रूप मिलता है वह दधि दुग्ध के सम्बन्ध में नहीं है। इसलिए जगत् ब्रह्म का विवर्त है न कि विकार। शांकर मत का यह ब्रह्म निर्गुण, शुद्ध, बुद्ध एवं स्वतः मुक्त है। विर्वतवाद के सिद्धान्त के अनुसार ही ब्रह्म में जगत् का पृथक् रूप से भान होता है। शांकर अद्वैतवाद का मूलाधार सत्तात्रय की कल्पना है। ये सत्तायें – प्रतिभासिकसत्ता, व्यावहारिकसत्ता, और परमार्थिकसत्ता है।

<u>प्रातिभासिक सत्ता</u> –

प्रातिभासिक सत्ता के अनुसार प्रतीतिकाल में असद्वस्तु सत्य भासित होती है। परन्तु उत्तरकाल में इस असद् वस्तु का बोध हो जाता है। शुक्ति में रजत का भास प्रातिभासिक सत्ता के अनुसार ही है। उत्तर काल में शक्ति का ज्ञान होने पर रजत का बोध हो जाता है। यही बोध रज्जु और सर्प के दृष्टान्त के सम्बन्ध में भी है। सर्प और रजत आदि का प्रातिभासिक ज्ञान भी निराधार नहीं होता। सर्प का अधिष्ठान, रज्जु और रजत का अधिष्ठान शुक्ति है, इस प्रकार सर्प और रजत की सत्ता शंकराचार्य ने प्रातिभासिक मानी है।

1– **व्यावहारिक सत्ता** –

जगत् के समस्त व्यावहार गोचर पदार्थो की सत्ता व्यावहारिक है। जगत के व्यावहारिक पदार्थ केवल व्यवहार में सत्य हैं। परमार्थ दृष्टि से ये सब मिथ्या है। ब्रह्म बोध होने से पूर्व ही व्यावहारिक जगत् की सत्य प्रतीति होती है। इसी अवस्था में समस्त लौकिक और वैदिक व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं। स्वाभाविक ब्रह्म का बोध न होने के कारण ही 'मैं और मेरे' की भावना का व्यवहार होता है।[8]

ब्रह्म बोध होने पर केवल अद्वैत ब्रह्म ही सत्य रूप से अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार व्यावहारिक सत्ता की स्थापना के द्वारा शंकराचार्य ने लौकिक व्यावहार की सत्यता की रक्षा की है।

पारमार्थिक सत्ता –

ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है। यह सत्ता ही एकान्त रूप से सत्य है

एवं तीनों कालों में अवाधित रहती है। ब्रह्म, भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में वर्तमान रहता है। उसका बाध किसी भी काल में नहीं होता। पारमार्थिक सत्ता का बोध हो जाने पर प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ताओं का बांध हो जाता है। पारमार्थिक सत्ता ही अद्वैत की पोषक है। इस प्रकार पारमार्थिक सत्ता के द्वारा शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त का मंडन किया है। परमार्थावस्था में केवल विशुद्धात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। इस स्थिति में साख्य, शैव, पांचरात्र, जैन और मीमांसकादि दर्शनों के मतों का प्रश्न भी नहीं उठता है।[9]

अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह जगत् नितान्त असत्य पदार्थ है। नित्य परिवर्तनशील या परिणाम स्वभाव ही जगत् है परिणाम प्रवृत्ति या परिवर्तन ही जगत् का स्वभाव है। एक क्षण के लिए भी जगत् प्रवृत्तिशून्य नहीं रहता है। ब्रह्म की प्रेरणा से माया पंचस्थूल भूतों को उत्पन्न करती है, और इसी स्थूल भूत समूह से सम्पूर्ण स्थावर – जंगम जगत् उत्पन्न होता है। कार्य–कारण भाव का विचार करने पर जगत् की कल्पना अनिर्वचनीय ही है। अद्वैत वेदान्तियों के मत में आरम्भवाद तथा परिणामवाद दोनों भ्रान्ति के ऊपर प्रतिष्ठित हैं।

शांकरवेदान्त का, ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध में प्रचलित अधिष्ठानवाद का सिद्धान्त भी रामानुज दर्शन पद्धति में ग्राह्य नहीं है। अद्वैतियों के अंधिष्ठान वाद के अनुरूप ब्रह्म अधिष्ठान एवं जगत् अध्यास अविद्या रूप है। जबकि रामानुज वेदान्त के अन्तर्गत अविद्यावाद या मायावाद सिद्धान्त को मूलतया अस्वीकार किया गया है। शांकर वेदान्त का जगन्मिथ्यात्व का सिद्धान्त

प्रसिद्ध है।

<u>विशिष्टाद्वैत की दृष्टि में जगत</u> –

शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या (अनिर्वचनीय) कहा है। आचार्य के मत में समस्त नाम रूपात्मक प्रपंच मिथ्या है। इसके विपरीत आचार्य रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार जगत ब्रह्म का शरीर है। इसीलिए इस मत में जगत् मिथ्या न होकर सत्य ही है। रामानुज के मत में ब्रह्म और जगत् का ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा कि पुष्प और गन्ध का, स्वर्ण और तद्गत पीतिमा का। ब्रह्म रूप विशेष्य को जगत् रूप विशेषण से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः ब्रह्म में ही सारा जगत् अन्तर्भूत है। प्रलयकाल में कारणावस्था में वर्तमान ब्रह्म में प्रकृति अव्यक्त रूप से वर्तमान रहती है। कारणावस्था सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म अपनी इच्छा से विचित्र शक्ति के योग से नामरूपात्मक जगत एवं अनन्त जीवों की सृष्टि करता है। जीव अपने गत जीवन के पाप– पुण्य के आधार पर ही शरीर धारण करते है। नामरूपात्मक सृष्टि के विकास का यह रूप ब्रह्म का कार्यरूप है। इस प्रकार प्रलय एवं सृष्टि ब्रह्म की ही कारण और कार्य रूप दो अवस्थायें हैं। ब्रह्म ही कार्यावस्थ और कारणावस्थ रूप से स्थित है।[10] यहां यह विचारणीय है कि स्रष्टा ईश्वर का सर्जना कार्य जीवों के गत कर्मो पर आधारित होने के कारण ईश्वर की पूर्ण स्वतन्त्रता का बाधक है।11

<u>द्वैताद्वैत में जगत</u> –

मूल रूप में जगत् अचित् जड़ पदार्थ है। निम्बार्काचार्य ने अचित् जड़

जगत् के तीन रूप माने हैं – प्राकृत, अप्राकृत और काल।[12] महत्तत्त्व से लेकर महाभूतपर्यन्त जगत् प्राकृत है। यह प्रकृति भी सांख्यवत् त्रिगुणात्मिका है, परन्तु स्वतन्त्र न होकर ईश्वर के द्वारा नियंत्रित है। भगवान के लोक एवं अलंकारादि अप्राकृत पदार्थ है। ये प्रकृति के गुणों द्वारा निर्मित नहीं होते। निम्बार्क की यह अप्राकृत तत्व की कल्पना रामानुज के शुद्ध सत्व या नित्य विभूति से मिलती जुलती है। कालतत्व प्राकृत एवं अप्राकृत दोनों तत्वों से बिल्कुल भिन्न है। कालतत्व ही संसार के समस्त चक्रों का नियामक है। परन्तु ईश्वर उसका भी नियन्ता है। काल, स्वरूप से नित्य होते हुए भी कार्यरूप से अनित्य है।

द्वैतवाद में जगत का स्वरूप –

जगत् – मध्व दर्शन के अनुसार प्रकृति, जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर, उपादानकारणभूता प्रकृति से अनेकानेक रूपों की सृष्टि करता है। ईश्वर स्वयं प्रकृति के अनेक रूपों में वर्तमान रहता है। इस प्रकार प्रकृति भी परमात्मा का ही रूप है। व्यक्तावस्था में प्रकृति के – महत्, अहंकार बुद्धि, मन, दशेन्द्रियां, पंचतन्मात्राएं और क्षित्यादि पंचतत्व, ये चतुर्विंशति तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। अव्यक्तावस्था में, मूल प्रकृति में, ये तत्व सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहते हैं। लक्ष्मी अपने श्री, भू एवं दूर्गारूप के द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति की अध्यक्षता करती है। मध्वदर्शन के अनुसार अविद्या प्रकृति का ही रूप है। [13] इस अविद्या के ही जीवाच्छादिका एवं परमाच्छादिका, ये दो रूप हैं। अविद्या जीवाच्छादिका रूप में जीव की आध्यात्मिक शक्ति को आच्छन्न कर लेती है, और अपने परमाच्छादिका रूप में परमात्मा को आवृत्त कर लेती है। परमाच्छादिका अविद्या

के आवरण के कारण ही, जीव परमात्मा का साक्षात्कार करने में असमर्थ होता है।[14]

शुद्धाद्वैत के मत में जगत –

जगत् – वल्लभ–दर्शन के अनुसार शुद्ध ब्रह्म ही कारण एवं कार्य है। शुद्ध ब्रह्म को जगत की सृष्टि के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं है।[15] ब्रह्म ही आविर्भाव काल में जगत् का रूप धारण कर लेता है। इसलिए जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। आचार्य वल्लभ जगत् के सम्बन्ध में अविकृत परिणामवाद सिद्धान्त को महत्त्व देते हैं। ईश्वर अपनी इच्छा से जगत की सृष्टि और संहार करता है। जीव के समान जगत् भी ईश्वर का ही रूप है और वह ईश्वर से अभिन्न है।[16] जगत् ईश्वर की आविर्भाविका शक्ति का ही फल है। ईश्वर स्वेच्छा से आविर्भाविका शक्ति के द्वारा जगत् रूप में आविर्भूत होता है और तिरोभाविका शक्ति के द्वारा समस्त जीवों एवं जगत का ईश्वर में तिरोधान हो जाता है। इस प्रकार जगत् ईश्वर का रूप होने के कारण, अद्वैतवेदान्त की तरह मिथ्या नहीं है। ईश्वर ही समस्त जगत् का शासक तथा नियन्ता है।

रामचरितमानस में जगत् का स्वरूप –

तुलसीदास जी का जगत् सम्बन्धी विचार भी भिन्न – भिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर बना है और उन सिद्धान्तों की पूर्ण व्याख्या उनकी रचनाओं में हुई है। प्रत्येक जटिल प्रश्न के बहुधा तीन पक्ष होते है वैसे ही जगत सम्बन्धी समस्या के भी तीन पक्ष हैं। कोई जगत को सत्य कोई असत्य और कोई

सत्य असत्य दोनों मानता है। परिणामवादी सांख्याचार्य की दृष्टि में जगन्मिथ्या नहीं, सत्य है। अद्वैतवादी विवर्तवाद को महत्व देकर 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' का उद्घोष करते है और नैयायिकों की दृष्टि में जगत् सत्या–सत्य है। तुलसी की रचनाओं में जगत् के प्रति भिन्न–भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण मिलते हैं।

तुलसी जगत को मिथ्या कहते है। यह संसार धूंए के महल के समान क्षण – क्षण में मिटने वाले पदार्थों के समान है। जगत् प्रपंच है, मिथ्या है। इस मिथ्या जगत के जितने सम्बन्ध, जितने कर्म – अकर्म और जो कुछ हो रहा है सभी प्रपंच है, माया का जाल है और मिथ्या है।

तुलसीदास जी ने जगत को माया से उत्पन्न माना है। हमारी इन्द्रियां और उन इन्द्रियों के समस्त विषय माया से उत्पन्न हैं –

गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब माया जानहुँ भाई।।[17]

संसार, तुलसी के विचार से कपट का घर है। इस सुन्दर जगत में सत्य का आभास है, सत्य नहीं। संसार का तो अस्तित्व ही नहीं है, माया के बल संसार दीखता है। इस कपट से पार पाना आसान नहीं। मेघनाद वध का समाचार सुनकर मंदोदरी विलाप करती हुई रावण को समझाती है और रावण प्रत्युत्तर में जो कुछ कहता है उसमें काफी सार है। रावण इस तथ्य को जानता था कि यह संसार मायामय मायापति राम की ही कृति है और उनके किये ही सब कुछ हो रहा है। अतः मन्दोदरी को समझाते हुए वह कहता है –

तब दसकंठ विविध विधि समुझाई सब नारि।

नस्वर रूप जगत सब देखहुँ हृदय विचारि।।[18]

सुग्रीव राम की प्रशंसा करता हुआ संसार के सुख–दुख शत्रु–मित्र आदि को नश्वर और मिथ्या मानता हुआ कहता है –

शत्रु–मित्र, सुख–दुख जग माहीं। माया कृत परमारथ नाहीं।[19]

प्रकारान्तर से यहां जग के मिथ्यात्व का बोध कराया गया है जिस पर अद्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट है। यह संसार वास्तविक नहीं, मायाकृत है। इसका अस्तित्व ही नहीं है। संसार की नश्वरता और मिथ्यात्व का प्रतिपादन लक्ष्मण, सुग्रीव और रावण द्वारा किया गया है। किन्तु कई स्थलों पर जगत की सत्यता पर विश्वास भी प्रकट किया है। उनका कहना है कि यदि संसार असत्य है, मिथ्या है तो फिर त्रिविध ताप से मनुष्य क्यों दग्ध होता है? यदि संसार असत्य है तो त्रिविध ताप भी संसार के असत्य हैं। फलतः यह संसार ज्ञानवान के लिए असत्य और अज्ञानियों के लिए सत्य है। उनका विश्वास है कि संसार मिथ्या नहीं। संसारं वास्तविक और सत्य है और विधाता की सुन्दर कृति है। तुलसी की दृष्टि में संसार सत्य ही है। ''सीय राममय सब जग जानी'' समझने वाले तुलसी की दृष्टि में संसार निस्सार कैसे? सर्वत्र ही उसके व्यापक प्रभु विराजमान है। यह संसार ''कपट का घर'' होते हुए भी परमात्मा से संभूत होने के कारण अथवा मायाजनित होकर भी सत्य है। दृश्यमान जगत् को मानव असत्य कैसे समझ सकता है। जो कुछ मनुष्य देखता या सुनता या कहता है वह वस्तुतः संसार में ही। इस कारण संसार सत्य तो है ही, संसार के बन्धन भी प्रायः सत्य ही हैं। संसार की सत्यता और वास्तविकता का प्रतिपादन तुलसी दास जी स्वयं करते हुए कहते हैं –

"सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत"।।[20]

तुलसी की दृष्टि से संसार भगवान् का व्यक्त रूप है। वेदों ने राज्याभिषेक के समय राम की स्तुति करते हुए संसार का जो वर्णन किया है उससे संसार की वास्तविकता की ही पुष्टि होती है–

अव्यक्तमूलमनादि तरू त्वच चारि निगमागम भने।

षट कंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने।।

फल जुगल विधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।

पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे।।[21]

इस प्रकार जगत् की "सत्यता" रामचरित मानस का प्रथम पक्ष है। द्वितीय पक्ष जगत का मिथ्यात्व भी है जो अवश्य विचारणीय है।

<u>रामचरितमानस में जगत् के मिथ्यात्व का निरूपण</u> –

संसार के सभी सत्य माया के भीतर की चीजें है। माया स्वयं ही भगवान् की सत्ता से ही प्रतीत होती है। जिस परम सत्य भगवान् से जड़ माया सत्यवत् प्रतीत होती है, वह भगवान ही अन्तिम सत्य है। उनको बिना जाने मिथ्या जगत् एवं उसकी मूलभूत माया भी सत्य प्रतीत होती है। वही पारमार्थिक सत्य वस्तु हैं। अतएव यह कहना सर्वथा असत्य है कि गोस्वामी जी किसी भी सिद्धान्त को अंगीकार करके तात्कालिक समस्या का समाधान कर लेते है। पर

वे किसी सिद्धान्त को पूर्ण सत्य का पद देने को प्रस्तुत नहीं हैं, क्योंकि यह तो अवसरवादिता ही है।

गोस्वामी जी किसी मत विशेष के घेरे में नहीं जाते यह कहना भी अज्ञता ही है। गोस्वामी जी वेद – वेदान्त सिद्धान्त के घेरे में रहकर गर्व का अनुभव करते है। श्रीराम उनकी दृष्टि में भी परम सत्य है। पूर्ण सत्य है। यह उनकी ही पंक्तियों से सिद्ध है।

"कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ माने।

तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम तब आपन पहिचाने।।"

इस पंक्ति में गोस्वामी जी कहते है कि कुछ लोग सृष्टि को मिथ्या, कुछ लोग सत्य एवं कुछ लोग सत्यासत्य के रूप में प्रतिपादित करते हैं। पर ये तीनों भ्रम है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्रानभिज्ञता के कारण ही उपर्युक्त भ्रम है।

"शून्य भीति पर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखे चितेरे।

धोये मिटै न मरइ भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे।।

रविकर नीर बसे अतिदारूण मकररूप तेहि माही।

वदनहीन सो ग्रसे चराचर पान करन जे जाहीं।।

इन पंक्तियों का भी निष्कर्ष यही है कि यद्यपि दुनियां में बिना आधार के चित्र का उल्लेख नहीं हो सकता। बिना रंग के और बिना शरीर के कोई चित्रकार चित्र नहीं लिख सकता है परन्तु जो चित्र धोने से धुल भी नहीं सकता है।

परमेश्वर रूपी चित्रकार ने बिना आधार ही जगच्चित्र का निर्माण किया है और बिना रंग के यह चित्र बना है। चित्रकार को इसके निर्माण के लिए तन की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि वह तो बिना आंख के देखता है, बिना कान के सुनता है, बिना पैर के चलता है एवं बिना हाथ के नाना प्रकार के कर्म करता है। तन के बिना स्पर्श और घ्राण के बिना सर्वविध गन्धों को ग्रहण करता है–

पग बिन चले सुने बिन काना। कर बिनु कर्म करे विध नाना।।

आनन रहित सकल रसभोगी। बिन वाणी वक्ता बड़ योगी।।[22]

तत्वज्ञान के बिना यह जगत् किसी के मिटाये मिट भी नहीं सकता। यह सब भी उनकी निजी बात नहीं है। किन्तु श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है। श्रुति भी यही कहती है –

''अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्चत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।।[23]

इसी बात को व्यतिरेकमुखेन 'शिवमहिम्न' में कहा गया है। ईश्वर किस प्रकार की चेष्ठा द्वारा, किस शरीर से, किस उपाय से, किस आधार पर एवं किस उपादान से विश्व का निर्माण करता है, इत्यादि कुतर्क कुछ हतबुद्धि लोगों को जगत में व्यामोंह फैलाने के लिए मुखरित (वाचाल) करते हैं।

प्रकृत में केवल सजातीय–विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य एक अद्वितीय स्वप्रकाश भगवान् से भिन्न होकर कुछ भी नहीं है। आधार के बिना, शरीर के बिना और चेष्टा बिना जगत कैसे बन सकता है? अतर्क्य ऐश्वर्य वाले ''कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु ''समर्थ'' भगवान में उक्त दुस्तर्क अनवसरग्रस्त है। उनकी

अघटितघटना पटीयसी माया सब कुछ कर सकती है और स्वयं मिथ्या होने पर भी उनकी सत्ता से सत्य होकर सत्य प्रपंच का निर्माण बिना आधार आदि के कर सकती है, या वह भगवान् ही अपनी इस अचिन्त्य माया शक्ति के द्वारा बिना साध ानों के भी उक्त जगच्चक्र का निर्माण कर सकते हैं।

"किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं

किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।

अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः

कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः।।"

यह संसार रविकर नीर अर्थात मरूमरीचिका जल ही है। इस मृगतृष्णिकोदक में एक मोह रूपी मकर है जो बदनहीन होने पर भी वहां जलपान करने जो जाते हैं, उन सभी चराचर को ग्रस लेता है।

यदि पानी ही सत्य नहीं तो उसमें सत्य मकर कैसे होगा? फिर उसके मुख भी कहां? फिर भी जब तक तत्व का साक्षात्कार नहीं होता, भ्रम नहीं मिट जाता, तब तक मिथ्या संसार व्यामोह सबको ग्रस्त करता ही है।

"कोउ कह सत्य झूठ कह कोई"

इन पंक्तियों का यह अर्थ है कि कुछ लोग जगत को सत्य (अत्यन्ताबाध्य) कहते है। कुछ झूठ वन्ध्यापुत्र तथा खपुष्पवत् अत्यन्त असत् कहते हैं। कुछ लोग सत असत उभयरूप मानते है। परन्तु ये तीनों ही पक्ष भ्रान्त

हैं। त्रिविध भ्रम परित्याग से ही परमात्मज्ञान हो सकता है। जगत् ब्रह्म के समान सत नहीं है, क्योंकि वह विनश्वर है, तत्वज्ञान से ही मिट जाता है। अत्यन्त असत भी नहीं है, क्योंकि वह दुःखादि अनर्थ का मूल है। खपुष्पादि नहीं होते, यह प्रतीत होता है।

''क्वचिदप्युपाधौ सत्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वमसत्वम्।'' जो किसी स्थल में प्रतीयमानत्वधर्म का अधिकरण न हो अर्थात् कहीं सत् रूप से जिसकी प्रतीति न हो वही असत् है। ऐसे खपुष्पादि ही होते हैं, जगत् नहीं? क्योंकि जगत सत रूप से प्रतीत भी होता है एवं इसमें कार्यकरण क्षमता भी है। अतः यह जगत् न सत् है, न असत है और न सदसत है। क्योंकि सत और असत दोनों विरूद्ध होने से दोनों का समन्वय हो ही नहीं सकता है। अविचाररितरमणीय, मिथ्या और झूठ शब्दों के दो अर्थ होते है। एक अपलाप या अत्यन्त असत् अर्थ है। दूसरा पूर्वोक्त सदसद्विलक्षण अविचारितरमणीय अनिर्वचनीय अर्थ है। इसीलिए अध्यासभाष्य में भाष्यकार ने कहा है – 'मिथ्याशब्दो नापह्नववचनः किन्त्वनिर्वचनीयतावचनः' आक्षेप भाष्य में मिथ्या शब्द का अर्थ अपह्नव अपलाप इनकार करना है, अनिर्वचनीयता यहां मिथ्याशब्द का अर्थ अभिप्रेत नहीं है।

लोक में जैसी वस्तु है उसे वैसा न कहकर उसके विपरीत कहने वाले को मिथ्यावादी कहा जाता है। बौद्धों का शून्य कोटि चतुष्टयविनिर्मुक्त कहा जाता है। वह सत, असत, सदसत और सदसद्विलक्षण इन चारों पक्षों से भिन्न है। नास्ति बुद्धि का गोचर न होने से बौद्ध शून्य को असत् से विलक्षण मानते है। किन्तु चारों ओर से विलक्षण अत्यन्ताबाध्य स्वप्रकाश सत रूप है। ''सदैव

सौम्येदमग्र आसीत"[24] अस्तीत्येवोपलब्धव्यः।" (उपनिषद)

यदि झूठ का अर्थ वेदान्तियों का मिथ्यात्व स्वीकार किया जाएगा और युगल प्रबल का अर्थ पूर्वोक्त दोनों पक्षों का समुच्चय सत्यासत्य कहा जाएगा तो वह असम्भव ही होगा। क्योंकि वैसा किसी भी दार्शनिक का पक्ष ही नहीं। जगत को सत्य भी मिथ्या भी दोनों मानना सर्वथा असंभव है।

"करम उपासन ज्ञान वेदमत सो सब भांति खरो" इस पद को पूर्वोक्त– "तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहचाने" इसे पूर्वोक्त से विरूद्ध समझना भी गलत है, क्योंकि भगवान की सत्यता से ही माया भी सत्य है, जगत भी सत्य है। यह कहा ही जा चुका है। कर्म उपासना और ज्ञान तीनों ही निश्चित रूप से अपना फल प्रदान करते हैं। उनका अपने – अपने फल के साथ कार्य कारण भाव सत्य है। अव्यभिचरित है, व्यभिचरित नहीं, यही उसका खरा होना है।

जेहि जाने जग जाई हेराई। जागे यथा स्वप्नभ्रम जाई"[25]

"एहिविधि जग, हरि आश्रित रहई। यदपि असत्य देत दुख अहई।[26]

"जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे।

धुवां कैसे धौरहर देख तू न भूलि रे।।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने इन पूर्वोक्त वर्णनों से भी सृष्टि का मिथ्यात्व ही प्रतिपादित किया है। यह कहना अनुचित होगा कि इस समाधान को एक सीमा तक गोस्वामी जी यत्र–तत्र स्वीकार करते हैं। परन्तु वह सिद्धान्त भी किन्हीं

कसौटियों पर खरा नहीं उतरता है। अतएव सैद्धान्तिक दृष्टि से उसे भी भ्रम अथवा सीमित सत्य का ही नाम देना होगा" क्योंकि मानस में इसका विरोधी कोई वचन नहीं है। शिव जी द्वारा इस प्रसंग में राम और जगत दोनों के यथात्म्य का वर्णन है। जगत का मिथ्या होना या सीमित सत्य होना दोनों एक ही बात है। शुक्ति रजत एवं रज्जु सर्प के समान होता हुआ भी संसार शुक्ति, रज्जु आदि के समान सत्य ही माना जाता है। इस लिए जैसे व्यवहार में कल्पित सर्प और रजत बाधित होते है, उसी तरह उसके अधिष्ठानभूत शुक्ति और रज्जु बाधित नहीं होते। वेदान्त में घट, रज्जु शुक्ति आदि को भी मिथ्या कहा गया है। किन्तु घट के कारण मृत्तिका आदि को सत्य कहा गया है– [27]

इसी तरह मृत्तिकादि कारण भी अपने कारण की अपेक्षा कार्य विकार होने से मिथ्या है। अन्तिम परमकारण या कार्यकारणातीत राम ही परम सत्य हैं। तद्भिन्न सब मिथ्या या सीमित सत्य ही कहे जा सकते है। परन्तु सर्वाधिष्ठानभूत भगवान् परम सत्य हैं। सत्य के भी सत्य हैं। उन्हें सीमित सत्य नहीं कहा जा सकता।

मंगलाचरण में प्रायः सभी ग्रन्थकार अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का प्रयत्न करता है। तुलसीदास जी मंगलाचरण में अपने इष्ट देवता भगवान् राम की वन्दना करते हुए कहते है – सम्पूर्ण ब्रह्मादि देव एवं असुरसंघ सभी जिनकी माया के वशवर्ती है। जिनके सत्व अर्थात् सत्ता से सब कुछ वैसे ही अमृषा अर्थात् सत्य प्रतीत होता है जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम सत्य ही प्रतीत होता है एवं भवाम्भोधि तरने की इच्छा वालों के लिए जिनके पादारविन्द प्लव

जहाज हैं, उन अशेष कारण राम नाम वाले सर्वोत्कृष्ट ईश्वर हरि की मैं वन्दना करता हूँ –

"यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवा सुरा

यत्सत्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां

वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।।"

रज्जु में सर्प–भ्रम के समान भगवान में सकल प्रपंच है। ऐसा मंगलाचरण जगत के मिथ्यात्व को अंगीकार करने वाले ही करते है, अन्य नहीं। भगवान शिव भी कथारम्भ के पहले मंगलाचरण उसी ढंग से करते हैं–

"झूठेउ सत्य जाहि बिन जाने। जिमि भुजंग बिन रजु पहिचाने।।

जेहि जाने जग जाई हेराई। जागे यथा स्वप्नभ्रम जाई।।

वन्दउँ वालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जस नामू।।[28]

झूठा भी जगत् जिसको बिना जाने सत्य प्रतीत होता है। जैसे बिना रज्जु को पहचाने सर्प सत्य प्रतीत होता है। जिसको जानने से जगत् हराय जाता है, अत्यन्त बाधित हो जाता है जगत का पता नहीं लगता। जैसे जाग जाने पर स्वप्न चला जाता है। स्वप्न की वस्तुओं का कहीं पता भी नहीं लगता। उन बालरूप राम की मैं वन्दना करता हूँ। जिनका नाम जपने से सब प्रकार की सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं।

अपने भगवान राम का ही स्वरूप निरूपण करते हुए भगवान शिव कहते हैं–

"जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू।

जासु सत्यताते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।[29]

"रजत सीप महं भास जिमि यथा भानुकर बारि।

यदपि मृषा तिहुं काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि।।[30]

अव्यक्तादि विकारान्त सारा जगत् प्रकाश्य है। प्रकासक अखण्ड बोध राम हैं जिसकी सत्यता से जड़ माया भी मोह की सहायता से सत्य प्रतीत होती है। जैसे सीप में रजत एवं सूर्य की किरणों में जल प्रतीत होता है। यद्यपि सीप में रजत तथा सूर्यरश्मि में जल तीनों कालों में सम्भव नहीं, मिथ्या ही है तथापि जब तक सीप और सूर्यरश्मि का अपरोक्ष साक्षात्कार न हो तब तक उस भ्रम को कोई टाल नहीं सकता है।

"एहि विधि जग हरि आश्रित रहई। यदपि असत्य देत दुख अहई।[31]

इसी तरह जगत् हरि में आश्रित है। वह यद्यपि असत्य ही है तथापि वह दुःखदायी है ही। जैसे कोई स्वप्न में किसी का सिर काटता हो भले वह मिथ्या ही है तथापि जब तक मनुष्य जाग नहीं जाता तब तक स्वप्न के सिर काटने का दुःख होता ही है –

"जो सपने सिर काटै कोई। बिन जागे दुख दूर न होई।।

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।।[32]

इससे बढ़कर कौन सी कसौटी चाहिये, जगत की असत्यता में और भगवान की सत्यता में। इसके विरोध में तुलसी, शिव, याज्ञवल्क्य, भुशुण्डि किसी ने कही भी कुछ नहीं कहा। फिर इन सिद्धान्तवचनों को असत्य कैसे कहा जा सकता है।

"सुनि शिव के भ्रमभंजन बचना। मिट गइ सब कुतर्क की रचना।।[33]

भगवान शिव के भवभंजन वचन में भी भ्रम की कल्पना सचमुच मोह एवं अहंकार रूपी भूत की ही करामात है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने यह स्वीकार किया है कि दृश्यमान इन्द्रियों के समस्त विषय माया से उत्पन्न है। राम की प्रेरणा से माया पंचस्थूल भूतों को उत्पन्न करती है और इसी स्थूल भूत समूह से सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत उत्पन्न होता है।

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी।

तब प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए।।[34]

दृश्यमान जगत् विराट् राम का स्थूल शरीर है मंदोदरी रावण से इसी विश्वरूप का प्रतिपादन करती है –

पद पाताल सीस अजधामा। अपर लोक अंग अंग विश्राम ।

भृकुटि विलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला।

जासु घ्रान अस्विनी कुमारा। निसि अरू दिवस निमेष अपारा।

स्रवन दिशा दस वेद बखानी। मारूत स्वास निगम निज बानी।

अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला।

आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा।

रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा।

उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु की बहु कलपना।

अहंकार सिव बुद्धि भज मन ससि चित्त महान।

मनुज वास सचराचर रूप राम भगवान।।[35]

संसार की सभी वस्तुएं मायाजनित होने के कारण मिथ्या है। केवल राम के सत्य से प्रतिभासित होकर वे सत्य सी प्रतीत होती है।

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइकृपाल रघुराई।[36]

जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा।

जनमु मरनु जहं लगि जग जालू। संपति विपति करमु अरू कालू।

धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहं लगि व्यवहारू

देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं।

मोहनिसां सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा।[37]

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना।[38]

<u>निष्कर्ष</u> –

वस्तुतः सांख्य योग, वैष्णव वेदान्त, पांचरात्र आगम और पाशुपत मत में जगत की सत्यता स्वीकार की गयी है। माध्यमिक बौद्धों एवं शंकरमतानुयायियों के अनुसार जगत की सत्ता मायिक आभासमात्र (काल्पनिक) है। वेद – विरोधी, अनात्मवादी तथा अनीश्वरवादी बौद्ध तुलसी की दृष्टि में सर्वथा तिरस्करणीय है। शेष मतों का उन्होंने समन्वय किया है। विवर्तवादी वेदांतियों के अनुरूप उक्तियां है[39] –

1– रजत सीप महुं भास जिमि यथा भानु कर वारि।

2– जग नभबाटिका रही है फल फूलि रे।

3– झूठों है झूठो है झूठो सदाजग संत कहंत जे अंत लहा है।

इसके विरूद्ध राम को विश्वरूप[40] तथा जगत को राम रूप और राम का अंग[41] बतला कर उन्होंने जगत की सत्यता प्रतिपादित की है, क्योंकि राम से अभिन्न जगत् मिथ्या नहीं हो सकता। वस्तुतः यह विरोधाभास है समाधान यह है कि जगत प्रवाह रूप से नित्य है।[42] कभी वह कारण रूप में अव्यक्त रहता है, और कभी कार्य रूप में व्यक्त। राम से भिन्न प्रतीत होने वाला उसका कार्य–रूप परिवर्तनशील होने के कारण मिथ्या है। ज्ञान का उदय होने पर सम्पूर्ण जगत् राममय दिखाई देने लगता है, विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता।

निज प्रभुमय देखहिं जगत् केहि सन करहिं विरोध।[43]

दूसरे शब्दों में, तुलसी ने द्वैतवादी और अद्वैतवादी मतों का समन्वय किया है।

राम और जगत में अभेद है, किन्तु प्रतीयमान व्यावहारिक भेद भी है।[44]

<u>अद्वैत वेदान्त में माया</u> –

मायावाद का सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त का मूलभूत सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के बिना अद्वैत वेदान्त की पुष्टि असंभव है। यही कारण है कि मायावाद के सिद्धान्त से पूर्व भारतीय दर्शन में अद्वैतदर्शन की विचारधारा निष्पन्न न हो सकी थी। शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त को स्थापित करके भारतीयदर्शन की अद्वैत परम्परा को सदा के लिए निष्कंटक बना दिया है। शंकराचार्य से पूर्व भी संहिताओं, उपनिषदों एवं अद्वैत प्रतिपादक अन्य माण्डूक्यकारिका आदि ग्रन्थों में माया की स्पष्ट रेखायें मिलती है। परन्तु उनका स्वरूप प्रतिष्ठित एवं परिमार्जित नहीं है। शंकराचार्य ने अविद्या एवं जगन्मिथ्यात्व के रूप में मायावाद के सिद्धान्त का विकास किया है। श्वेताश्वतर उपनिषद में मायावाद का कुछ विकसित रूप दिखाई देता है। इसमें ईश्वर की सृजन शक्ति को माया और परमेश्वर को मायी कहा गया है।[45] शंकराचार्य ने माया को परमेश्वर की अविद्यात्मिका बीज शक्ति कहा है। यह शक्ति अव्यक्त शब्द के द्वारा निर्दिष्ट की गयी है। माया परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुषुप्तिरूपिणी है। जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन किया करते हैं।[46]

अग्नि की अपृथग्भूता दाहिका शक्ति के समान ही माया ब्रह्म की अपृथग्भूता शक्ति है। त्रिगुणात्मक माया ज्ञान विरोधी भाव रूप पदार्थ है। परमेश्वर की इसी अव्यक्त अनादि, त्रिगुणात्मिका, अविद्यास्वरूप मायाशक्ति के द्वारा ही जगत् की उत्पत्ति होती है।[47] माया के स्वरूप निर्धारण के सम्बन्ध में

शंकराचार्य का कथन है कि वह न सत् है और न असत्। यदि माया सत होती तो उसका बाध न हुआ होता। जैसा कि ब्रह्म ज्ञान होने के उपरान्त उसका बाध उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार जादूगर के द्वारा बनाये हुए इन्द्रजालिक वृक्षादि का।[48] परन्तु इसके विपरीत माया को असत् भी नहीं कहा जा सकता है। यदि माया असत हुई होती तो उसकी प्रतीति कदापि न होती। व्यावहारिक जगत की प्रतीति माया की सत्यता को भी प्रमाणित करती है। इस प्रकार माया परमार्थ सत् एवं अलीक असत् से विलक्षण होने के कारण प्रातीतिक रूप से सत है। यही माया का अनिर्वचनीय स्वरूप है। शंकराचार्य का कथन है कि माया न सत रूप है, न असत् रूप, न सदसत् उभयरूप, वह न भिन्न है न अभिन्न और न भिन्न अभिन्न उभय रूप। माया न अंगसहित है न अनंग रहित। वह न सांग अनंग उभय रूप है। यह सब कुछ न होकर माया अत्यन्त विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।[49] एक ही परमेश्वर माया के कारण अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है।[50] विद्यारण्य स्वामी का कथन है कि स्पष्ट रूप से भासित होने पर भी जिसका निरूपण न किया जा सके वही माया है।[51] शंकराचार्य के अनुसार यह माया ही जगत प्रपंच का कारण है।[52] परन्तु इसे द्रव्य न होने के कारण जगत का उपादान कारण नहीं माना जा सकता। माया केवल एक व्यापार है।[53] माया के द्वारा मायिक जगत की उत्पत्ति होती है।

<u>माया का स्वरूप</u> –

श्रुति, युक्ति और लोक व्यवहार के आधार पर माया के तीन स्वरूप निर्धारित किए जा सकते है। ये स्वरूप 1–तुच्छ 2– अनिर्वचनीय 3–सत्य।

श्रुति के आधार पर निश्चित माया का तुच्छ स्वरूप होगा। युक्ति के द्वारा माया का प्रतिपादन असंभव है, अतः यह माया का अनिर्वचनीय स्वरूप मानना चाहिए। तीसरा स्वरूप सत्यस्वरूप माया का लौकिक स्वरूप है। लौकिक दृष्टि से विचार करने पर माया सत्य प्रतीत होती है।[54] माया स्वतन्त्र एवं अस्वतन्त्र दोनों ही है। चैतन्य के बिना माया प्रकाशित नहीं होती, इस अर्थ में वह पराधीन है। साथ ही वह असंग आत्मा को भी ससंग बनाकर जगत् की उत्पत्ति करती है। अपनी इसी अन्यथाकरण की शक्ति के द्वारा वह स्वतन्त्र है।

माया की आवरण और विक्षेप नामक शक्तियाँ –

शंकराचार्य ने माया की आवरण और विक्षेप नामक दो शक्तियां मानी है।[55] माया की आवरण और विक्षेप शक्तियां ही स्वयं प्रकाश एवं चैतन्य आत्मा के स्वरूप बोध की बाधक एवं समस्त प्रपंचात्मक जागतिक विक्षेप की कारण है। आत्मा स्वभाव से नित्योपलब्धि स्वरूप एवं बन्धनरहित है। किन्तु माया की आवरण शक्ति के द्वारा अज्ञानी व्यक्ति उस आत्मा को उसी प्रकार बंधा हुआ समझता है जिस प्रकार कोई मूर्ख व्यक्ति अपनी दृष्टि के सामने बादल होने के कारण सूर्य को ही घनावृत मान ले।[56] ऐसी दशा में यदि उस व्यक्ति को सूर्य के दर्शन नहीं होते तो यह सूर्य का दोष कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।[57] माया की आवरण शक्ति के द्वारा आवृत जीव अपने आपको सांसारिक विषयों का कर्ता भोक्ता आदि समझने लगता है। उसकी यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व की अनुभूति उसी प्रकार है जिस प्रकार कि रस्सी में सर्पद्रष्टा के हृदय में सर्पादि दर्शन से जात भय आदि की अनुभूति। सर्पादि की भ्रान्ति दूर होने के बाद

तज्जन्य भय जिस प्रकार दूर हो जाता है उसी प्रकार अविद्या के नाश होने के बाद कर्तृत्व और भोक्तृत्व की वासना का भी विनाश हो जाता है।

माया विक्षेप शक्ति के रूप में समस्त प्रपंच रूप जगत की जननी है। जिस प्रकार अज्ञान के द्वारा रस्सी में सर्प की भावना हो जाती है उसी प्रकार माया के द्वारा अज्ञानावृत आत्मा में अज्ञानी के लिए सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त आकाशादि प्रपंच की उद्भावना हो जाती है।[58] परन्तु जब जीव माया के बन्धन से मुक्त हो जाता है तो उसे सर्वत्र ब्रह्म की ही सत्ता प्रतीत होती है। इतना ही नहीं वह स्वयं भी ब्रह्म रूप हो जाता है। शंकराचार्य के मायावाद की यही मूल विचारधारा है।

विशिष्टाद्वैत में माया का स्वरूप –

आचार्य रामानुज ने शंकराचार्य की माया सम्बन्धी विचारधारा को न स्वीकार करके चिदचिद् विशिष्ट सगुण ब्रह्म की कल्पना की है और मायिक जगत् को शंकराचार्य की तरह मिथ्या न मानकर सत्य स्वीकार किया है। रामानुजदर्शन में मायावी ईश्वर और निर्गुण ब्रह्म दो पृथक् तत्व न होकर सगुण ब्रह्म ही एक तत्व है। शंकराचार्य ने माया को 'मिथ्याभूत सनातनी' कह कर मिथ्या सिद्ध किया है। परन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार माया परमात्मा की विचित्ररूपा शक्ति है। आचार्य रामानुज माया शब्द को आश्चर्यवाची मानते है।[59] जिस प्रकार स्वप्न में रथादि का पूर्णतया अभाव होने पर भी रथादि की आश्चर्यजनक सृष्टि देखने मे आती है। उसी प्रकार परमात्मा की यह सृष्टि भी आश्चर्यरूपा है। परमात्मा की सृष्टिकर्त्री शक्ति अचिन्त्य है।[60] इसके अतिरिक्त

आचार्य रामानुज ने कहीं कहीं माया का अर्थ 'कूटयुक्ति'[61] भी किया है।

द्वैतवाद में माया का स्वरूप –

आचार्य मध्व सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त 'माया' शब्द से छुटकारा न पा सके। अपने पूर्ण प्रज्ञ दर्शन (ब्रह्मसूत्र भाष्य) में आचार्य मध्व ने 'माया मात्रन्तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (3–2–3) सूत्र का भाष्य करते समय माया शब्द का अभिप्राय स्वप्न से ही लिया है।[62] द्वैतवादी आचार्य मध्व ने परमात्मा की शक्ति की परमात्मा से भिन्न कल्पना की है।[63]

द्वैताद्वैत के मत में माया का स्वरूप –

निम्बार्काचार्य का माया सम्बन्धी दृष्टिकोण भी रामानुज के ही समान है। निम्बार्काचार्य ने भी माया को आश्चर्यवाची ही माना है।[64] आचार्य निम्बार्क का कथन है कि सत्यसंकल्प, सर्वज्ञ परमेश्वर ही स्वप्नदृष्ट रथादि कार्यो का निर्माता है। ईश्वर की यह मायिक सृष्टि अत्यन्त आश्चर्यजनक है। इस सृष्टि का स्रष्टा बद्धजीव नहीं है। बद्धावस्था में जीवों के सत्यसंकल्पत्वादि गुण प्रकाशित नहीं होते। प्रधान त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अर्थ में ही निम्बार्क दर्शन में माया का व्यवहार मिलता है।[65] एक अन्य स्थल पर आचार्य निम्बार्क का कथन है कि गुणमयी प्रकृतिरूपिणी अनादि माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो जाता है।[66]

निम्बार्क की उक्त माया सम्बन्धी विचारधारा के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शांकरदर्शन में जिस मिथ्या माया के अर्थ

में माया शब्द का प्रयोग हुआ है उसका निम्बार्क दर्शन में अभाव है।

<u>शुद्धाद्वैत के मत में माया का स्वरूप</u> –

माया भगवान् की अन्यतम शक्ति है। अविद्या भगवान की बारह शक्तियों में एक है। अविद्या का जन्म माया से है। आचार्य का कथन है–

विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते।

ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता।।

अन्तःकरण, प्राण इन्द्रिय, देह और स्वरूपाध्यास भेद से यह अविद्या पंचपर्वा है। शुद्धाद्वैत दर्शन के अनुसार मायिक जगत् शांकर मायावाद के अनुरूप मिथ्या न होकर सत्य है। आचार्य बल्लभ माया के मिथ्यात्त्व प्रतिपादक दृष्टिकोण से पूर्णतया असहमत है। उनके मत में माया ब्रह्म की अपृथक्भूताशक्ति है। नाम रूपात्मक जगत् ब्रह्म एवं उसकी शक्ति माया में परस्पर भेद मानकर सम्बन्ध नहीं मानना चाहिये। जैसा कि 'मम माया' आदि वाक्यों से प्रतीत होता है। इस प्रकार के वाक्य भगवान और उसकी माया के अभिन्नत्व के ही सूचक है।

वल्लभ–दर्शन के उपर्युक्त माया सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शुद्धाद्वैतवाद– सम्मत माया शंकराचार्य की, अविद्या अर्थ की प्रतिपादक माया से भिन्न है।

<u>रामचरितमानस में माया का स्वरूप एवं कार्य</u> –

मानस में राम माया मृग मंथन करने वाले है। माया उनकी शक्ति है।

वनगमन के प्रसंग में एक उपमा दी है जिससे स्पष्ट है कि सीता ही माया है और राम की वंशवर्तिनी है।[67] राम का शक्ति सहित अवतारग्रहण करने का प्रसंग भी यही सूचित करता है। देवताओं की प्रार्थना से सन्तुष्ट विष्णु के उत्तर से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सीता रूपी राम की परमशक्ति ही माया है।

विष्णु जिस प्रकार 'परमात्मा' है, उसी प्रकार लक्ष्मी 'परमशक्ति' भी है। इसीलिए रावणादि के अत्याचार से व्यथित पृथ्वी को लेकर समस्त देवता विष्णु को लक्ष्मीपति कहते हुए प्रार्थना करते है –

गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधु सुता प्रियकंता।[68]

जय जय अविनासी घट–घट वासी व्यापक परमानन्दा।[69]

विष्णु भी उत्तर में परमशक्ति समेत अवतार लेने की आकाशवाणी करते है–

नारद वचन सत्य सब करिहउँ। परमशक्ति समेत अवतरिहऊँ।[70]

माया त्रिगुणात्मिका है और गुणों की सहायता से ही वह विश्व की रचना करती है–

एक रचइ जग गुन बस जाके।[71]

माया ही समस्त सृष्टि की रचना, स्थिति और संहार करने वाली है समस्त संसार को उत्पन्न करने वाली आदि शक्ति 'माया' ही है तुलसीदास जी ने इसे अनेक स्थलों पर कहा है –

लव निमेष महुं भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया।[72]

गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।[73]

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइजासु बल विरचति माया।।[74]

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी।।

तब प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए।।[75]

इस 'आदि शक्ति' का तादात्म्य सीता से किया गया है और सीता का तादात्म्य ब्रह्म की उस माया (मूल प्रकृति) से भी किया है जो उद्‌भव, स्थिति और संहार कारिणी है; फलतः यह स्पष्ट है कि सृष्टि का पालन और संहार भी इसी माया द्वारा होता है।

अखिल विश्व, ब्रह्मादि देवासुर भी इस राम की माया के वशीभूत है।

यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुराः।[76]

इसने चराचर सभी जीवों को वश में कर रक्खा है –

जीव चराचर बस कै राखै।[77]

मैं अरू मोर तोर तैं माया। जेसि बस कीन्हे जीव निकाया।[78]

माया स्वतः जड़ है, वह राम का आश्रय पाकर ही सत्य भासती है–

जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।

रजत सीप महुं भास जिमि जथा भानुकर वारि।

जदपि मृषा तिहुं काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि।।

एहि विधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई।[79]

यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।[80]

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू।[81]

ब्रह्म राम इस जड़ माया को भी चैतन्य (गतिशील) कर देते है –

जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य।

अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य।।[82]

माया राम की चेरी है, राम उसके स्वामी है, और इसी नाते राम को 'मायाधीश' 'मायापति' आदि कहा जाता है –

सो दासी रघुवीर कै समुझे मिथ्या सोपि।[83]

मायाधीस ग्यान गुन धामू।[84]

मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया।।[85]

अस जियं जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान।[86]

यह माया राम से डरा भी करती है। कौशल्या को राम जो अपना अद्भुत और अखण्ड रूप दिखाते हैं, उसमें कौशल्या माया को राम से अत्यन्त भयभीत पाती है –

जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सो भय भासें।

भृकुटि विलास नचावै ताही।[87]

देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जोरे कर ठाढी।।[88]

संसार को बिमोहित करने वाली यह माया राम के इशारे पर नाचा करती है–

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा।।

सोइ प्रभु भ्रूविलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा।।[89]

और इस कारण वह भक्ति से डरा करती है कि भक्ति राम को प्रिय है, और वह स्वतः राम की नर्तकी मात्र है –

पुनि रघुवीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी विचारी।।

भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।।[90]

इस माया का प्रभाव केवल मनुष्य पर ही नहीं, जितने देवी, देवता, ऋषि, मुनि, गन्धर्व आदि हैं सब पर होता है। ब्रह्मा जी कहते हैं कि माया का प्रभाव अमिट है और वे स्वयं माया द्वारा नचाये जाते हैं –

मन महुं करइ विचार विधाता। माया बस कवि कोविद ग्याता।।

हरि माया कर अमिति प्रभावा। विपुल बार जेहि मोहिं नचावा।।[91]

माया में जो रचना की शक्ति है वह राम की ही शक्ति है, माया राम के बल से रचना करती है और सब पर अपना प्रभाव रखती है।

माया अपने परिवार के साथ सबको मोह लेती है। उसी व्यापक अजेय और असंख्य सेना से सभी पराजित होकर मायाचक्र में पड़ जाते है। माया की सेना अपार है –

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।

तिन्ह महं अति दारूण दुखद माया रूपी नारि।।[92]

इस माया से पार पाना असम्भव है। प्रभु की जब तक कृपा न हो तब तक माया से पिंड नहीं छूटता।

मायाजनित भ्रम का नाश हरि कृपा से ही सम्भव है। यह तुलसी का विश्वास था। माया के कारण ही वास्तविक रहस्य का ज्ञान सम्भव नहीं होता माया के स्वरूप और प्रभाव के सम्बन्ध में स्वयं राम लक्ष्मण से कहते है–

मैं अस मोर तोर तै माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।।

गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब माया जानहुं भाई।।

तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ।।

एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव पराभवकूपा।।

एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।।[93]

अहंकार ही माया का मूल है। "मैं" और "तू", "मेरा" और "तेरा" इस द्वैत से अहं का अन्धकार घनीभूत होता है और जीव इसे ही सत्य मानकर अज्ञान के असत लोक में भ्रमण करता रहता है। जीवों के अज्ञान का कारण यही "मेरा", "तेरा" है और यही त्रिगुणात्मिका माया अत्यन्त दुस्तर और द्विविध है। एक को विद्या माया कहते है दूसरे को अविद्या माया। विद्या माया मूल प्रकृति है और विश्व के पालन, संहार और सृष्टि की आदि शक्ति है।

स्रुति – सेतु–पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।

जो सृजति जग पालति हरति रूख पाई कृपा निधान की।।[94]

अविद्या माया ब्रह्म से जीव को दूर रखती है और अधःपतन के गर्त में ले जाकर मनुष्य को दबोचे रहती है। माया का यह आसुरी प्रभाव और शक्ति है। नाना प्रकार के नशे में छल – छद्म से लोभ, क्रोध मद आदि उत्तेजक द्रव्यों से जीवात्मा को अनेक कष्ट देती है। ईर्ष्या और द्वेष, काम और लोलुपता एवं नारी और धन आदि से माया जीवात्मा को कैद किये रहती है तथा अपने प्रपंच जाल में आबद्ध कर जीव को नष्ट करने में सफल हो जाती है। माया कुकर्मो की प्रेरिका और अधिष्ठात्री है। गोस्वामी तुलसीदास ने माया, चाहे वह विद्या माया हो अथवा अविद्या माया, दोनों को भव सागर में डुबाने वाली 'माया' माना है और भक्ति को भगवान के सामीप्य का एक मात्र उपाय बतलाकर मोक्ष और सानिध्य प्राप्ति का मार्ग निर्देश किया है –

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि वर्ग जानहि सब कोऊ।।

राम भक्ति निरूपम निरूपाधी। बसइ जासु उर सदा अवाधी।

तेहि विलोकि माया सकुचाई। करि न सकई कछु निज प्रभुताई।।[95]

संसार में दारूण कष्ट सहने का मूल कारण यही भीषण भ्रम है। यह माया जीवात्मा को असत्य सी भासित नहीं होती, फलतः वह अवास्तविक सुख को वास्तविक सुख मानकर भ्रम में फंसी रहती है। माया के इस विषाक्त प्रभाव से विनिर्मुक्त होने के लिए तुलसी ने राम भक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया है।

समस्त साधनों में भक्ति का प्राधान्य स्वीकार कर तुलसी ने उस निर्गुण और निरंजन, सुख – सन्दोह ब्रह्म राम को सगुण बना डाला। सगुण रूप की कामना और ध्यान से माया के चीर फट जाते है और माया निरावरण हो जाती है। भक्ति सुलभ और सुखदायिनी है जिससे विश्व के त्रिविध ताप, शोक और भय का संहार हो जाता है। मायापति राम की भक्ति से माया के सारे उत्पात दूर हो जाते हैं, ऐसा तुलसी का विश्वास है।

<u>माया का परिवार एवं उसकी सेना</u> –

माया अपने परिवार के साथ सबको मोह लेती है। उसी व्यापक अजेय और असंख्य सेना से सभी पराजित होकर मायाचक्र में पड़ जाते है–

मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही।।
तृष्नां केहि न कीन्ह वौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा।।
ग्यानी तापस सूर कवि कोविद गुन आगार।
केहि कै लोभ विडम्बना कीन्ह न एहिं संसार।।[96]

मनोरथ, मत्सर, क्रोध आदि इसके परिवार है और इनसे बचना सहज नहीं। तुलसी कहते हैं –

यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा।।
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे मांही।
व्यापि रहेउ संसार महुं माया कटक प्रचंड।

सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड।।[97]

माया की सेना अपार है –

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।

तिन्ह महं अति दारूण दुखद माया रूपी नारि।।[98]

इस माया के अधीन एक ब्रह्म राम के अतिरिक्त प्रायः सभी हैं। यह माया राम की सेविका होने के कारण सबको अपने वश में कर लेती है –

सिव विरंचि कहुं मोहइ को है वपुरा आन।

अस जियँ जानि भजहिं मुनि माया पति भगवान।।[99]

माया के इस विषाक्त प्रभाव से विनिर्मुक्त होने के लिए तुलसीदास जी ने राम भक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया है, क्योंकि मायापति राम की भक्ति से माया के सभी बन्धन कट जाते हैं जीव का देहात्म बोध नष्ट हो जाता है औरा वह मोक्ष का भागी बन जाता है।

निष्कर्ष – वस्तुतः अद्वैतवाद में माया और अविद्या पर्यायवाची है। वैष्णव आचार्य ऐसा नहीं मानते। वे माया को स्वभावतः सगुण ब्रह्म की शक्ति मानते हैं। तुलसी ने दोनों के समन्वित सिद्धान्त को ग्रहण किया है। माया की दो विधाएं है – विद्या और अविद्या।[100] तुलसी की अविद्या – माया (मोहकारिणी–शक्ति) अद्वैतवादियों की 'माया' है। तुलसी ने उसको मिथ्या कहा है[101] और उसके लिए प्रायः माया शब्द का ही प्रयोग किया है। इससे लोगों को भ्रम हो जाता है कि वे शंकराचार्य

के मतानुयायी है। तुलसी की विद्या – माया शंकर की माया से भिन्न है, क्योंकि वह जगत की रचना (विक्षेप नहीं) करती है और भक्तों का कल्याण भी। उनके अनुसार माया राम की भावरूपा अभिन्न शक्ति है।[102]

माया और प्रकृति –

सांख्य योग के अनुसार स्वतन्त्र प्रकृति सृष्टि का कारण है, यह स्थूल जगत उसी का विकार है। अद्वैतवाद में मिथ्या जगत की व्याख्या करने के लिए माया की कल्पना की गयी और जगत को माया की विक्षेप शक्ति का कार्य (विवर्त) माना गया। वैष्णवों ने परब्रह्म और उसकी शक्ति माया द्वारा विश्व का निर्माण माना। सृष्टि प्रक्रिया के विषय में तुलसी ने वैष्णव – वेदान्त की माया और सांख्य योग की प्रकृति का समन्वय किया।[103] उन्होंने प्रकृति को राम के अधीन और माया से अभिन्न मानकर दोनों में एक सूत्रता स्थापित की, सांख्यों के प्रकृति परिणामवाद को समेटते हुए अविकृत ईश्वर–परिणामवाद की प्रतिष्ठा की। उन्होंने चार्वाको के स्वभाव, वैशेषिकों के काल परमाणु, मीमांसकों के कर्म और शैवों की चित शक्ति को रामाश्रित बतलाकर इन सभी का समन्वय किया है।[104]

———0———

सन्दर्भ सूची

चतुर्थ अध्याय

1– श्वेताश्वेतरोपनिषद उ0शा0भा0 6/2

2– ब्र0सू0शां0भा0 2/1/24   3– ब्र0सू0शां0भा0 उपोद्घात

4– ब्र0सू0शां0भा0 1/1/1

5– अपरोक्षानुभूति 44, अद्वैत आश्रम मायावती अल्मोड़ा

6– उपदेशसाहस्त्री 58 निर्णयसागर 9/4

7– ब्र0सू0शां0भा0 2/1/14

8– तस्मात् प्राग् ब्रह्मात्मकता प्रतिबोधादुत्पन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः
(ब्र0सू0शां0भा0 2/1/14)

9– दशश्लोकी 4, चौखम्भा सं0 सिरीज 1985

10– रामानुजभाष्य गीता 13–2   11– श्रीभाष्य 2/1/34, 2/1/35

12– अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनम् मतम्
माया प्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेपि तत्र।। दशश्लोकी,3

13– मध्वभाष्य, 1/4/25

14– Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol.II, P.745

1 – माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्त्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्।। शुद्धाद्वैत मार्तण्ड 28

16– तत्त्वदीपन पर वल्लभाचार्य की टीका, पृ0 106

17– मानस, 7/116   18– मानस, लंकाकाण्ड, दोहा सं0 77 पृ0 812

19– मानस, किष्किन्धाकाण्ड दोहा सं0 6 के पश्चात्।

20– मानस, किष्किन्धाकाण्ड, दोहा सं0 3

21– मानस, उत्तरकाण्ड दोहा सं0 12(ग) का पांचवा छन्द।

22– रा0मा0 1/117/3

23– श्वेताश्व0 उ0 3/19

24– छा0उ0 6/2/1

25– रामचरितमानस 1/11/1

26– रामचरितमानस 1/117/1

27– छा0उ0 6/1/4

28– रामचरितमानस 1/111/1,2

29– रा0मा0 1/116/4

30– रा0मा0 1/117

31– रा0मा0 1/117/1

32– रा0मा0 1/117/1,2

33– रा0मा0, 1/118/4

34– मा0 सुन्दरकाण्ड, 59

35– मानस लंकाकाण्ड, 15

36– मानस, बालकाण्ड, 117–18

37– मा0 अयो0 93

38– मा0 अरण्यकाण्ड, 39

39– रामचरितमानस 1/117, विनयपत्रिका 66/4

40– व्यापक विश्वरूप भगवाना – मा0 1/13/2

41– विश्वरूप रघुवंश मनि करहु वचन विश्वास ––– । मा0 6/14

42– विधि प्रपंचु अस अचल अनादी। 43– मा0 2/282/3

44– सब रूप सदा सब होइ न सो,
रवि आतप भिन्न न भिन्न जथा। – मा0 6/111/8

45– माया तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्या वयवभूतोऽस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।। श्वेत0उ0 4/10

46– ब्र0सू0शां0भा0 1/4/3

47– अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्यात्रिगुणात्मिकायाः।
कार्यानुमेया सुधियैवमाया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते।(विवेक चूड़ामणि पृ0108)

48– राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी, द्वितीय भाग, पृ0 569

49– विवेक चूड़ामणि, पृ0 109

50– एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यः, विज्ञानधातुरविद्यया मायया।
मायाधिवदनेकधा विभाव्यते नान्योविज्ञानधातुरस्ति।। ब्र0सू0शा0भा0 1/3/19

51– पंचदशी, 6/141

52– ब्र0सू0शा0भा0 1/3/19

53– तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः

54– पंचदशी 6/130

55– वाक्यसुधा 13, दामोदरशास्त्री सम्पादित, बनारस 1901

56– हस्तामलक 12

57– If we some time do not see the light of the sun, it is no fault of the sun" & (Radhakrishnan India Phil. Vol.II Page 567

58– शक्ति द्वयं हि माययाः विक्षेपावृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिंगादिब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत्।।
(दृग्दृश्यविवेक, 13/15)

59– मायाशब्दो आश्चर्यवाची, श्री भाष्य 3/2/3

60– श्री भाष्य 3/2/3 61– रामानुजगीता 7–15

62–. पूर्णप्रज्ञ दर्शन 3/2/3

63– परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः। मध्वसिद्धान्त सार पृ0 26

64– वेदान्त पारिजात सौरभ 3/2/3

65– मायाप्रधानादि पदप्रवाच्यम् । दशश्लोकी 3

66– दशश्लोकी, 2

67– मानस =आगे राम अनुज पुनि पाछें। मुनिवर वेष बने अति काछें।।

उभय बीच श्री सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी।।

68– मानस बालकाण्ड 186 69– मा0बा0 186

70– मा0 बालकाण्ड, 187 71– मा0 अरण्यकाण्ड 15

72– मा0 बालकाण्ड 225 73– मा0 अरण्यकाण्ड, 15

74– मानस, सुन्दरकाण्ड, 21 75– मानस, सुन्दरकाण्ड 59

76– मानस, बालकाण्ड, 1 77– मा0 बालकाण्ड 200

78– मा0 अरण्य0 15 79– मा0 अरण्य0 15

80– मा0 बालकाण्ड, 1 81– मा0 बालकाण्ड, 117

82– मा0 उत्तरकाण्ड, 119 83– मा0 उत्तरकाण्ड, 71

84– मा0 बालकाण्ड, 117 85– मानस अयोध्या काण्ड, 218

86– मा0 उत्तरकाण्ड, 62 87– मा0 बालकाण्ड, 200

88– मा0 बालकाण्ड, 202 89– मा0 उत्तरकाण्ड 72

90– मा0 उत्तरकाण्ड, 118

91– मा0 उत्तरकाण्ड, दोहा सं0 59 के पश्चात्

92– दोहावली दोहा सं0 266

93– मानस, अरण्यकाण्ड दोहा सं0 14 के पश्चात्

94– मानस अयोध्याकाण्ड दोहा सं0 125 के पश्चात का छन्द

95– मानस उत्तरकाण्ड, दोहा सं0 115 के पश्चात

96– मानस उत्तरकाण्ड दोहा सं0 70(क)

97– मा0 उत्तर0 दोहा सं0 71(क)

98– दोहावली दोहा सं0 266

99– मा0 उत्तर0 दोहा सं0 62 (ख)

100–मानस 3/15/2–3

101– मा0 7/71

102–मा0 1/152/2,2/126

103– मा0 7/13/छन्द 5

104– दोहावली 200, विनयपत्रिका 54/2

---0---

पंचम अध्याय

(क) वेदान्त सम्प्रदाय में ब्रह्म प्राप्ति के साधन।

(ख) मोक्ष की साधनता में कर्म–ज्ञान तथा भक्ति।

(ग) मानस के अनुसार भक्ति एवं ज्ञान में भेदाभेद विमर्श।

(घ) भक्ति के भेद एवं उसकी ज्ञान से श्रेष्ठता का विचार।

(ङ) मोक्ष का स्वरूप निरूपण।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्मत्व प्राप्ति का साधन

भिन्न – भिन्न दृष्टिकोणों से दार्शनिकों ने केवल कर्म कर्मज्ञान समुच्चय तथा केवल ज्ञान को साधन मार्ग बतलाया है।

आदि शंकराचार्य तथा उनके शिष्य सुरेश्वर विशुद्ध ज्ञान को मुक्ति का एकमात्र साधन मानते हैं। कर्म तो केवल सत्वशुद्धि का साधक होता है।

शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में कर्म तथा कर्म ज्ञान समुच्चय दोनों का खण्डन करते हुए केवल ज्ञान को ही अन्तिम साधन स्वीकार किया है उनका कहना है कि स्वतन्त्र और भिन्न भिन्न फलों के उद्देश्य से प्रवृत्त होने वाली दो निष्ठायें हैं – 'कर्मनिष्ठा' तथा 'ज्ञाननिष्ठा' इन दोनों का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। मानव जीवन के दो उद्देश्य हैं – सांसारिक सुख की प्राप्ति, जिसके लिये कर्मो का विधान किया है और आत्मा का परमात्मा में ज्ञान, जिस उद्देश्य की सिद्धि काम्यकर्मो से विरक्त और ज्ञान के अनुष्ठान से होती है। ज्ञान और कर्म में गहरा विरोध है। आचार्य का कहना है कि क्या पूर्व समुद्र जाने वाले पुरूष का तथा तत्प्रतिकूल पश्चिम जाने वाले पुरूष का मार्ग एक हो सकता है? आत्मा की प्रतीति को निरन्तर बनाये रखने के आग्रह को 'ज्ञाननिष्ठा' कहते है। वह पश्चिम समुद्र के गमन के समान है और उसका कर्म के साथ रहने में वैसा महान विरोध ा है जैसा पहाड़ तथा सरसों में। अतः ऐकान्तिक विरोध के विद्यमान होने से ज्ञान कर्म का समुच्चय कथमपि सुसम्पन्न नहीं हो सकता।

कर्म के द्वारा क्या आत्मा की स्वरूपापत्ति कथमपि सिद्ध हो सकती है? आचार्य ने इस विषय में अनेक कारणों की उद्‌भावना की है। अविद्यमान किसी वस्तु के उत्पादन के लिए कर्म का उपभोग किया जाता है (उत्पाद्य) परन्तु क्या नित्य सिद्ध सद्रूप आत्मा की स्थिति कर्मो के द्वारा उत्पन्न की जा सकती है? किसी स्थान या वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म किये जाते हैं। (आप्य), परन्तु आत्मा तो सदा हमारे पास है, तब कर्म का उपयोग क्या होगा? किसी पदार्थ में विकार उत्पन्न करने की इच्छा से (विकार्य) तथा मन और अन्य वस्तुओं में संस्कार उत्पादन की लालसा से (संस्कार्य) कर्म किये जाते है, परन्तु आत्मा में विकार तथा संस्कार का अभाव है। अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के निमित्त कर्मों की निष्पत्ति का प्रयास अकिचिंत्कर ही है। साधारणतया मलिन चित्त आत्मतत्व का बोध नहीं कर सकता, परन्तु कामनाहीन नित्य कर्म के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि उत्पन्न होती है जिससे बिना किसी प्रतिबन्ध के जीव आत्मस्वरूप को जान लेता है। आत्मज्ञानोत्पत्ति में सहायक होने के कारण नित्यकर्म मोक्ष साधक है। सकाम कर्मो का अनुष्ठान असुरत्व (पशुत्व) की प्राप्ति कराता है। देव तथा असुर का अन्तर भी यही है। स्वाभाविक रागद्वेष मूलक प्रवृत्तियों का दास होने वाला अधर्म परायण व्यक्ति 'असुर' कहलाता है, परन्तु रागद्वेष को अभिभव कर शुभ वासना की प्रबलता से धर्माचरण करने वाला पुरूष 'देव' कहलाता है। पद्मपादाचार्य ने 'विज्ञान दीपिका' में वेदान्त सम्मत आचारपद्धति का विवेचन किया है। कर्म की प्रबलता सर्वतोभावेन माननीय है। कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से संसार का उदय होता है। अतः संसार के उच्छेद के लिए कर्म

का 'निर्हरण' (विनाश) करना नितान्त आवश्यक है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं – संचित (प्राचीन), संचीयमान (भविष्य में उत्पन्न होने वाला) तथा प्रारब्ध (वर्तमान)। संचित कर्म घर में रखे गये अन्न, संचीयमान कर्मक्षेत्र में बीजरूपी अन्न और प्रारब्ध कर्म भुक्त अन्न के समान है। जिस प्रकार गृहस्थित तथा क्षेत्रस्थित अन्न का विविध रूप से नाश किया जा सकता है, परन्तु भुक्त अन्न का विनाश पाचन के ही द्वारा होता है, उसी प्रकार संचित तथा संचीयमान कर्म का नाश ज्ञान के द्वारा किया जा सकता है, परन्तु प्रारब्ध का क्षय भोग के ही द्वारा हो सकता है। कर्म का निर्हरण कर्म, योग ध्यान, सत्संग, जप, अर्थ और परिपाक के अवलोकन से उत्पन्न होता है। फलानुसंधान रहित निष्काम कर्म का अनुष्ठान पुण्य – पापादि कार्य का तथा सूक्ष्मस्थूल शरीररूपी कारण का सर्वथा लोप कर देता है। अतः यही वास्तव में कर्म निर्हरण है।

इस विवेचन से यही परिणाम निकलता है कि सत्वशुद्धि या अन्तःकरण के शोधन के लिए कर्म व्यर्थ न होकर मुमुक्षु के लिए उपादेय है; तथापि ज्ञान ही मुक्ति का वास्तविक साधन है। आचार्य की माननीय सम्मति में न तो कर्म से, न ज्ञान कर्म के समुच्चय से; प्रत्युत केवल ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

आचार्य शंकर तथा उनके पट्टशिष्य सुरेश्वर ज्ञान को केवल विशुद्ध ज्ञान को – मुक्ति का एकमात्र साधन मानते है। कर्म तो केवल सत्वशुद्धि का साधक होता है। इसके विरोध में अद्वैत के अनेक आचार्य इस विषय की मीमांसा नवीन ढंग से करते हैं –

ब्रह्मदत्त (शंकरपूर्व अद्वैताचार्य) तथा मण्डन मिश्र (शंकर पश्चात्

अद्वैताचार्य) कर्मसमुच्चित ज्ञान के सिद्धान्त के पक्षपाती है। प्रथम का मत 'अभ्यास' तथा द्वितीय का 'प्रसंख्यान' नाम्ना प्रख्यात है। ब्रह्मदत्त ने 'समाहितो भूत्वा पश्येत्' आदि उपनिषद वाक्यों को आधार मानकर अपना पक्ष खड़ा किया है कि ज्ञान केवल स्वरूप से (स्वतः) ब्रह्म–साक्षात्कार में कारण नहीं बनता, प्रत्युत शम–दम आदि साधनों द्वारा परिपुष्ट किये जाने पर ही कार्य साधक होता है। मण्डन मिश्र 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्रह्मणः' वाक्य इस विषय में पीठस्थानीय औपनिषद् वाक्य मानते हैं। श्रवण द्वारा आत्मा की अभेद प्रतिपत्ति का केवल ज्ञान होता है, ब्रह्मसाक्षात्कार तो मनन – निदिध्यासन के द्वारा पुष्ट होने वाले श्रवण से ही साध्य है। फलतः ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान ब्रह्म साक्षात्कार के लिए परोक्ष साधन है, प्रत्यक्ष साधन तो निदिध्यासन से संवलित होने वाला ही ज्ञान है। यह निदिध्यासन अपनी पूर्णता के लिए आवृत्ति चाहता है और इसी आवृत्ति की संज्ञा है प्रसंख्यान। ब्रह्मदत्त तथा मण्डन के समान प्रतीयमान मतों में भी सूक्ष्म भेद है। इस मत का खण्डन सुरेश्वर ने अपने ग्रन्थों में बड़े विस्तार से किया है।

पूर्वमत में ज्ञान की ही प्रधानता थी तथा कर्म की गौणता थी। यहां दोनों का समप्राधान्य है। यह मत भेदाभेदवादी आचार्य भर्तृप्रपंच का माना जाता है। इनके मत में जीव तथा ब्रह्म के साथ भेद और अभेद दोनों प्रकार का सम्बन्ध अभीष्ट है। इनका तर्क है कि केवल कर्म आस्था भेद को ही सिद्ध करती है, उस अभेद को नहीं जो उसके अन्तरस्थल में विद्यमान रहता है। इस अभेद की सिद्धि के लिए ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है। साधक को न कर्म के सम्पादन से ही सन्तुष्ट होना चाहिए और न ज्ञान के सम्पादन से ही। प्रत्युत दोनों को समान

रूप से प्रधान मानकर आचरण करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी विहित कर्मो का अनुष्ठान तब तक करते रहना चाहिए, जब तक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो जाती।

आचार्य सुरेश्वर ने पूर्वोक्त दोनों मतों का विस्तारशः खण्डन करके कर्म को ही चित्तशुद्धि का साधन स्वीकार किया है। उन्होंने साधन की सोपान परम्पंरा को प्रतिष्ठित किया है। उनका कथन है कि नित्यकर्म के अनुष्ठान से धर्म की उत्पत्ति, अनन्तर पाप की हानि होती है। तदनन्तर चित्तशुद्धि उत्पन्न होती है। चित्तशुद्धि क्या है? चित्त में विवेक करने की क्षमता का उदय, जिससे संसार के यथार्थ रूप का अवलोकन वैराग्य, मुमुक्षुत्व (मायिक संसार से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा) से मुक्ति उपायों की खोज, तथा सब कर्मो से सन्यास क्रमशः उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर साधक योगाभ्यास (श्रवणादि के अनुष्ठान) में आसक्त हो जाता है जिससे उसका चित्त प्रत्यगात्मा में स्वतः अवहित हो जाता है। अवहित चित्त त्वमसि आदि प्रेम प्रतिपादक वाक्यों का अर्थ करता है। जिससे अविद्या का उच्छेद होने से वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही ब्रह्म की ऐक्य सम्पत्ति है। यही अभिन्नता अद्वैती की दृष्टि में अन्तिम लक्ष्य है।

ज्ञान प्राप्ति की क्रिया शंकराचार्य ने 'विवेक चूड़ामणि' और 'उपदेश साहस्री' में बड़ी रोचक भाषा में वर्णित की है। शिष्य को वेदान्त–ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त 'साधन चतुष्टय' से सम्पन्न होना आवश्यक है। ब्रह्म ही केवल सत्य है, तदितर समस्त संसार अनित्य एवं असत्य है – इस विवेक का उदय प्रथम

साधन है (नित्यानित्य – वस्तुविवेक)। सांसारिक और पारलौकिक समस्त फलों के भोग से उसे वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए। शम (मन की एकाग्रता), दम (इन्द्रियों को वश में करना), उपरति (वृत्तियों का वाह्य विषयों का आश्रय न लेना), तितिक्षा (चिन्ता शोक से रहित अप्रतीकारपूर्वक दुःखों को सहना), समाध ान (श्रवणादि में चित्त की एकाग्रता), श्रद्धा (गुरू और वेदान्त वाक्यों में अटूट विश्वास) तथा मुमूक्षुत्व (मोक्ष पाने की इच्छा) – इन समग्र गुणों के उदय होने पर मनुष्य वेदान्त – श्रवण का अधिकारी बनता है। तदनन्तर शिष्य शान्त, दान्त, अहैतुक, दयासिन्धु ब्रह्मवेत्ता गुरू के शरण में जाकर आत्म विषयक प्रश्न करता है। गुरू को निष्प्रपंच ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराना उद्देश्य है, इसीलिए वह 'अध्यारोप और अपवाद विधि' से ब्रह्म का उपदेश कराता है। 'अध्यारोप' निष्प्रपंच ब्रह्म में जगत का आरोप कर देना है और 'अपवाद' विधि सें आरोपित वस्तु का एक – एक कर निराकरण करना होता है। आत्मा के ऊपर प्रथमतः शरीर का आरोप कर दिया जाता है, तदनन्तर युक्ति बल से आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय पंचकोशों से व्यतिरिक्त तथा स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों से पृथक सिद्ध कर उसके स्वरूप का बोध गुरू कराता है। वेदान्त की व्याख्या पद्धति बड़ी प्रामाणिक और शुद्ध वैज्ञानिक है।

वस्तुतः वेदान्त के साधक को श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की नितान्त आवश्यकता होती है। उसे वेदान्त के प्रतिपादक ग्रन्थों को गुरूमुख से सुनना चाहिए (श्रवण)। अनन्तर अधीत विषय के ऊपर युक्ति तथा तर्क के द्वारा स्वयं मनन करना चाहिए (मनन) तथा मनन के बाद उस विषय के ऊपर निरन्तर

चिन्तन करना चाहिए। तभी उसे आत्मा ब्रह्म के एकत्व का पूर्ण ज्ञान तथा सच्चा बोध होता है। इस एकता का ज्ञान उसे परोक्ष रूप से न होकर अपरोक्ष रूप से करना चाहिए केवल शाब्दिक ज्ञान से उसे लाभ ही क्या? यह तो केवल परोक्ष ज्ञान का जनक होता है। अपरोक्ष ज्ञान स्वानुभूति पर आश्रित रहता है। साधक को गुरू उपदेश देता है – "तत् त्वमसि" अर्थात् तुम स्वयं चेतन ब्रह्म हो। परन्तु इस उपदेश पर निरन्तर अभ्यास और निदिध्यासन करना पड़ता है। तब वह परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान के रूप में परिणत होता है साधक अनुभव करता है– "अहं ब्रह्मास्मि" – मैं भी ब्रह्म हूँ। इस साधन के बल पर जीव और ब्रह्म का भेदभाव मिट जाता है, एकत्व का ज्ञान हो जाता है, भ्रम दूर भाग जाता है तथा साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। वह ज्ञान भारभूत है जो क्रिया के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता।

विशिष्टाद्वैत के मत में साधन मार्ग भक्ति –

वेदान्त के शुष्क अध्ययन से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। यह तो पुस्तकों का ज्ञान है, तथा किसी के द्वारा अनुभूत तथ्य की शाब्दिक पुनरावृत्ति है। यथार्थ ज्ञान तो अपरोक्ष ज्ञान है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती – उपनिषदों का यह मन्तव्य बिल्कुल ठीक है। परन्तु ज्ञान का अर्थ क्या है? यथार्थ ज्ञान ईश्वर की ध्रुवास्मृति या निरन्तर स्मरण को कहते हैं। यही उपासना या भक्ति है। भगवान् की प्राप्ति में भक्ति ही मुख्य साधन है, जिसकी प्राप्ति में वैदिक कर्मो का अनुष्ठान साधक तथा सहायक होता है। अतः जहाँ शंकर केवल ज्ञान के मार्ग को ही उपादेय बतलाते है, वहां रामानुज ज्ञानकर्म समुच्चयवादी है

अर्थात् कर्म की सहायता से उपलब्ध ज्ञान रूप भक्ति को ही जीव के विस्तार के लिए श्रेष्ठ उपाय मानते है। भक्ति से प्रसन्न होकर जब भगवान जीव के समस्त बन्धनों और क्लेशों का नाश कर देता है, तब उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है। भक्ति का भी सर्वश्रेष्ठ तात्पर्य प्रपत्ति से है। प्रपत्ति ही ईश्वरीय अनुकम्पा पाने का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

'शरणागति' का लक्ष्य है शरण में आना अर्थात भगवान ही हमारी गति है, गन्तव्य स्थान है। वहीं लौटकर आना ही शरणागति का लक्ष्य है। शरणापन्न जीव ही भगवत्कृपा का प्रिय पात्र बनता है– भक्ति शास्त्र का यही निष्कर्ष है।

सकल कल्याण गुण निधान भगवान नारायण के अनुग्रह से ही जीव इस विषम संसार से मुक्ति लाभ करता है। मुक्ति के लिए कर्म भी उपादेय है। वेद विहित कर्म के अनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती है। अतः वर्णाश्रम – विहित कर्मो का विधान मानवमात्र का कर्तव्य है। चित्तशुद्धि होने पर ही ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अतः कर्म मीमांसा का अध्ययन ज्ञान मीमांसा के लिए आवश्यक तथा पूर्ववर्ती है। कर्म के साथ भक्ति के उदय होने में ज्ञान सहकारी कारण है। मुक्ति के उदय होने में भक्ति ही प्रधान कारण है[2] और भक्ति में भी परा प्रपत्ति शरणागति। जब तक जीव भगवान के शरण में नहीं जाता, तब तक उसका परम कल्याण नहीं हो सकता। परन्तु शरणागति के लिए कर्मो का अनुष्ठान उचित है या अनुचित? इस पर श्री वैष्णव आचार्यो में पर्याप्त मतभेद है। 'टेकलै' मत के संस्थापक श्री लोकाचार्य प्रपत्ति के लिए कर्मानुष्ठान को

आवश्यक नहीं मानते। मार्जार किशोर की ओर दृष्टिपात कीजिए। बिल्ली का बच्चा निःसहाय भाव से माता के शरण में उपस्थित होता है, तब बिल्ली उसे अपने मुंह में रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचा देती है। भक्त के प्रति भगवान की कृपा भी उस प्रकार 'अहैतुकी' होती है। नारायण की अनुग्रह शक्ति का उदय भक्तों की दीनदशा के निरीक्षण से आप से आप होता है।

'वडकलै' मत के आचार्य वेदान्त देशिक कपिकिशोर के दृष्टान्त से प्रपत्ति के लिए भक्तों के कर्मानुष्ठान करने पर जोर देते हैं। जो कुछ भी हो, प्रपत्ति से भगवान गम्य हैं, उन्हें पाने का दूसरा उपाय है ही नहीं। ''मामेकं शरणं व्रज' – यह गीता का उपदेश नितान्त माननीय है। अकिंचन, दीन भाव से भगवान की शरण में प्राप्त होने वाले भक्त के समस्त दुःख भगवदनुग्रह से छिन्न भिन्न हो जाते है।

प्रपत्ति के वशीभूत भगवान जीव को पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति करा देते है, जिसका फल ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान होता है, मुक्ति के लिए ईश्वर का साक्षादनुभव ही अन्तिम साधन है, परन्तु उस अवस्था तक समस्त वर्णाश्रमविहित कर्मो का सम्पादन होना ही चाहिए। अद्वैतियों के कल्पनानुसार कर्म का संन्यास न्याय नहीं हैं। अविद्या (कर्म) के द्वारा मृत्यु को दूर कर विद्या (भक्ति रूपापन्न ध्यान) के द्वारा अमृत पाने का सिद्धान्त ईषोपनिषद(श्लो011) में वर्णित है।

अद्वैत् वेदान्त के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हो जाता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत के अनुसांर वह ईश्वर के 'समान' होता है। ईश्वर के साथ उसका 'ऐकात्म्य' सम्पन्न नहीं होता है। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को

अवश्य पा लेता है, परन्तु ब्रह्म के साथ मिलकर एक नहीं हो जाता। मुक्त जीव ब्रह्म नहीं होता, वह ब्रह्म के सदृश (ब्रह्म प्रकार) हो जाता है। मुक्त जीव में सर्वज्ञत्व तथा सत्य संकल्पत्व गुण अवश्य आ जाते हैं, परन्तु सर्वकर्तृत्व गुण ईश्वर के साथ ही रहता है। जीव में अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा बनी रहती है, परन्तु ईश्वर में ऐसा नहीं है। अतः जीव का परमात्मा के साथ ऐक्य सम्पन्न नहीं होता। मुक्त जीव स्वराट, अनन्याधिपति तथा संकल्प सिद्ध हो जाता है, परन्तु उसे जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय में तनिक भी अधिकार नहीं रहता. जीवित दशा में मुक्ति नहीं हो सकती, अतः अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के अनुकूल रामानुज के मत में भी 'जीवन्मुक्ति' मान्य नहीं है, केवल 'विदेहमुक्ति' ही सम्भव है। बैकुण्ठ में भगवान का किंकर बनना ही – कैकर्य ही – परमा मुक्ति है।

<u>द्वैतवाद में साधन मार्ग भक्ति</u> –

श्रवण, मनन, ध्यान के साथ तारतम्य–परिज्ञान तथा पंचभेद ज्ञान का होना अत्यावश्यक है। जगत् के समस्त पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर है। ज्ञान सुखादि का अवसान भगवान् में ही होता है यही तारतम्य ज्ञान है। भेद पांच प्रकार का होता है– 1. ईश्वर का जीव से भेद, 2. ईश्वर का जड़ से भेद, 3. जीव का जड़ पदार्थ से भेद, 4. जीव का दूसरे जीव से भेद तथा 5, एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद। इन पंन्चविद्य भेदों का परिज्ञान माध्वमत में मुक्ति–साधक है। उपासना दो प्रकार की होती है– सततशास्त्राभ्यासरूपा और ध्यानरूपा। अधिकारी भेद से उपासना का उपयोग होता है। 'ध्यान' से तात्पर्य इतर विषयों के तिरस्कारपूर्वक भगवद्विषया अखण्ड स्मृति से है (ध्यानं च इतर–तिरस्कार–पूर्वक– भगवद्विषयकाखण्डस्मृतिः'[3]– जीव मोक्ष के लिए भी परमात्मा के अधीन रहता है। भगवान् के नैसर्गिक अनुग्रह हुए बिना परतन्त्र जीव साधारण कार्यो का भी सम्पादन नहीं कर सकता, मुक्ति की कथा तो दूर ठहरी।

अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर परम भक्ति उत्पन्न होती है। और उसके बाद परम अनुग्रह का उदय होता है, अनन्तर मोक्ष का जन्म होता है। मोक्ष चार प्रकार का है– कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अविरादिमार्ग और भोग। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य भेद से भोग चार प्रकार का है। भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करना 'सायुज्य' है, जो समग्र भोगों में श्रेष्ठ माना जाता है। इन मुक्त जीवों में भी आनन्द का तारतम्य मानना माध्वमत की विशिष्ट कल्पना है। मध्वाचार्य ने अपना मत महाराष्ट्र प्रान्त के दक्षिणी भाग में चलाया जो माध्यम मत मेदवादी, द्वैतवादी या ब्रह्मसमाज कहलाया। इस सिद्धान्त के प्रमुख तत्व इस प्रकार है।

श्रीविष्णु ही परम तत्व हैं, जगत सत्य हैं, उसमें भेद वास्तविक है। सभी जीव भगवान के सेवक हैं, सभी जीवों में एक तारतम्य है। वास्तविक सुखानुभूति ही मुक्ति है। यह मुक्ति कई प्रकार की है। कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अचिरादिमार्ग और भोग (सालोक्य, सार्मप्य, सारूप्य तथा सायुज्य)। इस मुक्ति का सर्वोत्तम साधन है (अमलाभक्ति[4] या अहैतुकी भक्ति। इसे अनन्याभक्ति भी कहते हैं।

आपके मत का समाहार निम्नांकित श्लोक में दिया गया है।

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्वतो,

भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।

मुक्तिर्निजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत् साधन–

मक्षादित्रितयं प्रमाणमरिवलाम्नायैक वेद्यो हरिः।।[5]

उक्त पक्ष में आपके प्रमुखनौ सिद्धान्तों का विवेचन है कि विष्णु सर्वोत्तम तत्व है। संसार सत्य है, भेद वास्तविक है, समस्त जगत् भगवदाधीन है, जीवो में ऊँच नीच का भाव कर्मानुसार होता है, वास्तविक सुखानुभूति ही मुक्ति

हैं, मुक्ति का सर्वोत्तम साधन निर्दोष भक्ति है, तीन प्रमुख प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द तथा वेदों में प्रमुख कार्य तत्व विष्णु ही हैं।

मध्वाचार्य ने भी अपने अधिकांश ग्रन्थों में भक्ति को ही मुक्ति का साधन माना है।

'अतो विष्णोः पराभक्तिस्तद्भक्तेषु रमादिषु।

तारतम्येन कर्तव्या पुरुषार्थमभीप्सता।।[5]

'बिना ज्ञानं कुतोभक्तिः कुतो भक्तिं बिना च तत्।[6]

दक्षिण भारत में श्री सम्प्रदाय और मध्व सम्प्रदाय भक्ति के विकास की अटूट श्रृखलायें है जो पुराणकाल और उत्तरी भारत के भक्ति आन्दोलन के मध्य काल को दृढ़तम रूपेण संबंधित एवं ग्रथित करते हैं।

द्वैताद्वैत में साधन मार्ग भक्ति

निम्बार्क मत के साधन का मार्ग शरणागति (प्रपत्ति) है। जीव जब तक भगवान् के शरण में नहीं आता, तब तक उसका वास्तव कल्याण नहीं होता। प्रपन्न होते ही भगवान् का अनुग्रह जीवों पर होता है। अनुग्रह होने से भगवान् के प्रति रागात्मिका भक्ति का उदय होता है। भगवान् के प्रति प्रेम होना कोई साधारण घटना नहीं हैं। भगवान् जिस पर अपनी दया की वर्षा करते हैं वही जीव उनकी ओर आकृष्ट होकर प्रेम करता है। इस प्रेमा भक्ति का फल है– भगवान् से साक्षात्कार अर्थात् भगवान् का दर्शन। तब जीव भगवान् के भावों से स्वतः व्याप्त हो जाता है और इस दशा में वह सदा के लिए क्लेशों से छुटकारा पा लेता है। शरीर के साथ संबंध रहने पर 'भगवद्भावापत्ति' हो नहीं सकती। इसलिए निम्बार्क मत में भी अन्य वैष्णवमतों के समान 'विदेहमुक्ति' ही मान्य है, 'जीवन्मुक्ति' नहीं।

<u>शुद्धाद्वैत की दृष्टि में साधन मार्ग भक्तिः—</u>

भगवान की प्राप्ति का सुगम उपाय केवल भक्ति ही है। भगवान् के त्रिविध रूप के अनुसार मार्ग भी तीन हैं। आधिभौतिक कर्ममार्ग है, ज्ञानमार्ग आध्यात्मिक है। ज्ञान के बल पर ज्ञानी अक्षर ब्रह्म को ही प्राप्त कर सकते है, परन्तु पर ब्रह्म सच्चिदानंद की उपलब्धि भक्ति के ही द्वारा होती है। आचार्य का आचार–मार्ग 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। भागवत में पुष्टि या पोषण का अर्थ 'भगवान् का अनुग्रह' है (पोषणं तदनुग्रहः)[5] अतः भगवदनुग्रह को मुक्ति का प्रधान कारण मानने के कारण यह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है यह मार्ग मर्यादा मार्ग नितान्त विलक्षण है। मर्यादा मार्ग वैदिक है, जो अक्षर ब्रह्म की वाणी से उत्पन्न हुआ है, परन्तु पुष्टिमार्ग साक्षात् पुरूषोत्तम के शरीर से निकला है। मर्यादा मार्ग में ज्ञान तथा श्रवणादि साधनों के द्वारा सासुज्यमुक्ति ही ध्येय होती है, परन्तु पुष्टिमार्ग में सर्वात्मना आत्मसमर्पण तथा विप्रयोग–रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्दधाम भगवान् का साक्षात् अधरामृत का पान ही मुख्य फल है।

वस्तुतः शुद्धाद्वैत में साधन मार्ग एक मात्र भक्ति हैः–

माहात्म्यज्ञानं पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।[7]

"स्नेहोभक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा"– इस भक्ति के भी उपर्युक्त दृष्टि से दो भेद हुए– 1. मर्यादा और 2. पुष्टि। मर्यादा भक्ति के लिए भक्त को चेष्टा और आचरण का अवलम्बन लेना पड़ता है।

पुष्टि– भक्ति या अनन्य शरणा गति भक्त को भगवान की कृपा से ही प्राप्त होती है। इसमें भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम अपेक्षित् हैं। मर्यादाभक्ति में फल की अपेक्षा रहती है। पुष्टि की भक्ति में फल की आसक्ति नहीं रहती।

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"[7]

यह उपनिषद् वाक्य श्रुतिवचन तथा" पोषणं तदनुग्रहः" यह श्रीमद्भागवत्

वचन ही इसके प्रमाण हैं।

चैतन्य का साधन मार्ग भक्तिः–

भगवान को अपने वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति ही है। कर्म का उपयोग चित्त की शुद्धि कर उसे ज्ञान तथा भक्ति के उपयुक्त आधार बनाने में है। ज्ञान की प्रकार रूपा भक्ति 'केवल ज्ञान' से नितान्त विलक्षण है। ज्ञान दो प्रकार का होता है– केवल ज्ञान तथा विज्ञान। 'त्व' पदार्थ के ज्ञान से कैवल्यज्ञान का उदय होता है, 'तत्'' पदार्थ के चिन्तन से भगवत्प्रसाद का लाभ होता है, सायुज्यादि मुक्ति की उपलब्धि होती है। फलतः विज्ञान अर्थात् भक्ति के द्वारा भक्त न केवल भगवत्–प्रसाद को ही प्राप्त करता है, अपितु भगवान् को भी अपने वश में कर लेता है (भगवद्शीकार)। अतः भगवद्शीकार को उत्पन्न करने के कारण भक्ति ही श्रेष्ठ साधन है। संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियों का सम्मिश्रण भक्ति का सार है। ये दोनों शक्तियाँ भगवान् का ही स्वरूप हैं, अतः भक्ति भगवद्रूपिणी है। यह भक्ति स्वरूपात्मक होने से भगवान् का पृथग्–विशेषण है, परन्तु भक्तों का पृथग् विशेषण है।

राम भक्ति के अग्रदूत आचार्य रामानन्दः–

राम–भक्ति के विकास में श्री रामानन्द का वही स्थान है जो कृष्ण–भक्ति विकास में वल्लभाचार्य का। तत्कालीन परिस्थिति एवं भगवद्भक्ति से अनुप्राणित इन आचार्यो ने भक्ति के उज्ज्वल भाव मणि निर्मित रत्न जटित सोपान निर्मित कर दिये, जिन पर आरूढ़ होकर जनता 'ब्रह्मानन्द सहोदर' के आनन्द के साथ–साथ परमानन्द लाभ कर अपने मानव जीवन को कृत–कृत्य कर जनता जनार्दन से पूर्ण तदात्म्य करने में पूर्ण सफल हो सकती थी।

श्री रामानन्द जी को मध्ययुग की स्वाधीन चिन्ता का गुरू कहा जाता है। रामानन्द जी क्षीराब्धि नायक शेषशायी विष्णु के स्थान पर राम रूप की

प्रतिष्ठा की, जो तत्कालीन परिस्थिति की परम् आवश्यकता थी। अतः विदेशियों से अभिशप्त भारतीयों का हृदय लोकरंजक तथा उससे भी अधिक ऐश्वर्य सम्पन्न मनोनीत रूप में लोक रक्षक का पावन दर्शन कर आनन्दातिरेक व अपना कल्याण व आनन्द देखकर शान्ति से नाच उठा। अभी तक राम भक्ति के ग्रन्थों की परम्परा की श्रृंखला की कड़ियाँ संस्कृत की व्याकरण बद्ध अमर वाणी में ही जुड़ती चली आ रही थी, परन्तु काल की कठोर आवश्यकता, जन साधारण की अनिवार्य मांग लोक भाषा में भक्ति का संदेश पाने की थी।

उपर्युक्त सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का वीड़ा रामानन्द जी ने उठाया और अपने जगत्पावन भक्ति–सागर में निम्न वर्ग धारा को पूर्ण रूपेण आत्मसात् कर विकलांग समाज को पूर्ण बनाने में पूर्ण सहयोग दिया। जन साधारण की भाषा में जन–कल्याण–हित ग्रन्थ रचे जाने लगे। कोने–कोने में, वर्ग वर्ग में भक्ति की अविरल निर्झरिणी प्रवाहित हो उठीं। भक्तगण 'समाऽहं सर्वभूतेषु' का वास्तविक रूप अब आचार्यो के रूप में देखने लगे। इस प्रकार यह भक्ति प्रवाह् सभी भक्तों की गलियों में भी उमड़ पड़ा और उनके हृदय उसमें निमज्जित हो उठे।

श्रीराम भक्ति के विकास में रामानन्द जी के मान्य सिद्धान्तों का भी उल्लेख परमावश्यक है। आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ ''वैष्णवमताब्जभास्कर ''द्वारा हम उनकें विशिष्टाद्वैत–सम्मत सिद्धान्तों का सम्यक् अनुशीलन कर सकते है। आपने भक्ति तत्वों को शंकर के अद्वैतवाद से समन्वित करने का प्रयास किया। तत्कालीन प्रचलित गोरखपन्थ के योग को भी अपने वैष्णव धर्म में स्थान देकर ज्ञान, योग एवं भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित की जिसमें सभी वर्ग एवं रूचि के व्यक्ति समुचित आनन्द लाभ एवं कल्याण प्राप्ति कर सकते हैं।

आचार्य जी ने अपने सिद्धान्त में 'तत्वत्रय' को सर्वथा मान्य मानकर उनकी समुचित व्याख्या भी की है। आपने भी चिद्चिद् विशिष्ट सभी रूपों को

भी एक माना परन्तु नाम व पदार्थ भेद से उसके तीन प्रकार स्वीकृत किये।

1. चित्–चेतन–जीव
2. अचित् (अचेतन) प्रकृति
3. ईश्वर

ईश्वर चित् अचित् दोनों का कारण कार्य रूप है। परन्तु ईश्वर से भिन्न चित् या अचित् की सत्ता नहीं है। वह विशिष्ट रूप से दोनों दशाओं में एक ही है। यही विशिष्टाद्वैत का मूलतत्व है।

रामानन्द के 'तत्त्वत्रय' के दार्शनिक तत्वों को अपना आधार मानकर श्रीरामचन्द्र को परमपुरूष का रूप प्रदान किया तथा उनकी आराधना बड़े ही मनोयोग एवं निष्ठा के साथ प्रचलित की। अतएवं उनका सम्प्रदाय 'वैष्णव रामावत् सम्प्रदाय' के नाम से अभिहित किया गया।

आपकी भक्ति के तत्वत्रय के समान "रहस्यत्रय" भी अवलोकनीय है। राम भक्ति के प्रमुख अंग राम मंत्र है, जो तीन रूपों में है।

1. मूलमंत्र– 'श्री रां रामायनमः' (राम षडक्षर मंत्र)
2. द्वयमंत्र– श्रीमद्रामचन्द्रचरणौशरणं प्रपद्ये श्रीमते राम चन्द्राय नमः।' (पंचविंशत्यक्षरमंत्र)
3. चरममंत्र– (सक्रृदेव प्रपन्नाय तवस्मीतिच याचते)।

   अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतंमम।'

विशिष्टाद्वैत मत के त्रितत्वों के समान उनकी त्रिमूर्ति का ध्यान भी तथैव है। श्री राम लक्ष्मण और सीता के पूजा का विधान किया गया है, जिसमें राम ईश्वर के प्रतिरूप, लक्ष्मण जीव रूप तथा सीता प्रकृतिस्थानीया है। सतत्

भगवदाराधना ही एक मात्र मुक्ति का साधन मानी गयी।

सतैलधारा समनित्यसंस्मृति सन्तानरूपेशि परानुरक्तिः।

भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथां यमाद्यष्ट सुबोधकाङ्.गा।।''[8]

इस अविच्छिन्न भक्ति धारा प्रवाह के मूल श्रोत सात बताये गये है।

1. विवेक– (विवेचना शक्ति)।
2. विमोक– (काम में अनाशक्ति)।
3. अभ्यास– (राम का सततशीलन)।
4. क्रिया– (पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान)।
5. कल्याण– (सत्य–आर्जन–दान–दयादि)।
6. अनवसाद– (सतत् सोत्साह)।
7. अनुद्धर्ष– (सांसारिक सुखों की अपेक्षा आनन्दातिरेक)।

सभी साधनों एवं उपसाधनों का चरम लक्ष्य एवं प्राय लक्ष्य भी भगवान् रामचन्द्र की प्राप्ति है। रामावत् सम्प्रदाय के आद्य प्रर्वतक श्री रामानन्द ने संसार के भरण पोषणकर्ता, अशेष–गुण–जलाधि, शरण एवं प्रभु राम की प्राप्ति ही चरम लक्ष्य मानकर गुरू की सहायता से उस परम तत्व को उपलब्ध करना सुलभ समझा। इस प्रकार गुरू के प्रभाव से भक्त अपने कर्मो का न्यास कर बंधन मुक्त हो ऊर्ध्व पद को प्राप्त होता है और मृत्यु के पश्चात् वैकुण्ठ रूप साकेत धाम को प्राप्त होता है। वह श्री राम का कृपा पात्र बन सायुज्य लाभ प्राप्त करता है, और वह आवागमन से मुक्त हो जाता है।

'सीमान्त सिन्ध्वाप्लुत एव धन्यो गत्वा परब्रह्म सुवीक्षितोऽनिशम्।

प्राप्यं महानन्द महाब्धिमग्नो नवर्तते जातु ततःपुनःसः।।[9]

भक्ति के क्षेत्र में आपने एक अद्भुत क्रान्ति उत्पन्न की और जनता को राम भक्ति का दृढ़ावलम्ब प्रदान किया। सामाजिक क्षेत्र में भी रामानुज द्वारा प्रतिपादित (प्रतिपत्ति–मार्ग) के आधार पर श्री रामानन्द जी ने "वैरागी" नामक उत्साही विरक्त दल का संगठन किया, जिसमें हिन्दुओं के निम्न वर्ग के व्यक्तियों को ही नहीं अपितु हठात् विधर्मी बनाये गये हिन्दुओं को भी 'संयोगी' नाम से अपने शिष्ट दल में संगठित किया।

परम्परा से प्राप्त संस्कृत आचार्यो की नियमबद्ध वैधी भक्ति सर्वसाधारण के लिए दुरूह एवं अलभ्य थी अतः रामानन्द ने उसको प्रेमाभक्ति का रूप प्रदान कर जनसाधारण के लिए सुलभ बनाया। इस प्रकार नवधा भक्ति के साथ–साथ दशधा भक्ति का आपने प्रतिपादन किया, जिसमें नारद की 11 आसक्तियों एवं भाव प्रधान पाँच रसों की रस प्लावित सरिता उमड़ पड़ी।

राम "नाम" का निर्वचनः–

अवतार धारण करने के साधन स्वरूप राम को चतुर्विग्रह में अवतरित होना पड़ता है अथवा यह कहना विशेष संगत होंगा कि नामः रूप, लीला और धाम इन चतुर्विग्रह का स्वरूप राम का स्वरूप हैः–

रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्।

एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्द विग्रहम्।।[10]

नाम, रूप, लीला और धाम यह चतुर्विग्रह एक ही राम के निश्चित है, जो नित्य और परात्पर है।

उपर्युक्त चतुर्विग्रह में सर्वप्रथम आलोच्य विषय विग्रह नाम है, जो कि साधन तथा साध्य दोनों है। प्रस्तुत विवेचन उसके साध्य स्वरूप का है।

आदि कवि बाल्मीकि को नाम साधना का प्रत्यक्ष फल प्राप्त हुआ।

राम नाम ने नामी के स्वरूप की नाम प्रतीति, नामाभ्यास, नाम तदाकारिता द्वारा ज्ञान करा दिया और फिर राम चरित का प्रत्यक्ष दर्शन कर संसार समक्ष राम का स्वरूप प्रकट कर दिया।

जान आदि कवि नाम प्रतापू। भयहु सिद्ध करि उलटा जापू।[11]
तथा–रामत्वन्नाममहिमा वर्ण्यते केन वा कथम्।

यत्प्रभवादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवात्मवान्।।[12]

वेदान्त के आधार ग्रन्थ उपनिषदों में वर्णित नाम और नामी की सर्वकारणात्मक स्वरूपगत अभिन्नता पर दृष्टिपात करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि राम नाम भी परात्पर ब्रह्म ही है? कठोपनिषद् में भी नाम नामी का स्वरूपैक्य वर्णित है:–

एतद्धयेवाक्षरंब्रह्म एतद्धयेवाक्षरंपरम्।

एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यदिच्छति तस्य तत्।।[13]

राम के विराट् स्वरूप में चन्द्रमा को भगवान् का मन, सूर्य को भगवान् का नेत्र तथा अग्नि को भगवान् का मुख बतलाया गया है तथैव नाम के अन्तर्गत भी इन्हीं शक्तियों का समावेश है। भक्त के हृदय प्रांगण में शीतलता उत्पादक होने के कारण चन्द्रमा है,[14] मोह तथा हृदय तम निवारणार्थ सूर्य है।[15] पाप समूह को भष्म करने हेतु अग्नि है।[16] भावदृष्टि से भिन्न इसकी शाब्दिक व्याख्या उपर्युक्त शक्तियों से समन्वित रूप की रामरहस्योपनिषद् में की गई है।[17]

राम नाम की गरिमा का वर्णन अन्य शास्त्रों में बहुत ही तात्त्विक ढंग से की गई है। भक्तवर प्रह्लाद ने रामनाम की महिमा का गुणगान किया है–

'रामनाम जपतां कुतो भयं सर्वतापरामनैक भेषजम्।

पश्यतात मम गात्र सन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना।।''[18]

प्रह्लाद कहते हैं कि राम नाम जपने वाले को भय कहाँ?

क्योंकि राम–नाम सब तापों की निवृत्ति का एक मात्र औषध है।

हेतात ! देखिए मेरे शरीर के निकट आग भी जल के समान ठण्डी प्रतीत होती है। भक्तगण उन्हीं का आश्रयण करते हैं। अनादि काल से काशी में मरने वालों को शिव जी रामनाम का उपदेश देते हैं–

'पेयं पेयं श्रवणपुटके रामनामाभिरामं

ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम्।

जल्पन् जल्पन् प्रकृतिविकृतौ प्राणिनां कर्णमूले

वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपिः काशीनिवासी।''[19]

''अपराध सहस्त्रभाजनं पतितं भीम भवार्णवोदरे।

अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु।।

नाथ मैं सहस्त्रों अपराध्रों का भाजन हूँ, अतएव भयंकर भवार्णव में पड़ा हुआ हूँ। मेरा कोई सहारा नहीं हैं, मैं आपकी शरण में आया हूँ। हे हरे मुझे अपना लेने की कृपा करें।

स्कन्दयामलतन्त्र के निर्वाणखण्ड में रूद्र वाक्य है–

रेफोऽग्निरहमेवोक्तो विष्णु सोमो स उच्यते।

आवयोर्मध्यमो ब्रह्मा रविराकार उच्यते।।

राम नाम का रेफ (र) अग्नि का वाच्रक है, वह अग्नि मैं ही हूँ। राम नाम का म सोमात्मक विष्णु का वाचक है, दोनों के मध्य में रहने वाले आकार का अर्थ ब्रह्मा है। वही आदित्य भी है। इस तरह प्रणव के समान ही रामनाम भी ब्रह्मविष्णुरूद्रात्मक है–

चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दाशरथो हरी।

रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः।।

र राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः।[22]

महाविष्णु के रघुकुल में दाशरथि राम के रूप में प्रगट होने पर जो अखिल अमीष्ट देते है और भूमि में स्थित होकर देदीप्यंमान हैं, उनका नाम राम पड़ा।

रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यानन्दे चिदात्मनि।

इति रामपदेनैतत् परं ब्रह्मभिधीयते।।[21]

योगी जिस नित्य चिदानन्द आत्मा में रमण करते हैं, वही राम हैं। अथवा जो ज्ञानादि लक्ष्मी प्रदान करते हैं, वही राम है। "रां ज्ञानांदिलक्ष्मीम् अमति ददातीति रामः" अर्थात् विविध ऐश्वर्यों धनों, लक्ष्मी आदि की जिससे प्राप्ति होती है, वही राम है।

यथैव वटवीजस्थः प्रकृतश्च महान् द्रुमः।

तथैव रामवीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।।[22]

जैसे महान् वटवृक्ष वटवीज में रहता है, वैसे ही यह चराचर प्राकृत महान् जगत् राम के बीज "रां" मन्त्र में रहता है। तीनों उत्पादिनी पालिनी तथा संहारिणी शक्तियाँ रेफ समन्वित हैं।

राम नाम सर्वस्व हैः–

राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः।

राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्मतारकम्।।[23]

राम ही परब्रह्म हैं, राम ही परम तप हैं, राम ही परम तत्त्व है। एवं

राम तारक ब्रह्म हैं।

कांस्य घण्टा निनादस्तु यथालीयति शान्तये।

ऊँकारस्तु तथा योज्यः शान्तये परमिच्छता।।

यस्मिन् विलीयते शब्दस्तद् ब्रह्म परिगीयते।[24]

कांस्य घंटा का निनाद जैसे क्रमेण लीन हो जाता है, उसी तरह प्रणव के उच्चारण में इन अ उ और म के समाप्त होने पर अनुस्वार ध्वनि नाद से शान्ति की अनुभूति होती है। वही की वही स्थिति राम में होती है।

रा शब्दो विश्ववचनो मश्चेतीश्वर वाचकः।

लक्ष्मीपतिं गतिं रामं प्रवदन्ति मनीषिणः।।[25]

रा शब्द विश्व का वाचक है और म ईश्वर का वाचक है। लक्ष्मी का ईश्वर ही राम है।

कामधेनु तन्त्र में राम ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है–

तरुणादित्यसंकाशं चतुर्वर्गप्रदायकम्।

पंचदेवमयं वर्णं पंचप्राणमयं तदा।।

त्रिशक्तिसहितं रामं त्रिविन्दुसहितं सदा।

आत्मादितत्त्वसंयुक्तं हृदिस्थं प्रणमाम्यहम्।।[26]

तरुण आदित्य के समान रा और म वर्ण चतुर्वर्गप्रद एवं पंचदेवमय तथा पंचप्राणमय हैं। रामनाम की महिमा से निर्गुण एवं सगुण रामब्रह्म का प्राकट्य होता है।

राम के संबंध में श्री यामुनाचार्य कहते हैं कि–

कदापुनः शंखरथांग–कल्पक–ध्वजारविन्दांगकुशवज्रलांछनम्।

त्रिविक्रमत्वच्चरणाम्बुजद्वयं मदीयमूर्धानमलंकरिष्यति ।।[27]

अर्थात् शंख. चक्र ध्वज कमल अंकुश और वज्र के चिह्नों से अंकित आपके चरणारविन्द कब मेरे मस्तक को अलंकत करेंगें अन्य भक्तों के अनुसार भगवच्चरणारविन्द में आकाश, गोष्पद, स्वस्तिक, जंम्बू फल, कलश, सुधासरोवर, अर्धचन्द्र, षट्कोण, मीनविन्दु, ऊर्ध्वरेखा आदि के भी चिह्न हैं।

अथर्वसंहिता में अयोध्यापुरी का वर्णन है, जिसमें परब्रह्म रामं स्थित हैं–

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।[28]

आठ आवरणों वाली तथा नव द्वार वाली देवताओं की पुरी अयोध्या है, उसमें हिरण्यमय ज्योतिर्मय स्वर्ग कोश है। वह ज्योति के द्वारा आवृत है।

तस्मिन् हिरण्यमये कोशे त्यरे त्रिप्रतिष्ठिते तस्मिन्।

यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्म विदोविदुः[29]

उस प्रकाशमय तीन अरों में तीन गुणों या सत् चित् और आनन्द पर आधृत हिरण्यमय कोश में आत्मतुल्य परमपूज्य राम ब्रह्म स्थित हैं।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा सम्परीवृताम्।

पुरं हिरण्मयी ब्रह्माविवेशापराजिताम्।।[30]

अत्यन्त देदीप्यमान मन को हरण करने वाली यश से परिवृत अपराजिता सर्वथा अजेय उस हिरण्मयी अयोध्यापुरी में ब्रह्म राम सम्यक् विराजमान हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाम और नामी में पार्थक्य नहीं है।

राम चरित मानस में जिस प्रकार ''प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना'' हैं तथैव नाम भी है।

एहिमंह रघुपति नाम उदारा। अतिपावन पुरान श्रुति सारा।।[31]

भगवान् शंकर द्वारा सतत हृदयासीन राम ध्यान की भांति यह नाम भी उनके सतत जिह्वासनासीन है।

तुम पुनि राम राम दिन राती। सादरजपहु अनंग अराती।।[32]

महामन्त्र जोइ जपत महेसू।।[33]

राम का नाम ही उस परमतत्त्व के साकार स्वरूप का बोधक है।

देखिअहिं रूप नाम अधीना। रूप ग्यान नहिनाम विहीना।।

रूपविशेष नाम विनुजाने। करतल गत न परहिं पहिचानें।।[34]

सुमिरिअ नाम............................।

नाम स्वयं उस राम का वाङ्.मय अथवा वर्णमय रूप है जिसके गुण भी राम की ही भांति भक्त दुःख भंजन[35] और जनमन रंजन[36] है।

राम का नाम भगवद्विग्रह है, इसका निर्णय स्वयं नाम निष्ठ शिरोमणि नारद जी स्वयं रघुनाथ जी की स्वीकृति द्वारा उन्हीं से ही करा लेते हैं। वह है राम नाम जो स्वयं राम की ही भांति अखिल अघगंजन तथा अखिल सुखधाम शान्ति धाम बन गया ।

राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खगगन बधिका।।[37]

तुलसी के राम की ही भांति वह नाम भी उनका सर्वस्व, जननी, जनक् बन गया। नामी की ही भांति वह भी अकथनीय तत्त्व है।[38] यह भी अप्राकृत तथा चिदानन्दस्वरूप है, अलौकिक शक्ति सम्पन्न है। भक्त की भाव विकासावस्था

में यही नाम नामी रूप में परिणत होकर इष्ट का साक्षात्कार कराता है। यही है उसका अद्वैत स्वरूप।[39] साधाना के क्षेत्र में साध्य के नाम, रूप, गुण लीलाधाम की प्रधानता है। गोस्वामी जी ने उपासना में नाम जप को ही उपास्य की प्रसन्नता का सबसे सुगम साधन सिद्ध किया है। नाम जापक को उपास्य का नित्य दर्शन होता है। अतः उसे षड् मनोविकारों से आक्रान्त होने का भय नहीं रहता।

गोस्वामी जी की दृष्टि में निर्गुण ब्रह्म को भी जानने के लिए नाम परमावश्यक है। सगुण शरीरधारी निर्गुण ब्रह्म की दो उपाधियां है– नाम और रूप। रूप का संबंध केवल सगुण से है, परन्तु नाम का निर्गुण और सगुण, प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों से है :–

"सुमिरिय नाम रूप जिमि देखे। आवत हृदय सनेह विसेखे।"

उदाहरण– अगुन सगुन बिच नाम सुसाषी। उभय प्रवोधक चतुर द्विभाषी।।

अर्थात् उपास्य ब्रह्म का नाम सगुण का तो परिचय कराता ही है, निर्गुण का भी रहस्य उद्‌घाटित करता है। इसलिए गोस्वामी जी ने नाम को द्विभाषी कहा है। पुनः सगुण पदार्थ भी बिना नाम के पूर्ण परिचय कां विषय नहीं बन सकता। पूर्व गुण श्रवण नामी के प्रत्यक्ष दर्शन होने पर नाम के माध्यम से ही श्रद्धादि सात्विक भावों के उद्रेक में समर्थ होता है। अन्यथा "करतल गत न परत पहिचाने" की स्थिति हो जाती है। अतः गोस्वामी जी नाम को नामी से भी श्रेष्ठ बताते है।

ब्रह्म राम ते नाम बड़ वरदायक वरदान

रामायण सत् कोटि महँ लिये महेश जिय जानि।

महात्मा तुलसीदास ने सगुण ब्रह्म राम से अधिक उनके नाम की महत्ता बताई है। उनकी दृष्टि में राम ने कुछ पतितो का उद्धार किया लेकिन

उनके नाम ने अनन्त पतितों का कल्याण किया।

'राम एक तापस तिय तारी'। नाम कोटि खल कुमति सुधारी।'

यह राम–नाम कोई साधारण शब्द नहीं बल्कि सूर्य, अग्नि तथा चन्द्रमा का भी मूल कारण एवं ब्रह्म के त्रिविध सगुण स्वरूपमय तथा वेदों का प्राण ही है–

बन्दौं नाम राम रघुवर के। हेतु कृसानु भानु हिमकर के।।

विधि हरिहर मय वेद प्रान सों। अगम अनूपम गुन विधान सो।।

गोस्वामी जी ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपों को जानने के लिये राम नाम को सुगम उपाय कहा है क्योंकि ब्रह्म राम से उनका नाम बहुत बड़ा है।

उभय अगम जुग सुगम नाम ते। कहेऊँ नामु बड़ ब्रह्म राम ते।।

नाम केवल अक्षर समष्टि ही नहीं उसके अन्तर्गत वही चिन्मय आत्मा स्थित है जो इन्द्रियातीत होने के कारण वर्णनातीत भी है देव प्रतिमा के समान केवल अनुभव में ही आभास हो सकता है:–

समुझत सुंखद न जात वरवानी।।[40]

यह भी अपने देव से अभिन्न है। इसलिए परमार्थ पथिंक सुविज्ञ भरद्वाज भी 'राम' नाम की महत्ता को स्वीकार राम ही के समान अमित प्रभावशाली स्वीकार करते है[41] और देवाधिदेव महादेव भी समस्त प्राणियों में रमणकर्ता अन्तरात्मा रूप 'राम' की ही भाँति नाम का वर्णन करते हैं।

'नाम' ही 'भगवत्स्वरूप' है इसका निर्णय निम्नलिखित 'परमात्म तत्व' के यौगिक विवेचन से पूर्णतया हो जाता है। जिस प्रकार भगवान अधियज्ञ रूप से समस्त कर्मन्द्रियों के नियन्ता बनकर स्थित रहते है।[42] वे सर्वत्र इस रूप में

स्थित हैं, शक्ति संचालक जीवन ज्योति रूप हैं तथैव हमारे शरीर में वायु 'विभिन्न नाम रूपों[43] सहित व्याप्त होकर स्थित है जिसकी विशिष्ट आलोचना योगियों ने प्राणायाम की अनुभूति द्वारा की है। वह 'वायु' भी जीवनी शक्ति है। 'श्वास' श्वास में नाम 'जप' की अनुभूति 'सन्त' कवियों ने की है और उसे इसी कारण 'अजपा' कहा है। 'रोम रोम' में रमे राम की भाँति ही श्वास प्रतिश्वास क्रिया ही राम नाम है। उसी को योगियों ने "हंस" नाम दिया है तथा यह नाम और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन इस प्रकार से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है जब उसी 'हंसः' शब्द को उपनिषद् में परमात्मा के लिये प्रयोग किया गया है।[44] अध्यात्म रामायण में जगज्जननी जानकी 'नाम' में ही राम का स्वरूप–चिन्तन करती है।[45] जो कि परम साधन होते हुए भी 'साध्य' रूप राम स्वरूप दिग्दर्शक होने के कारण नहीं हैं। बुद्धि दृष्ट्या 'त्वमेवाहं' मानने वाले अनन्य राम भक्त हनुमान् भी राम स्वरूप में तन्मय होने की ही भाँति 'नाम' रूप में स्मरण द्वारा तन्मय होकर उस शाश्वत चिरन्तन परमतत्व की भाँति ही 'नाम' की स्थिति तक जीवित रहने की श्रेष्ठ वर याचना करते है।[47] भगवद्विग्रह उनका परमाराध्य स्वरूप है अतः 'नाम' भी उस स्वरूप के ही अन्तर्गत है।

"तस्य वाचकः प्रणवः" ऊँकार ही 'राम' नाम है यह रामानन्दाचार्य के वैष्णवमताब्जभास्कर में वर्णित किया गया है। अध्यात्मरामायण में श्रीराम के अपने को 'ऊँकार' स्वरूप ही बतलाने से[47] यह भी सिद्ध हो गया कि राम नाम ही 'रांम' स्वरूप है। डा0 बलदेव प्रसाद मिश्र के नाम निरूपण करते हुए लिखा हैः–

" यह नाम नराकार आराध्य काप्रचलित नाम ही नहीं है वरन् निराकार निर्गुण ऊँ ऊँ का समकक्ष और सुराकार परमात्मा के सब नामों में श्रेष्ठ है।[48]

'नाम' के साध्य पक्ष का विवेचन उसके कतिपय महिमा गान के पश्चात् अव यहीं स्थगित् किया जाता है।

वैराग्यहेतुपरमो,, रकारो कथ्यते बुधः।

आकारो ज्ञान हेतुश्च, मकारो भक्तिहेतुकः।।[49]

अस्तु – 'कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। राम न सकहि नाम गुण गाई'।।

राम न सकहिं नाम गुण गाई, के कथनानुसार जब 'नामी' परम पुरूष के द्वारा भी वह 'नाम स्वरूप वर्णनातीत है तो जीव तो अल्पज्ञ और अंशी ही ठहरा। अतः भूत भावन भगवान् शिव का यह उपदेश संसार को दिव्य संदेश के रूप में ग्रहण करने योग्य हैः–

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।

सहस्रनाम तत्तुल्यं राम–नाम बरानने।।

वैदिक साहित्य में भक्ति के बीजः–

भक्ति के क्रमिक विकास को समझने के लिए वैदिक वाड्.मय में भक्ति का क्या स्वरूप था इस पर एक विहंगम दृष्टि से समझना आवश्यक प्रतीत होता है। यह सत्य है कि भक्ति का जो स्वरूप परवर्ती वाड्.मय में दिखाई पड़ता है वैसा रूप वेदों में नहीं मिलता, परन्तु बीज रूप में इसका संकेत यत्रत्तत्र पर्याप्त रूप में मिलता है।

मनुष्य के चरम उत्कर्ष एवं अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वेदों में साधन त्रय का विधान किया गया है। साधनत्रय में ज्ञान कर्म और उपासना की चर्चा होती है, ज्ञान की साधना परम सूक्ष्म बुद्धि के अधीन है। कर्म का विधिवत् एवं निष्काम भाव से सम्पादन कठिन कर्मकाण्ड की विधिनिषेधात्मक प्रक्रियाओं से युक्त है। दोनों की अपेक्षा उपासना की सुगमता सर्वमान्य है। उपासना का शाब्दिक अर्थ है ब्रह्म के समीप स्थित होना। वैदिक भक्ति का स्वरूप मूलतः उपासना का ही है।

श्रीमद्भागवत में भक्ति के जिन नौ प्रकारों का उल्लेख किया गया है वेद भी उन्हें इसी की भूमिका में संकेत करते है।[50]

भक्ति के सभी अंगों में आत्मनिवेदन परक बहुत सी ऋचाएँ हैं। आत्मनिवेदन ही भक्ति की वह शीर्ष विन्दु है जहाँ पहुँच कर भक्त निर्भयता प्राप्त करता है। आत्मनिवेदन या शरणागति भक्ति को वैष्णवाचार्यों[51] ने छः भागों में विभक्त किया है– 1. अनुकूल का संकल्प 2. प्रतिकूल का त्याग 3. गोप्तृत्व का वरण 4. रक्षा का विश्वास 5. आत्म निक्षेप तथा 6. कार्पण्य। इन छहों अंगों की सार्थक ऋचाएँ भी वेदों में मिलती हैं।[52] इसके अतिरिक्त भक्ति के परवर्ती पांचों भावों, शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर से संबंधित ऋचाएँ भी वेदों में उपलब्ध हैं।

दास्य भक्ति में भक्त भगवान के ऐश्वर्य रूप से प्रभावित रहता है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उसे अपने प्रभु की शक्ति का साम्राज्य ही दृष्टिगोचर होता है।[53] तद्नुसार ऊँचे ऊँचे पर्वतनदियां अथाह समुद्र सभी प्रभु की कीर्ति का ज्ञान करते दिखाई देते हैं। भक्त की दृष्टि में सम्पूर्ण दिशायें मानों उसी प्रभु की भक्त रक्षार्थ फैली हुयी भुजाएँ हैं।

सख्य भक्ति में जीवात्मा जब भगवान के सखा भाव को प्राप्त कर लेता है तो पवमान प्रभु उसके पवित्र अन्तःकरण को अपनी आनन्द धाराओं से आर्द्र कर देते हैं।[54] कान्ता भक्ति में भक्त का कथन है कि सुख को रखने वाली, एक ही मार्ग में बढ़ने वाली, प्रभुप्राप्ति की कामना से संयुक्त मेरी समस्त बुद्धियां आज प्रभु की सेवा में लगी हुई हैं और जैसे स्त्रियां अपने पति का आलिंगड.न करती है, वैसी ही मेरी बुद्धियाँ ऐंश्वर्यशाली पवित्र प्रभु का स्वरक्षा के लिए आलिंगन कर रही हैं।[55] इस प्रकार भक्ति के सभी अंगों का स्रोत वेदों को ही मानना समीचीन होगा।

ऋविवर शाण्डिल्य ने तो 'भक्तिः प्रमेया श्रुतिंभ्यः'[56] अर्थात् भक्ति श्रुति से साक्षात् रूप से जानी जा सकती है– कहकर इसका उत्स वेदों को बताया है। संत शिरोमणि नारायणतीर्थ ने इसकी व्याख्या वेदों से पर्याप्त उद्धरण दिया है। श्री बलदेव उपाध्याय ने यह कहकर कि वैदिक साहित्य के गाढ़ अनुशीलन से यही स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि वेद जैसे कर्म तथा ज्ञान का उदय स्थल है वैसे ही वह भक्ति का भी उद्गम स्थान है।[57] उपर्युक्त मतों का ही समर्थन किया है। डॉ0 मुंशीराम शर्मा ने भी भक्ति का उदय वेदों से ही पुष्कल प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने का सफल प्रयास किया हैं।

उपनिषदों में भक्ति का महत्वः–

उपनिषदें वेद का ज्ञान कांड हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मकांडों का प्राधान्य रहा। किन्तु सहज मोक्ष प्रदातृ भक्ति के विषय में भी उपनिषदों का कम योगदान नहीं है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्म की प्राप्ति केवल ज्ञान से संभव नहीं है। उस परमात्मा की प्राप्ति तो स्वंय उसके अपनाने पर ही होती है।[58] भक्ति के लिए गुरू की नितान्त आवश्यकता है। भक्ति सम्प्रदाय में गुरू एवं भगवान् को एक माना गया है। श्वेताश्वतरोपुनिषद् में परमात्मा एवं गुरू की भक्ति का माहात्म्य बताया गया है,[59] उपनिषदों के ऋषियों ने ज्ञान की सरसता के लिए प्रेम को आवश्यक माना है। उन्होंने भक्ति की महिमाजानी। वृहदारण्यक का मधुविज्ञान और छान्दोग्योपनिषद् में उपासंना के अंगो में भक्त को स्थान प्राप्त होना उनकी सहृदयता के सूचक है।[60] श्वेताश्वतरोपनिषद् में तो मोक्ष के लिए ज्ञान से भी बढ़कर शरणागति को सिद्ध किया गया है।[61] कठोपनिषद् स्पष्ट किया गया है कि निष्काम पुरुष ईश्वर के प्रसाद से अपने आत्मा की महिमा देखता है और शोकरहित हो जाता है।[62] इस प्रकार उपनिषदों में भी परमात्मा के प्रति समर्पित होने का उसमें भक्ति करने का उपदेश दिया गया है।

गीता में भक्ति का स्वरूपः–

श्रीभद्गवत् गीता में जगह जगह ज्ञान कर्म और भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित है। इसके अठारहवें अध्याय में भगवान् श्री कृष्ण ने सब कुछ छोड़कर केवल शरण में जाने के लिए अर्जुन को उपदेश दिया है।[63]

वेदों में नवधा भक्ति

'भज् सेवायां' धातु से भक्ति शब्द बनता है– इस प्रकार भगवद्–भक्ति का अर्थ भगवत सेवा हुआ। इसके नौ अंगों का प्रतिपादन भक्ति ग्रन्थों में विस्तार रूप से हुआ है। भागवत शास्त्र में नवद्या भक्ति का इस प्रकार उल्लेख है–

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद्सेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

इन सभी अंगों की ओर वेद का संकेत स्पष्ट है। वैदिक रहस्यों का ही उद्घाटन ऋषि मुनियों ने अन्य ग्रन्थों में किया है। जो विषय वेद में सूत्र रूप से निहित है, उत्तरकालीन ग्रन्थों में वह भाष्य रूप में विराजमान है। वेद में समास शैली का प्रयोग है, और पुराणादि में व्यास शैली का। निम्नलिखित पंक्तियों में वेद के वैष्णव सूक्तों के उन कतिपय वचनों को प्रर्दशित करूँगी जिनमें उक्त अंगों का निर्देश है।

1. **श्रवणः–** 'सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिद्भ्यसत्।'[64]

अर्थात् वह चेतन[65] जीव ध्यान–गम्य परमात्मा श्री विष्णु को, उनके यशः श्रवण द्वारा (प्राप्त करने का) अभ्यास करें। यहाँ मुख्य शब्द है ''श्रवोभिः[66], जिसके अर्थ हैं– (क) कान, (ख) कीर्ति और (ग) सुनना। इस मत्रांश में भक्त के लिए यह उपदेश है कि वह अपने कानों से भगवान की कीर्ति का श्रवण करे। 'श्रवोभिः' के बहुवचन से भगवच्चरित्रों का बार–बार सुनना ध्वनित होता है। साधन की इस प्रकार पुनः पुनः आवृत्ति शास्त्र सम्मत है।

<u>ब्रह्मासूत्र का</u>–आवृत्तिरसकृदुपदेशात्।'[67] यह समानार्थक वचन भी इस प्रसंग में माननीय है। भक्ति के इस अंग में महाराज परीक्षित आदर्श हैं, जिन्होंने एक सप्ताह तक श्रीभगवच्चरित्रों का श्रवण कर मुक्तिलाभ किया था। श्रवण की ऐसी ही महिमा है। इसकी फल श्रुति में पुराण का एक वचन है–

संसार सर्पसंदष्टनष्ट चेष्टैक भेषजम्।

कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः।।

"श्रीकृष्ण इस वैष्णव मंत्र का श्रवण करके मनुष्य भव पाश से छुटकारा पा जाता है। संसाररूपी सर्प के माया मोह–रूपी विषय के प्रभाव से प्रभावित व्यक्ति के लिये रामायण औषधि के समान इसका गुण है।

2. <u>कीर्तनः</u>–(क) 'विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचम्।[68]

मैं अब श्रीविष्णुभगवान् की लीलाओं काप्रवचन करती हूँ।

(ख) तत्तदितदिदस्य पौंस्यं ग्रणीमसीनस्य त्रातु खृकस्य मीढुषः।[69]

त्रिभुवनपति, जगद्रक्षाविचक्षण, अहिंसक, कामनावर्षो इन विष्णु भगवान के चरित्रों का हम सब कीर्तन करते हैं।'

(ग) 'तमु, स्तोतारः पूर्व्य यथाविद।'[70]

'स्तुति करने वालो। आप सब लोग उन पुराण पुरूष को जिस प्रकार जानते हैं।'

(घ) 'आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन्।'[71]

– 'आप सर्वज्ञ हैं। इन परमाधि के नाम का विशेष रूप दो कीर्तन कीजिए।

(ड.) "वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे।'[72]

– 'हे विष्णो ! सुन्दर स्तुति वाले मेरे वचन आपको बढ़ायें – प्रमुदित करें।'

(च) 'ध्रुवासो अस्य कीरयो जनासः।'[73]

– इसके कीर्तन करने वाले भक्त जन (ऐहिक सुख तथा आमुष्मिक आत्मानन्द मे) स्थिर हो जाते हैं।'

(छ) 'तं त्वा गृणमि तव समतव्यान्।'[74]

''मैं निर्बल आप बलशाली का कीर्तन करता हूँ।'

व्याख्यान, प्रवचन, स्तव, सतोत्र–पाठ, कथा–ये सब कीर्तन के समकक्ष हैं। भक्ति के इस अंग में शुकदेव जी आदर्श हैं, जिनके एक सप्ताह के सत्संग से महाराज परीक्षित् का उद्धार हुआ था। कीर्तन की महिमा में पुराण का एक वचन है–

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।

पदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्।।

– सतयुग में प्राणायाम, प्रत्याहार आदि जटिल अंगों वाले ध्यान के अवलम्बन से जीव को सद्गति प्राप्त होती है, त्रेता युग में अग्निष्टोम, अतिरात्र आदि यज्ञों द्वारा भजन करने से जो सद्गति प्राप्त होती है एवं द्वापर युग में प्रचुरधन–साध्य मन्दिर निर्माण और मूर्तिस्थापन के अनन्तर नानाविध उपचारों द्वारा पूजा–अर्चा से जो सद्गति प्राप्त होती है, वही सद्गति कलियुग में श्री भगवान् केशव के नाम–गुण–कथा के कीर्तन से ही प्राप्त हो जाती हैं।

3. स्मरणः–

– प्रं विष्णवे शूषमेतु मन्म।'[75]

श्री विष्णुभगवान् के लिए मेरा मनन–स्मरण बल को प्राप्त हो–सबल हो जाय निरन्तर बना रहे।

भक्ति के इस अंग में प्रह्लाद जी आदर्श हैं जिन्होंने स्मरण के बल से बाल्य में ही श्री भगवान् का प्रत्यक्षदर्शन प्राप्त किया था। स्मरण की महिमा में पुराण का एक बचन है–

"गंगा स्नान सहस्त्रेषु पुष्कर स्नान कोटिषु।

यत् पापं विलयं याति स्मृतेर्नश्यति तद्धरौ।

जो गुरुतर पाप अनेकानेक बार गंगा में और पुष्कर में स्नान करने से नष्ट होता है, वह श्री भगवान के स्मरण से नष्ट हो जाता है।

4. <u>पादसेवनः–</u>

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्य क्षीयमाणा स्वधयामदन्ति।[76]

जिस भगवान् की माधुरी से ओतप्रोत एवं अपनी दिव्यशक्ति से अक्षम तीन चरण–चरणों के तीन विन्यास (भक्त, आश्रित, सेवकों) आनन्दित करते हैं।

भक्ति के इस अंग में श्री लक्ष्मी जी आदर्श हैं, जो नित्य श्री भगवान् के चरण कमलों की सेवा करती हैं। जिनका मकरन्द मंदाकिनी के रूप में प्रवाहित होकर त्रिभुवन के पापपाश को सर्वथा विच्छिन्न कर देता है उन दिव्य चरण कमलों की सेवा कौन न करना चाहेगा। तभी तो शास्त्र में श्री भगवान् के चरण–कमलों को "परमहंसमहामुनि नामान्वेषणीय" कहा गया है।

इ. <u>अर्चनः–</u>

'महे शूराय विष्णवे चार्चत'[77]

आप सब लोग महान एवं शूर वीर विष्णु भगवान् का अर्चन् कीजिए।

भक्ति के इस अंग में महाराजपृचु आदर्श हैं।

अर्चन की महिमा में पुराण का एक बचन है–

'विष्णोः सम्पूजनान्नित्यं सर्पपापं प्रणश्यति।'

भगवान् विष्णु की पूजा करने से सब पाप दूर हो जाते हैं।

6 वन्दन

(क) 'नमो रुचाय ब्रह्मये' [78]

'परब्रह्म परमात्मा के रोचक विग्रह को मैं प्रणाम करता हूँ।'

(ख) विष्णुपत्नीं क्षमां देवी माधवीं माधवप्रियाम्।

विष्णुप्रियां सखी देवी नमाम्यच्युत वल्लभाम्।। (श्री सूक्त)

अच्युत भगवान् विष्णु की पत्नी, प्रिय सखी बल्लभा, क्षमाशीला, माधवी भगवत्प्रिया श्री लक्ष्मी देवी की मैं वन्दना करता हूँ।

भक्ति के इस अंग में अक्रूर जी आदर्श हैं जिन्होंने भगवान् के चरण कमलों को प्रणाम करने की संभावना भाव से ही अपने जीवन को सफल समझा था एवं जो भगवान् श्री कृष्ण के चरणचिन्हो का दर्शन कर उनमें लौंटने लगे थे।

वन्दन की महिमा में महाभारत का एक वचन है–

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवास समच्युतम्।

ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम्।

'जो भक्त जन नीलवर्ण पीताम्बरधारी अच्युत गोविन्द की वन्दना करते हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता।''

7 दास्य

'महस्ते विष्णो सुमति' भजामहे'[79]

हे विष्णो। हम सब आपके अनुग्रह का दयादृष्टि का –भजनं करते हैं।

भजन का अर्थ सेवा है। जो सेवा करता है, वही सेवक किं वा दास है। अतएव भक्ति में दास्यभाव प्रधान है। अन्य सभी भावों में किसी न किसी अंश में सेवा का भाव अवश्य विद्यमान रहता है और फिर दास्य भाव तो सेवा ही सेवा है।

भक्ति के इस अंग में मारुतिनन्दन हनुमान जी आदर्श हैं, जो वीरगर्जन के साथ घोषणा करते हैं–

'दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।' (वा०रा०)

'मैं उन कोसलेन्द्र श्रीराम का दास हूँ जिनके कार्यकलाप लीला चरित्र– लोकाभिराम हैं।'

8. सख्यः–

(क) 'सह हि बन्धुरित्था'[80]

वे विष्णु भगवान् हमारे बन्धु हैं – सखा हैं'।

(ख) भवा मित्रो न शेव्यः' [81]

मैं विष्णु! आप मित्र के समान हितकारक होइये।

(ग) व्रजं च विष्णुः सखिवां अपोर्णुतु'[82]

सखाओं वाले श्रीविष्णुभगवान् ब्रज को आवरणरहित, संकट रहित कर देते हैं।

भक्ति के इस अंग में अर्जुन आदर्श हैं और इसी चिरंतन सख्यभाव का प्रतिपादन श्रुतिका –

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'

यह मन्त्र कर रहा है।

(9) <u>आत्म–निवेदन</u>

यः पूर्वाय वेधसे नवीयसे

सुमंज्जानये विष्णवे ददाशति। [83]

'जो जन पुराण पुरूष जगत्स्रष्टा नित्यनूतन, लक्ष्मीकान्त विष्णुभगवान को निवेदन करता है। 'यहाँ पर पत्र., पुष्प, धन जन के साथ आत्मा का भी निवेदन अभीष्ट है।

भक्ति के इस अंग में महाराज बलि आदर्श हैं।

जिन्होंने भगवान् त्रिविक्रम के चरणों में अपना सर्वस्व सहर्ष समर्पण कर दिया था। इसी को प्रपत्ति और शरणागति भी कहते हैं जिसके बारे में भगवान् की अपनी प्रतिज्ञा है–

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

अभयं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।[84]

तथा –

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। [85]

ऊपर जिस स्मरण का उल्लेख हुआ है, वही जब अविच्छिन्न और एकता न हो जाय तो ध्यान रूप में परिवर्तित हो जाता है। श्रवण भक्ति के प्रसंग

में जो मन्त्र भाग उधृत किया जा चुका है, उसका 'युज्य–पद' महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे ध्यान पर प्रकाश पड़ता है। श्री विष्णु को 'मुज्य' कहा गया है। यह शब्द 'युज् समाधौ' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है समाधेय–हृदयभवन में भवनीय–ध्येय– 'योगिभिर्ध्यानगम्यम्'।

ध्यान के आदर्श हैं– उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव, जिन्होंने वाल्यकाल में ही, नारद जी के सदुपदेश के प्रभाव से, ध्यान की ऐसी उच्चभूमिका प्राप्त कर ली थी कि उन्हें वैकुण्ठधाम से पधारे हुए, एवं सम्मुख विराजमान, अपने इष्टदेव का भी पता न चला।

<u>भक्ति का वैदिक स्वरूपः–</u>

कतिपय विद्वानों की दृष्टि में भक्ति को अवैदिक कहा गया, जो उचित नहीं है। क्योंकि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम धेयम्'' इस पारस्कर वचन के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेद हैं और ईशोपनिषद् को छोड़कर प्रायः सभी उपनिषदें ब्राह्मणग्रन्थों से संग्रहीत हैं। उन सभी उपनिषदों में प्रसंगानुसार भिन्न–स्थानों पर भक्ति का संकीर्तन उपलब्ध होने से उसका वैदिकत्व निर्वाध ही है। ज्ञान काण्डीय उपनिषदों में श्वेताश्वतर उपनिषद् को प्रधान रूप से माना गया है। उसके अन्तिम मन्त्र[86] में ज्ञान को भक्ति के अधीन कहा गया है। इस उक्ति से भी भक्ति का वैदिकत्व सिद्ध होता है। जैसे कि– जिसके हृदय में परमदिव्य् परमात्मा के प्रति परिभक्ति हैं तथा जितनी मात्रा में वह परमात्मा के प्रति है उसी प्रकार आचार्य में भक्ति है उसी महात्मा के हृदय में उपनिषद में कहे हुए ये अर्थ प्रकाशित होते हैं अर्थात् जिसके हृदय में गुरु एवं गोविन्द के चरणों में समान भक्ति है उसी के हृदय में उपनिषद के अर्थभासित होते है इस प्रकार भगवति ज्ञान काण्डीय श्रुति द्वारा भक्ति को ही ज्ञान प्रकाशक कहने से भक्ति के वैदिकत्व में सन्देह ही नहीं उपस्थित होता। उपासना काण्ड भक्ति मूलक है इसलिए मन्त्रभाग में भी भक्ति का वैदिकत्व सुरक्षित है। यहाँ पुनः प्रश्न हुआ कि

उपासना काण्ड में अनेक देवताओं (इन्द्रवरूणादि) की उपासना का वर्णन होने से उसमें भक्ति सिद्ध नहीं है। क्योंकि नारद जी और शाण्डिल्य जी के द्वारा एक मात्र ईश्वर में ही विशुद्ध प्रेम. को भक्ति रूप में प्रतिपादित किया गया है जैसे–कि ''ईश्वर में परम अनुराग ही भक्ति है। ''अनिर्वचनीय परमात्मा में परम प्रेम ही भक्ति का रूप है'' (ना0भ0सू0 2)'' निरन्तर सर्वभाव से चिन्ता रहित साधकों द्वारा एक मात्र भगवान् ही भजनीय है (ना0भ0सू0 79) इसी प्रकार समस्त श्रुतियों के तात्पर्य के रूप में मनन द्वारा परात्पर परमात्मा वेदान्त वेद्य परब्रह्म निश्चित किये जाते हैं। कुछ श्रुत्तियाँ प्रभु के अतिसमीप होने के कारण साक्षात् सम्बन्ध से भगवान् की महिमा के प्रतिपादन में विश्राम का अनुभव करती हैं। समस्तवेद पर ब्रह्मपद का मनन करते हैं।[87] इसलिए भक्ति का वैदिकत्व निर्विवाद है।

वेद के तीनों काण्ड भक्ति को ही अपना उपजीव्य मानते हैं अर्थात् उसी के आधार पर भगवान् के यश का वर्णन करते हैं। क्योंकि कर्मकाण्ड भी भगवत प्रेम लक्षणा भक्ति के बिना निरर्थक है। क्योंकि प्रेम के बिना कोई भी क्रिया भगवान को संतुष्ट नहीं कर सकती। इस संबंध में श्री पुष्यदन्ताचार्य का मननात्मक वाक्य– क्वकर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते'' स्मरणीय है। अर्थात् परमेश्वर की आराधना, उपासना भी भगवद् अनुरागलक्षणा भक्ति के बिना वासना को ही पैदा करती है। भगवद् भाव से वर्जित ज्ञान भी शोभा नहीं पाता, जैसा कि श्रीमद्भागवत् में नारद जी ने कहा है:–

नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्जितं न शोभतें ज्ञानमलं निरन्जनम्।

कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्।।[88]

भगवान् के भाव से रहित निर्लेप समस्तकर्मों का अभाव रूप अर्थात् ज्ञान भी अधिक शोभा नहीं पाता तो फिर कारण के बिना जबतक ईश्वर को अर्पित किया जाय तब तक निरन्तर दोषमुक्त कैसे शोभा प्राप्त कर सकेगा।

आचार्य प्रवर गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी उक्त भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है:–

सोसुख करम धरम जरि जाऊ। जँह न रामपद पंकज भाऊ
जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जँह नहिं राम प्रेम परधानू।।

भक्ति का स्वतन्त्र दर्शनः–

परमात्मा के साक्षात्कार के अन्तरंग साधन दर्शन हैं। जिसके द्वारा परमात्मा देखे जाते हैं वह दर्शन है। अब विचारणीय है कि भक्ति दर्शन है या नहीं। दार्शनिक प्रायः दृश् धातु को ज्ञानार्थक मानते है। अद्वैतवाद में ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ''इस श्रुति में द्रष्टव्य इस पद का ज्ञातव्य अर्थ की अवधारण की गई है। इस कारण से छहों दर्शनों में प्रयुक्त दर्शन शब्द ज्ञान साधनारूप अर्थ के वाचक के रूप में स्वीकारा जाता है। ''फिर भी – ''योगाद् रुदिर्वलीयसी'' इस सर्वानुभव सिद्ध नियम से के बल से दृश् धातु का नेत्र से देखना इस प्रथम अर्थ को स्वीकार करना उचित है। क्योंकि ''उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित की कल्पना में प्रमाण नहीं होता है'', इस नियम के अनुरोध से दृश् धातु का दर्शन रूप अर्थ ही प्रसिद्ध है। इसलिए यथा संभव दर्शन शब्द का देखना यही प्रथम अर्थ ही मानना चाहिए। गौण और मुख्य पक्ष की संभावना में मुख्य से ही कार्य की प्रतीति होती है'' इस न्याय से दृश् धातु का देखना मुख्य अर्थ है और ज्ञान गौण अर्थ होता है। किसी भी दर्शन में परमात्मा को नेत्र से देखने का विधान नहीं है। क्योंकि सभी दर्शन परमात्मा को निराकार मानते हैं। परन्तु भक्ति के द्वारा परमात्मा को नेत्रों से देखा जाता है और सभी भक्ताचार्यों ने शास्त्रीय प्रामाण्य एवं तार्किक युक्तियों के आधार पर भगवान के लोकोत्तर सौन्दर्य से सुशोभित, कोटि–कोटि कामदेवों के गर्व को चूर करने वाले नील कमल के समान श्यामल, सम्पूर्ण लोक के नेत्रों को आनन्द देने वाले रूप का मुक्तकण्ठ से

गान किया तथा उसे देखा।

छहों दर्शन ईश्वर के ज्ञान में सहायक हैं। सांख्यदर्शन प्रकृतिपुरूष के ज्ञान के माध्यम से मुक्ति के प्रतिपादन में ही सम्पन्न हो जाता है। योगदर्शन में निर्विकल्पक समाधि के वर्णन में विश्राम पाता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में पदार्थज्ञान ही मोक्ष का साधन है। पूर्वभीमांसा दर्शन वेदवाक्यों के वल से अदृष्ट अर्थात् कर्म निरुपण में पूर्ण हो जाता है। जब वहाँ का प्रतिपाद्य है ही अदृष्ट है, जो दिखाई नहीं पड़ता है तो फिर परमात्मां के दर्शन की क्या कथा?। वास्तव में तो उपर्युक्त सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक पूर्वमीमांसा ये पांचोदर्शन परमात्मा के ज्ञान में भी बहिरंग साधन ही हैं। परमात्मा के ज्ञान मं अन्तरंग साधन वेदान्तदर्शन है। इसी लिए वादरायण ने भी कहा "अथातोब्रह्म जिज्ञासां" अर्थात् पूर्वमीमांसा के अन्त में "ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए" गोस्वामी तुलसीदास जी ने "भगवान (परमात्मा) वेदान्त द्वारा जाने जाते हैं" इसी सिद्धान्त को मुक्त कंठ से स्वीकारा, "वेदान्त वेद्यं विभुम्[89] "अर्थात् परमात्मा वेदान्त से जाने तो जा सकते हैं, किन्तु प्राप्त किये जा सकते हैं भक्ति से ही।"

भगवती श्रुति भी यही निर्दिष्ट करती है कि भक्ति ही परमात्मा को जीव तक के जाती है। भक्ति ही परमात्मा को जीव के पास पहुँचाती है, क्योंकि परमात्मा भक्ति के वश में है। ज्ञान और भक्ति में यही अन्तर है कि परमात्मा और जीव के मध्यवर्ती आवरण को भंग करता है, किन्तु भक्ति तो परमात्मा को जीव के हृदय में वसा देती है। ज्ञानी परमात्मा को प्राप्त करता है, किन्तु भक्त को तो परमात्मा ही सनाथ कर देते हैं। ज्ञानी के लिए परमात्मा की निकटता सुलभ होती है, किन्तु भक्तों के समक्ष परमात्मा प्रकट हो जाते हैं। ज्ञानी के लिए परमात्मा दुर्लभ हैं, किन्तु भक्त के लिए सुलभ। इसलिए अन्य दर्शनों की अपेक्षा भक्ति में ही मुख्य दर्शनत्व है। क्योंकि भक्ति में मन सहित पांचों इन्द्रियों द्वारा सगुण साकार परमात्मा के प्रत्यक्ष विषयता का वर्णन उपलब्ध है। अन्य दर्शन तो

परमात्मा के मानस प्रत्यक्ष में ही विश्रान्त हो जाते हैं, किन्तु भक्ति तो वाणी तथा मन से परे परमात्मा को साक्षात् प्रकट कर देती है। इसलिए किसी भी दर्शन में भक्तिदर्शन का अन्तर्भाव संभव नहीं है। भक्ति का स्वतंत्र दर्शनत्व है।

भक्ति की परिभाषाः—

अखिल ब्रह्माण्ड व्यापी परमात्मा की सर्वतो भावेन सेवा करने की क्षमता अल्पज्ञ एवं असमर्थ मानव में संभव नहीं है। इसलिए महर्षि शाण्डिल्य ईश्वर में परानुरक्ति अर्थात् अपूर्व एवं प्रकृष्ट अनुराग रखने को ही भक्ति कहते हैं।[90] भक्त शिरोमणि नारद के मत में भगवान के प्रति परमप्रेम ही भक्ति है।[91] वह अमृत स्वरूपा है।[92] अपने समस्त कर्मो को भगवान को समर्पित करना और उसका थोड़ा सा भी विस्मरण होने पर परम व्याकुल होना ही भक्ति है।[93] उनकी दृष्टि में भक्ति के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह स्वयं प्रमाणरूपा है।[94] वह शान्तिरूपा है और परमानन्दरूपा है।[95]

भगवत्पाद श्री शंकराचार्य ने "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इस ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में कहा है कि परमेश्वर की निरन्तर उत्कण्ठा युक्त स्मृति को ही भक्ति कहते है।[96] "अथातोब्रह्म–जिज्ञासा[97] इस सूत्र की व्याख्या करते हुए श्रीरामानुजाचार्य भी परमात्मा की निरन्तर स्मृति को ही भक्ति माना है। श्री मध्ुसूदन सरस्वती के मतानुसार भागवत् धर्म सेवन से द्रवीभूत चित्त की सर्वेश्वर के प्रति जो अविच्छिन्न वृत्ति है, उसे ही भक्ति कहते हैं।[98]

धर्म सम्राट अनन्त श्री विभूषित स्वामी करपात्री जी के मत में भक्ति का अर्थ मूर्ति पूजा ही नहीं है श्रवण पठन ध्यान आदि भी भक्ति है। वस्तुतः भगवद्गुण गण श्रवणजनित द्रवीभूत अन्तःकरण की भगवदाकाराकारित वृत्ति ही भक्ति है।

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।

मनोगतिरविछिन्ना यथा गंगाम्भसोऽन्बुधौ।।''[99]

जैसे समुद्र की ओर द्रवीभूत निर्मल परम पवित्र गंगा का अविच्छिन्न प्रवाह प्रवाहित होता है इसी तरह सर्वगुहाशयी भगवान् की ओर निर्मल द्रवीभूत अन्तःकरण की अविच्छिन्न वृत्ति ही भक्ति है।

भारतीय भक्ति का इतिहास अति प्राचीन काल से वेदों में ही वर्णित है।

मुमुक्षुवै शरणमहं प्रपद्ये।'' ''यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।''[100] प्रपत्ति भक्ति तथा शरणागति शब्द एक ही वस्तु के बोधक हैं। निर्गुण निराकार ब्रह्म, सगुण निराकार ब्रह्म तथा सगुण साकार ब्रह्म की भी भक्ति वेदों में वर्णित है। वेदों और उपनिषदों में उपासना एवं तत्वज्ञान का ही प्राधान्येन वर्णन है। ब्रह्मसूत्रों में भी उपासना और तत्त्वज्ञान की दृष्टि से ही ब्रह्म का विचार प्रस्तुत हुआ है। दर्शन, वेदन, ज्ञान आदि शब्दों का उपासना के प्रसंग में उपासना ही अर्थ है। यह शंकर, रामानुज, निम्वार्क मध्व तथा वल्लभ सभी को मान्य है। यह उपासना भी भक्ति है।

श्री रामानुजाचार्य ने ध्रुवा स्मृति को भक्ति माना है। श्रवण क्रीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन तथा पुर्णानुरक्ति आदि सभी प्रकार की भक्तियां वेदों में वर्णित हैं।

''सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्।''

''त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्चं राघवं शरणं गतः।।''[101]

''सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतंमम।।''[102]

गीता में भी भक्ति और शरणागति का अनेकशः उल्लेख है। उसमें

स्वयं भगवान् द्वारा ईश्वर (शिव) की शरणागति का उल्लेख है–

''तमेवशरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां शान्तिस्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।''

भक्ति शब्द का भक्ति धारणापरक व्युत्पत्ति लम्य अर्थः–

यहाँ विचारणीय है कि भक्ति का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ क्या हो सकता है, जिससे आचार्यों कीभक्तिपरक धारणा प्रतिष्ठापित हो सके। भजन ही भक्ति है इस पक्ष में– भज् सेवायाम् इस धातु से स्त्रीलिंग की विवक्षा में 'स्त्रियां वितन्''[103] इस पाणिनीय सूत्र से भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय हुआ। 'चोह कुः।[104] इस सूत्र से जकार को गकार करके चर्त्व प्रक्रिया से भक्ति शब्द सिद्ध होता है। यह भक्ति साध्यलक्षणा है, जो शाडिल्य के मत में परम अनुरक्ति रूप, तथा नारद के मत में परम प्रेम रूपा स्वीकारी गयी है।

यदि कहा जाय कि भाव अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय का विधान करने पर भक्ति शब्द में शक्ति की कल्पना कैसे संभव है, क्योंकि भाव गुण है, पदार्थ नहीं। ऐसा नहीं कहा जा सकता। भक्ति शब्द से स्त्रीलिंग में भाव प्रत्यय किया गया है और शक्ति भी स्त्रीलिंग वाची है अतः भक्ति शब्द में शक्ति की कल्पना सुसंगत है। जिसके द्वारा भगवान् का भजन किया जाता है वह भक्ति है, इस व्युत्पत्ति में करण अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय होगा, इस करण व्युत्पत्ति के आधार पर भक्ति शब्द साधनाभक्ति का बोधक है।

यही भक्ति नौ प्रकारों से युक्त होकर नवधा भक्ति के रूप में कही जाती है। जैसे कि श्रवण, कीर्तन, स्मरण पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य आत्मनिवेदन इन नामों से यह प्रसिद्ध है, इसी प्रकार भागवत में भी वर्णन है।''

''श्रवणं, कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।[105]

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

श्रीमद् भागवत में नवधभक्ति के उदाहरण भी मिलते हैं।

जैसे श्री कृष्ण के श्रवण भक्ति में परीक्षित, कीर्तन में शुक्राचार्य, स्मरण में प्रहलाद, पादसेवन में लक्ष्मी, पूजन में राजा पृथु, वंदन में अक्रूर, दास्य में हनुमान सख्य में अर्जुन एवं आत्मनिवेदन में राजा बलि उदाहरण रूप में प्रसिद्ध हुए है।[106]

यदि कहा जाय कि भक्ति के दो भेदों में क्या प्रमाण है? तो इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि भागवत का ही प्रमाण देख लेना चाहिए जैसा कि श्री भागवत के एकादश स्कन्ध में नौ योगेश्वर कहते हैं:–

भगवान् के भक्त परस्पर समस्त पापों के नष्ट करने वाले श्री हरि का स्मरण करते हुए और दूसरों को स्मरण कराते हुए भक्ति के द्वारा सम्यक् उत्पन्न भक्ति से रोमांचपूर्ण शरीर को धारण करते हैं, इसी प्रकार वहाँ भक्ति से उत्पन्न भक्ति द्वारा यह उचित ही भक्ति के दो भेदों को सिद्ध कर देती है, साधनभूत भक्ति से उत्पन्न साध्यरूप प्रेमलक्षणा भक्ति द्वारा यही इस उक्ति का अर्थ है। साधनभक्ति के ही नौ प्रकार है, कहीं पर दशभेद कहीं पर ग्यारह भेंद तो कहीं पर चौदह भेद भी कहे गये हैं। भजन सेवन को कहते हैं, वह रस का अनुभव है और वही भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम का आस्वादन है। "भज्सेवायाम् इस धातु से पाणिनी भी संकेत कर रहे हैं। प्रत्येक शब्द में अर्थ का भेद हो जाता है, इस नियम से सेवा और भजन में कितना अन्तर है, उसे कहना ही होगा। सेवा जिस किसी प्रकार से की जा सकती है, सेवक वैतनिक भी हो सकता है वह जीविका के लोभ से भी सेवा करता है किन्तु भक्त वैतनिक नहीं होता, सेवा में सेव्य का संतोष अनिवार्य नहीं है किन्तु भजन में सेव्य की संतुष्टि अनिवार्य है।

जैसे कि भक्त हरि को भजता है इस वाक्य में[83] "कर्तुरीप्सिततमं

कर्म'' [107] इस सूत्र से 'हरिम्' यहाँ पर कर्मकारक होता है क्योंकि भक्त रूप कर्ता का वही अधिक दृष्ट है वहाँ प्रकृतधातु से प्राप्तकर्ता में रहने वाले व्यापार से प्रेरित फल का आश्रयत्व ही जिसमें विशेषण है, ऐसी इच्छा से निरुपित उद्देश्यता का आश्रयत्व ही इष्टतमत्व है। इसे यहाँ इस प्रकार घटाना चाहिए कि प्रस्तुत 'भज्' धातु के प्रधानकर्ता भक्त की भजन के अनुकूल व्यापार से प्रेरित फलाश्रयत्व विशेषण से युक्त जो इच्छा है जिसका यह आकार है कि मेरे द्वारा किये हुए भजन से भगवान् संतुष्ट हो जाय उससे निरूपित उद्देश्यता का आश्रयत्व हरि में ही है। इसीलिए रामानुजीय सिद्धान्त में प्रीतिपूर्वक भगवत् स्मरण को ही भक्ति कहा जाता है, श्री आद्यशंकराचार्य जी ने विवेक चूड़ामणि में जो कहा है कि अपने स्वरूप का चिंतन ही भक्ति है वह सिद्धान्त सेवार्थ 'भज्' धातु के अर्थ से विरूद्ध होने के कारण संगत नहीं है। अनुसंधान सेवा का पर्याय नहीं है। अपने स्वरूप का भजन नहीं किया जाता, सेवा सेवायोग्य किसी दूसरे की होती है। उससे भी किसी आकारवान् की ही सेवा की जा सकती है। अपने स्वरूप का आकार प्रसिद्ध नहीं है। यद्यपि जीवात्मा का भी अस्मदादि शरीर रूप आकार दिखता है परन्तु क्षणभंगुर है, वह छिति, जल, पावक, गगन समीर इन पांच महाभूतों से निर्मित है, सर्वथा असमर्थ है। इसलिए जीवात्मा के इस पंचभौतिक शरीर आकार में भजन की योग्यता ही नहीं है। वहाँ भजन तो विकाररहित दिव्य शरीर से मुक्त सम्पूर्ण लावण्य रूपमहिमा से मण्ड़ित सर्वव्यापी भगवान् का ही हो सकता है। श्री शंकराचार्य जी ने स्वरूपानुसंधान को किस प्रमाण से 'भज्' धातु का अर्थ निश्चित किया यह तो वे ही जाने। हम तो भक्तों के भवन्धन दूर करने वाले कौशल्यानन्दवर्धन, भक्तों की आकांक्षा पूर्ति के लिए कल्पतरू के समान कौशलेन्द्र श्री दशरथ जी के ज्येष्ठ कुमार 'श्री सीता जी के मन को रमाने वाले, वात्सल्य के महारसागार सम्पूर्ण देवता, मुनियों के लिए दुर्लभ, परमप्रेम के महासमुद्र भगवान् श्री राम के आनुकूल्य पूर्वक नवीन कमलचरणों के संलालन के साथ उनका होकर तैलधारावत् अविछिन्न प्रवाह वाले नाम, रूप लीला, धाम

स्मरण को ही भजन पदार्थ के रूप में निश्चय पूर्वक स्वीकार करते हैं। सेवक और भक्त के बीच में इतना ही भेद है कि सेवक स्वामी से कुछ चाहकर सेवा करता है तथा भक्त बिना किसी अपेक्षा के सेवा करता है। जैसा कि प्रहलाद कहते है।[108] श्री प्रहलाद नृसिंह देव से निवेदन करते हैं, हे प्रभो वह सेवक नहीं जो स्वामी से फल की अपेक्षा करके सेवा करता है, तथा वह स्वामी भी नहीं जो कि सेवक को उसकी सेवा के अनुरूप ही फल देता है, मैं आपका निष्काम भक्त हूँ, तथा आप भी मेरे नित्य आश्रयदाता स्वामी हैं। इस लिए मेरे आपके बीच राजासेवक जैसा कोई लेनदेन का स्वार्थ मूलक सम्बन्ध नहीं है। यहाँ प्रहलाद का यह हार्द है कि जो कोई भक्त कुछ चाह कर स्वामी की सेवा करता है, वह भक्त नहीं और जो सेवा के अनुरूप ही देता है वह स्वामी नहीं है वे दोनों वणिक हैं। वहाँ सेव्य सेवक भाव नहीं है, प्रत्युत वहाँ व्यापार है। मैं किसी अपेक्षा के बिना किये भजन करता हूँ, और आप नित्यआश्रय देने वाले स्वामी हैं। इसलिए हमदोनों का संबंध राजा और सेवक की भांति स्वार्थमूलक नहीं है। सेवक निकाला जाता है दण्डित भी किया जाता है किन्तु भक्त का न निष्कासन होता है न ही दण्डित किया जाता है।

श्रीगीता जी में भगवान् भी कह रहे हैं।[109] हे कुन्ती पुत्र। यह तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरा वासुदेव कृष्ण का भक्त कभी नष्ट नहीं होगा, जो कि श्री हरिभक्तिरसामृत सिन्धु में श्रीरूपगोस्वामिचरण द्वारा आनुकूल्यपूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण का अनुशीलन् ही उत्तमा भक्ति है। इस प्रकार कहा गया है। वह भी विचार को सह्य नहीं है, क्योंकि उनका यह लक्षण साधन भक्ति में सम्पूर्ण रूप से न घटने के कारण अव्याप्तिदोष से ग्रस्त है। वस्तुतस्तु भगवान् की प्रीति में अंतरंग साधन होकर भगवान् की प्रीति के अनुकूल व्यापार विशेष ही भक्तिपद का अर्थ है, यहाँ दूसरी भी व्युत्पत्ति प्रर्दशित की जा रही है। जिसके द्वारा रागद्वेषादि विकारों का भन्जन अर्थात् पूर्णतया कुचलकर विनाश कर दिया जाता है वही

भक्ति है। अर्थात् भन्जन यानि रागद्वेष के आमर्दन को ही भक्ति कहते हैं। इस प्रकार "भंन्जयन्ते यया सा भक्तिः" इस साधन मूलक करण व्युत्पत्ति से "भन्जनं भक्तिः" इस साध्यमूलक भाव व्युत्पत्ति से 'भज्जो' धातु से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'क्तिन्' प्रत्यय करके "अनिक्षितां हल–उपधायाः विड.ति" इस सूत्र से भन्ज के नकार का लोप करके जकार को गकार पुनः चर्त्वेन ककार आदेश करके भक्ति शब्द की निष्पत्ति की जाती है। भक्ति के द्वारा निश्चित रूप से रागद्वेषादि विकार पूर्णतया कुचल दिये जाते हैं। जैसा कि श्रीभद्भागवत में भगवान् कपिल ने कहा है–

2. अर्थ धर्म काम मोक्ष आदि किसी भी निमित्त के बिना की गई परमेश्वर की भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ है जिस प्रकार उदरस्थ जठराग्नि, भोजन किये हुए अन्न को पचा देती है उसी प्रकार भक्त हृदयस्थ अहैतुकी भक्ति साधक के अन्नमय मनोमय प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय इन पांच कोषों को समाप्त कर देती है।"[111]

ज्ञान से तो पंचकोषों का विलम्ब से नाश होता है किन्तु भक्ति से शीघ्र ही पांचों कोष नष्ट हो जाते हैं, जो पंचदशीकार ने "भक्ति के लिए कल्पित द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर है भजन के लिए द्वैत उपयोगी है" इत्यादि वाक्यों की प्रजल्पना की है वह सब प्रलाप ही है। क्योंकि नित्य अद्वैत रूप ब्रह्म में द्वैत की कल्पना ही संभव नहीं जीव और ब्रह्म का अद्वैत भी असंभव है एक ओर भाव में अद्वैत की कल्पना और पुनः व्यवहार में द्वैतवाद की व्यवस्था इस प्रकार दुहरा मापदण्ड अर्धजरतीय न्याय से सर्वथा अनुचित और अस्वाभाविक है।

जीव ब्रह्म का स्वरूप से एकत्व संभव नहीं है। अब आशंका होती है कि "ब्रह्मविद् ब्रह्मैवभवति अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म और जीव में एकत्व का प्रतिपादन तो कर ही दिया गया। तब उत्तर हुआ ऐसा न कहिये। 'ब्रह्मैव' यहाँ पर 'ब्रह्मणेएव' अर्थात् ब्रह्म को जानने

वाला ब्रह्म के लिए हो जाता है। इस व्युत्पत्ति से पूर्वोक्त दोष का परिहार हो जाता है।

वहाँ सुपांसुलुक''[112] इस सूत्र से 'ब्रह्मणे' इस शब्द में प्रभुक्त 'ङे.' विभक्ति का लोप होने पर ब्रह्मन् घटक नकार का लोप तथा 'ब्रह्मएवं' इस विग्रह में 'ऐ' वृद्धि करके 'ब्रह्मैव' शब्द की निष्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' यहाँ पर भी 'अहं ब्रह्मणेऽस्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्म के लिये हूँ, इसी प्रकार की व्युत्पत्ति समझना चाहिए। यहाँ पर भी 'अहं ब्रह्मणेऽस्मि' इस प्रकार विग्रह करके पहले की भाँति चतर्थी विभक्ति का लोप नकार लोप तथा दीर्घ करके 'ब्रह्मास्मि' की सिद्धि कर लेनी चाहिये। 'भन्जो' धातु से निष्पन्न भक्ति शब्द के अनुरोध से उसी धातु से यदि भक्त शब्द का निष्पादन किया जाएगा तो 'ओदितश्च' इस सूत्र से तकार को नकार हो जाएगा तथा भक्ति के स्थान पर भक्त ऐसा प्रयोग होगा। इसमें व्याकरण दोष की शंका नहीं करनी चाहिये। वहाँ 'क्त' प्रव्यय के बिना भी 'भन्जो' धातु से निष्पन्न भक्ति शब्द से 'भक्तिः अस्ति अस्य' इस प्रकार विग्रह करके भक्तिमान् इस अर्थ में अर्षादित्वात् अच् प्रत्यय करके भ संज्ञा तथा इकार का लोप करके भक्त शब्द की निष्पत्ति करने पर उक्त दोष का निवारण हो सकता है। यद्यपि 'भज्' धातु से ही भक्ति शब्द के निष्पादन में मेरा हार्द है। याने 'भजन भक्तिः' 'भज्यते भगवान यया सा भक्तिः' इस प्रकार सेवार्थक 'भज्' धातु से ही भक्ति शब्द की सिद्धि मुझे स्वारसिक प्रतीत होती है।

ज्ञान–कर्म–योग और भक्तिः–

नारद भक्ति सूत्र के प्रथम अध्याय में प्रेम लक्षणा भक्ति का स्वरूप व तटस्थ विधि से भक्ति का लक्षण बताया गया है और वहीं कहा गया है कि वह भक्ति निरोध रूप होने के कारण भगवान से कोई भी कामना नहीं करती। द्वितीय अध्याय में भगवती भक्ति को ज्ञान कर्म तथा योग इन तीनों से भी श्रेष्ठ निरूपित किया गया है।[113]

कर्म पद से काम्य तथा निषिद्ध से वर्णित नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्त एवं उपासना रूप वेद प्रतिपाद्य कर्म का ही ग्रहण करना चाहिए। अन्य को नहीं। ''ज्ञान'' पद आत्मा एवं अनात्मा के विषय का विवेचन रूप अर्थ बोधक है और योग में समबुद्धि रखना अभिप्रेत है। यही बात गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहीं है। नारद ने यहाँ विनिश्चय किया कि कर्म ज्ञान योग की अपेक्षा भी भक्ति श्रेष्ठ है।

कर्म से भक्ति इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि कर्म में विधि निषेध नियम परिसंख्या आदि की अपेक्षा होती है और भक्ति में सम्पूर्ण नियमों से निरपेक्ष एकमात्र भगवदीय प्रेम की ही अपेक्षा होती है। श्रुति के अनुसार कर्म से अर्जित लोग विनाशशाली होते है तथा भक्तिमान् का कभी विनाश नहीं होता। इस दृष्टि से भी कर्म से भक्ति श्रेष्ठ है। श्रुति स्पष्ट कहती है, कि कर्म से अर्जित लोक नष्ट हो जाते है। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरा भक्त नष्ट नही होता। कर्म अनित्य होते है तथा भक्ति परमात्म रूप होने से नित्य होती है। इस दृष्टि से भी कर्म से भक्ति श्रेष्ठ है। कर्मो में हवनीय द्रव्य जैसे गोघृत श्रुवा, अग्नि वेद की शिखा तथा माला, जटा, रेखा ध्वज, दंड, रथ धन इन आठों विकृतियों तथा संहिता पद एवं क्रम तीनों प्रकृतियों, उदात्त अनुदात्त, स्वरित ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, प्रचयानुचय इन सात स्वरों की उपस्थिति की अपेक्षा होती है, किन्तु भक्ति में सर्वसुलभ भगवत प्रेम चित्त की पवित्रता, नेत्रों से अश्रुपात रोमांच आदि सात्विक भावों की अपेक्षा होती है। कर्मों में चातुरवर्ण ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र, ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य वानप्रस्थ एवं सन्यास इन चारों आश्रमों की मर्यादा का पालन तथा इन वर्णाश्रमों के अनुसार प्राप्त अधिकार की अपेक्षा होती है। विशेषरूप से द्विजातीय ही वैदिक कर्मो में अधिकृत होते हैं। परन्तु भक्ति में गज, गणिका वानर भालू जटायु शबरी निषाद विदुर कुवजा आदि कोटि–कोटि पतित अधिकृत हैं इसलिए कर्म की अपेक्षा भक्ति की सुस्पष्ट श्रेष्ठता है। इस प्रकार भक्ति ज्ञान से भी श्रेष्ठ

है। क्योंकि ज्ञान में तत्वमसि आदि महाकाव्यों का अनुसंधान, नित्यानित्य, वस्तुविवेक ऐहलौकिक, पारलौकिक पदार्थों से वैराग्य, शम दम तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान इन शंमादि साधनों, मोक्षेच्छा आदि साधन चतुष्टय के समाधान की गुरुपसत्ति तथा शास्त्र चिन्तन आदि द्रविण प्राणायामों की अपेक्षा होती है। ज्ञान निरालम्ब होता है। ज्ञान में नीरसता होने के कारण ज्ञानी को माया रूपी सर्पिणी के डसने की आशंका बनी रहती है। परन्तु भक्ति में निष्किंचन् वृत्ति की अपेक्षा के कारण और भगवान् की अनुकूलता होने से उन्हीं के द्वारा भक्ति के सभी भजन वाधक विघ्न नष्ट कर दिये जाते हैं। भक्ति में निष्किंचना वृत्ति एवं भगवान की अनुकूलता होती है। इसलिए भगवान के द्वारा ही भक्त के भजन प्रत्यवाय नष्ट कर दिये जाते है। भक्ति स्वयं स्त्री है, अतः यह माया से आकर्षित नहीं हो सकती और भक्त में भगवान् के दर्शन की सुलभता होती है, इसलिए भी भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। क्योंकि भक्ति में भगवान् श्रीराम एवं भगवान् श्री कृष्ण की कृपारूपिणी कादम्बिनी का सम्बल स्वीकृत होता है। इसलिए यहाँ किसी भी विकार का आगमन संभव नहीं हो पाता। ज्ञान एवं भक्ति की घृतदीप तथा मणिदीप से उपमा दी गयी है। जिस प्रकार मणिदीप की अपेक्षा घृतदीप में स्थायित्व नहीं रहता, यह बात सर्वविदित है। उसी प्रकार भक्ति की अपेक्षा ज्ञान का अस्थायित्व भी सर्वविदित है। घृतदीप कृत्रिम है और मणिदीप स्वभाविक होता है। इसी प्रकार और भी समझ लेना चाहिए। इसलिए योग से भी भक्ति श्रेष्ठ है।

योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान, धारणा और समाधि इन अष्टांगों की अपेक्षा होती है और भक्ति में केवल प्रेम की अपेक्षा होती है। योग को समर्थ योग शिक्षा से सम्पन्न आहार विहार में संयम करने वाले योगिवर्य ही साधने में समर्थ हो पाते हैं। किन्तु भक्ति में तो जटायु शबरी, प्रभृति योग शून्य भक्तों को, बानर भालू आदि आहार बिहार के नियंत्रण से शून्य

भागवतों को कोल, किरात वनचर प्रभृति ब्रह्मचर्य शून्यों को एवं सुग्रीव आदि पतित आचरण वालों को भी पूर्ण प्रवेश मिलता है। इसलिए उसका श्रेष्ट होना स्वाभाविक है।

योग बाहरी तथा भीतरी दोनों साधनों की अपेक्षा करता है। और भक्ति तो सम्पूर्ण साधनों से निरपेक्ष होती हुई एकमात्र दैन्य मूलक भगवत् कृपा की अपेक्षा करती है। योग में क्षिप्त आदि पांच वृत्तियों का निरोध अनिवार्य होता है, किन्तु भक्ति में इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। योग में जीव के पुरुषार्थ की अपेक्षा होती है, किन्तु भक्ति में एक मात्र सर्वेश्वर भगवान की करुणा की अपेक्षा होती है। योग में सिद्धियाँ उपस्थित होकर योगी को योग से विरत कर देती हैं और बुद्धि को लोभग्रस्त करके उसे अध, पतित कर देती हैं। यह सब योग सूत्र में स्पष्ट रूप से प्रपंचित है। किन्तु भक्ति में साधक को कोई भी सिद्धि प्रभावित नहीं कर पाती। इसलिए कि भक्त साधक के समक्ष सम्पूर्ण सिद्धियों के पति सर्वेश्वर भगवान बार बार उपस्थित होते रहते हैं। भक्त लोग तो भगवद् भक्ति की महिमा से मोक्ष पर्यन्त सभी सिद्धियों का अनादर कर देते हैं। जैसाकि असुर योनि में जन्मा वृत्रासुर भी श्रीमद्भागवत[114] में कहता है कि ''हे सकल सौभाग्य निधे प्रभो। आपके श्रीचरणों को छोड़कर मैं न ही स्वर्ग चाहता हूँ और न ही पृथ्वी का साम्राज्य। न ही मुझे योग की सिद्धियां चाहिए और न ही मोक्ष। मुझे पाताल का वैभव भी नहीं चाहिए। मुझे तो एक मात्र आपके चरण कमलों का सानिध्य चाहिए।

इसी प्रकार रामचरित मानस में भी श्रीभरत की चित्रकूट यात्रा के संदर्भ में यही तत्त्व स्पष्ट किया गया है। महर्षि भरद्वाज द्वारा उपस्थित की गयी देव दुर्लभ योग सिद्धियाँ श्रीभरत को नहीं लुभा सकीं। इस तथ्य को भक्त शिरोमणि सन्त तुलसी दास जी ने सुस्पष्ट किया है।:–

संपति चकई भरत चक मुनि आयस खेलवार।

तेहि निसि आश्रम पिंजरा राखे भा भिनुसार।।[115]

तथा और भी–धरम न अरथ न काम रूचि पद न चरूडे निर्पान

जनम जनम पुनि राम पद यह वरदान न आन।।

योग में विघ्न का प्राचुर्य है, किन्तु भक्ति में राजमार्ग की भांति निर्विध्नता। योग में पतन होने पर सर्वनाश हो जाता है और भक्ति में तो पतित पावन परमात्मा पालन होने के कारण पतन सम्भव ही नहीं है। जैसा कि गीता में कहा हैः–

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य जायते महतो भयात्।।[116]

अर्थात् हे अर्जुन यहाँ बीज का नाश नहीं होता है और किसी प्रकार का विघ्न नहीं आता है। इस भक्ति रूप धर्म का थोड़ा सा भी अंश महान् भय से त्राण देता है।

इसका निष्कर्ष यह है कि भिन्न भिन्न क्रियाओं की अपेक्षा करने के कारण कर्म, ज्ञान एवं योग की अपेक्षा एक मात्र भगवत्कृपा की अपेक्षा करने वाली भक्ति ही श्रेष्ठ है। इसके बिना कर्म, ज्ञान एवं योग की स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यही श्री देवर्षि नारद का हार्द है। जैसा कि श्रीमद्भागवत्[117] में भी कहा गया हैः– ''भगवान् के भाव से शून्य सम्पूर्ण कर्मों से रहित बन्धन मुक्त ज्ञान भी अधिक शोभित नहीं होता, तो स्वार्थरहित परमात्मा के श्री चरण कमल में समर्पित किये बिना सदैव कल्याण से रहित कर्म की शोभा कैसे होगी। अर्थात् परमेश्वर का भाव ज्ञान का श्रृंगार है तथा भगवत समर्पण कर्म का अलंकार है।''

वस्तुतः कर्मों का कर्मत्व, ज्ञान की ज्ञानता और योग का योगत्व ये

सब भगवती भक्ति के अधीन है। क्योंकि इन कर्म ज्ञान योगों का साधनों के द्वारा पाना संभव है। इसलिए इन्हें साधन साध्य कहा जाता है। परन्तु भक्ति किसी साधन से नहीं मिलती। वह तो भगवान की अहैतुकी कृपा से ही प्राप्त होती है। इसलिए वह कर्म, ज्ञान, योग से श्रेष्ठ है। अतएव श्रीभद्भगवतद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं इसका स्पष्ट रूप से निरूपण करते हुए कहा है–

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।

अहं त्वां सर्व पापेम्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।।[118]

ज्ञान कर्म योग की फलरूपा भक्तिः–

भक्ति पूर्वोक्त कर्म ज्ञान योग इन तीनों का फल रूप है।[119] इसी लिए श्रेष्ठ है। चूँकि भक्ति में फल रूपता विद्यमान है। फलशब्द का यहाँ लक्ष्य से तात्पर्य है। श्रुति सिद्ध विशिष्ट मार्ग का फल (लक्ष्य पर ब्रह्म पद) ही स्वरूप है। वही फल रूप है। भक्ति समस्त भगवत् प्राप्त साधनों की फलरूप है। समस्त वेद जिस पद का मनन करते हैं।[120] क्योंकि वेद विहित नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त, उपासना, सन्ध्यावन्दन, तर्पण, पार्वणस्नान, चान्द्रायणादि, श्रौत, और स्मार्त विधेय कर्म का फल है भलों का अंत्यन्ताभाव। जैसा कि गीता भी कहती है[121] कि "वैदिक रीति से किये हुए कर्म का फल बड़ा ही सात्त्विक और निर्मल हुआ करता है। वह भक्ति से भी सुलभ है। अर्थात् भक्ति द्वारा भी मलों का विनाश हो जाता है। वास्तव में कर्मों द्वारा सदा–सदा– के लिए मलों की निवृत्ति नहीं की जा सकती। अनिश्चित् वस्तु से निश्चित् पदार्थों की प्राप्ति नहीं होती।

श्रुति भी कहती है[122] कि "इस संसार सागर के लिए यज्ञ रूपी जहाज बहुत ही शक्तिहीन है। इसलिए भक्ति ही प्राणी के मनोबल को सदा सदा के लिए नष्ट कर देती है और कभी भी मन में उनके प्रवेश की अनुज्ञा नहीं देती। भागवत में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि "हे उद्धव। आस्तिक बुद्धि से युक्त

अनन्य भक्ति द्वारा ही सज्जनों का प्रिय परमात्मतत्त्व मैं वासुदेव सरलता से ग्रहण किया जा सकता हूँ। मुझमें निष्ठा प्रदान करने वाली भक्ति ही जन्म से चाण्डाली को भी पावन बना देती है। अथवा चाण्डालों को भी संसार सागर से निकाल कर पवित्र कर देती है।''[123]

इस प्रकार जन्म से ही चाण्डाल योनि को प्राप्त हुये प्राणी को भक्ति ही पवित्र करती है। कर्मों के द्वारा कर्म के परिणाम रूप शरीर का विनाश नहीं हो सकता। जैसे मल के द्वारा मल नहीं धोया जा सकता। उसके लिए तो जल की ही अपेक्षा होती है। उसी प्रकार भक्ति रूप गंगा की विमल जल धारा के बिना ब्रह्मा भी जीव के आभ्यान्तर मल को नष्ट नहीं कर सकते जैसा कि श्री मानसकार कहते हैं–

छूटई मल कि मलहि के धोएँ। धृत कि पाव कोई बारि बिलोएँ।।

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।।[124]

इस लिए समस्त कर्मो का भगवत् समर्पण ही फल है और वह भक्ति के उत्पन्न होने पर ही उजागर होता है। इस प्रकार ज्ञान का फल है भगवत् विषयक ज्ञान। वह भी भक्ति से ही सुलभ है। भगवान् भी कहते हैं कि जीव मुझे भक्ति से ही जान सकता है।[125] भगवत्कृपा से ज्ञानी व्यक्ति को भगवान् का सारूप्य प्राप्त होता है। जैसे–जटायु प्राप्त हो गया था। अहो आश्चर्य है, भगवत्सारूप्य तथा समत्व लक्षण योग को प्राप्त करके भी जीव भगवत्भक्ति के बिना कृतार्थ नहीं होता है। चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग का फल है। वह योग के बिना भक्ति से भी संभव हो जाता है, योग में तो साधन से चित्त के वृत्तियों को रोका जाता है। भक्ति में तो स्वभाव से ही चित्त वृत्ति परमेश्वर में निरुद्ध हो जाती है। इस प्रकार भगवान् ने ही भक्ति को समस्त साधन का फल कह दिया है। वस्तुतः संयमादि साधन पुष्प है, ज्ञान फल है एवं उस ज्ञान रूप

फल का रस है श्री राधव के चरण–कमल की भक्ति। जैसा कि हुलसी हर्ष वर्धन श्री तुलसीदास महाराज जी मानस में कहते हैं–

सभ जम नियम फूल फल ग्याना। हरिपद रति रस वेद बखाना।[127]

ज्ञान भी परम लक्ष्य ब्रह्म को दिखा कर शान्त हो जाता है। किन्तु भक्ति उस परिस्थिति में भी रहती है। कारण यह ज्ञान में ज्ञाता–ज्ञेय एवं ज्ञान का एकीकरण रहता है। वास्तव में साधन और साध्य भेद से दो प्रकारों में विभक्त इस सम्पुटीभूत भक्ति के अन्तर्गत शालग्राम की भॉति श्रीराम ही रमते हैं। यह साधन रूप में पूर्व सम्पुट तथा साध्य रूप में उत्तर सम्पुट की भूमिका निभाती है। यही भक्ति व्यवहार में प्रेम भक्ति कही जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण शास्त्रों के तात्पर्य रूप भगवत् प्राप्ति के पश्चात् भी अत्यन्त अपेक्षित होने के कारण भगवद् प्राप्ति के फल के रूप में भी भगवत् भक्ति ही सिद्धान्ततः स्वीकृत है।

रामचरित मानस में भक्ति के स्वरूप का विमर्शः–

गोस्वामी तुलसीदास जी राम भक्ति परम्परा के महान् आचार्य थे जिन्होंने भक्ति श्रृंखला को केवल बनाये नहीं रक्खा अपितु युग–युगान्तर तक अपने रामचरित मानस को व्यक्ति का उज्ज्वल सम्बल और आधार स्तम्भ भी बना दिया राम भक्ति की श्रेष्ठता का आधार ग्रन्थ राम चरित मानस वस्तुतः सभी दृष्टियों से सर्वोत्तम है तुलसी ने भक्ति का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक एवं विशाल है उन्होंने "श्रुति सम्मत हरि भक्त पथ" ने "विरति विवेक" का समन्वय कर व्यापकता प्रदान की साथ ही उसे बिरलों का मार्ग न मानकर सर्वसुलभ एवं सर्वग्राह्य कर दिया राम भक्ति का रूप आचार्य रोमचन्द्र शुक्ल ने यथार्थ रूप से चित्रित किया हैः–

तुलसी जी की भक्ति पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वांगपूर्णता। जीवन के किसी पक्ष को सर्वथा छोड़कर वह नहीं चलती है, सब

पक्षों के साथ उसका सामंजस्य है। न उसका कर्म या धर्म से विरोध है न ज्ञान से। धर्म तो उसका नित्य लक्षण है। तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते है, योग का भी उसमें समन्वय हैं, पर उतने ही का जितना ध्यान के लिए चित्त को एकाग्र करने के लिए आवश्यक है।''[127]

भक्ति में तीन पक्ष प्रधान होते है–1. भगवान् 2. भक्त 3. भक्ति।

मानस में स्वयं राम भक्ति के स्वरूप का तात्विक विवेचन करते है–

जाते वेग द्रवउँ मैं भाई। जो मम भगति भगत सुखदाई।[128]

उक्त चौपाई का सारांश है कि भक्ति का प्रधान लक्षण है द्रवणशील भाव उत्पन्न करना।

रामचरितमानस के अनेक कथा प्रसंगों में भक्ति की दास्य भावना को प्रतिष्ठित किया है, मुनि सुतीक्ष्ण भी यही कहते हैं–

अस अभिमान जाइ जन मोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।[129]

निषाद भी राम के प्रति सर्वत्र नाथ का ही सम्बोधन कर अपना दासत्व प्रकट करता है उनके दास्यभाव से प्रसन्न होकर उसे भक्ति का अधिकारी मानते हुए राम अपनी अमला भक्ति प्रदान करते हैं:–

विदा कीन्ह करुनायतन भगति विमल बरु देई।[130]

कागभुशुण्डि के माध्यम से तुलसीदास जी इस दास्य भावना पर अपना सैद्धान्तिक निष्कर्ष भी देते हैं–

सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिअ उरगारि।

भजहुँ राम पद पंकज अस सिद्धान्त विचारि।।

तुलसी की भक्ति साधनरूपा तो है ही उसका साध्य रूप भी है–

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं।।

साधन स्वरूपा भक्ति दो प्रकार की होती है– 1. वैधी 2. रागानुगा

'अविरल भक्ति यथा=अविरल भगति विरति सतसंगा।।

अविरल प्रेम भक्ति यथा= अविरल प्रेम भगति मुनि पाई।।

अनूपा भक्ति यथा = पंथ कहत निज भगति अनूपा।।

भगति तात अनुपम सुखमूला।। राम भगति निरुपम निरुपाधी।।

दृढ़ राम भक्ति यथा= राम भगति दृढ़ पावहिं बिनु विराग जप जोग।।

परमभक्ति यथा = लीन्हेसि परम भगति बर माँगी।।

अनपायिनी भक्ति यथा= अनपायिनी भगति प्रभु दीन्हीं।।

निर्भरा भक्ति यथा= भक्ति प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरांमें।

भाव भक्ति यथा= भाव भगति आनंद अधाने।।

अखंड भक्ति यथा= मति अंकुठ हरि भगति अखंडा।।

विशुद्ध अविरल भक्ति यथा= अनिरल भक्ति विसुद्ध तव।

सब सुख खानिभक्ति यथा= सब सुख खानि भगति तैं मांगी।

चिन्तामणि भक्ति यथा= राम भगति चिंतामनि सुन्दर।

फलरूपा भक्ति यथा= सब कर फल हरि भगति सुहाई।

संजीवनी भक्ति यथा= रघुपति भगति सजीवनि मूरी।

आदि अनेक भक्ति के विधानों का 'मानस' में यथास्थान निरूपण हुआ है। भक्ति के अनेक साधनों का उल्लेख मानस में कई प्रकार से किया गया है:–

1. शबरी के प्रति राम द्वारा कथित नवधा भक्ति[1131]

2. वाल्मीकि द्वारा कथित भक्ति की 14 साधनाएँ।[132]

3. भागवतोक्त नवधा भक्ति का प्रसंग[133]

उक्त त्रिविध रूपों में शबरी के प्रति कथित साधन इस प्रकार हैं:–

सत्संग, कथारति, मान रहित, गुरु–भक्ति, कीर्तन, जप, सन्तवृत्ति, अनन्यता, सन्तोष, भगवद्वलम्ब।

वाल्मीकि द्वारा वर्णित 14 निवास स्थानों के 14 प्रकार की इन भक्ति साधनाओं का उल्लेख किया गया है:–

श्रवण, दर्शन भजन, सेवा, गुरु–भक्ति पूर्वक जप निर्विकार भाव, अनन्य–शरणागति, कामिनी–कांचन में अनासक्ति, भगवान् को सर्वस्व मानना, परितृप्ति, विश्वास, ऐश्वर्य– त्याग, मुक्ति के लिए अलोलुप होना तथा स्वाभाविक अनुराग।

वस्तुतः गोस्वामी जी की राम भक्ति दास्यभाव की है। भक्ति सम्प्रदाय में पाँच भाव हैं– शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा कान्त। शान्त भाव से जगन्निर्वेद की स्थिति प्राप्त होती है। जगत् से आवश्यक विरक्ति होने पर ही ईश्वर की ओर प्रवृत्ति होती है। अतः भक्ति के शेष भावों को शान्त पुष्ट करता है। दास्य शेष तीनों भावों में अनुस्यूत है। गोस्वामी जी दास्यभाव की उपासना को सर्वश्रेष्ठ एवं निरापद कहते हैं। इसमें किसी प्रकार के पतन का भय नहीं है। शरणागति इसका मुख्य आधार है। राम शरणागत भक्त की रक्षा वैसे ही करते हैं, जैसे अबोध शिशु की माता करती हैं।[134]

राम चरित मानस में नवधा भक्तिः–

सामान्यतः नवद्या भक्ति से तात्पर्य श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित भक्ति

के श्रवणादि नौ भेदों से होता है। यथा–श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद–सेवन, अर्चन, वन्दन दास्य, सख्य, आत्म निवेदन। ईश्वर के प्रति अनन्य अनुराग होना भक्ति है। यह अनुराग बिना किसी कारण के बिना किसी कामना के निरवच्छिन्न रूप से होता है–

'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।।''[135]

भक्ति के इन नौ रूपों में यह परम अनुरक्ति प्रतिफलित होती है किन्तु राम चरितमानस में श्री राम ने शबरी को नवधा भक्ति का जो उपदेश दिया है, वह श्रीभद्भागवत् की नवधा भक्ति से भिन्न कोटि की है। राम चरित मानस की भक्ति के स्वरूप इस प्रकार हैं:–

1. संतो का संग 2. भगवान् के कथा प्रसंग में प्रेम, 3. गुरु के चरण–कमल की सेवा, 4. भगवान् के गुणों का गान 5. उनके मंत्र या नामों का जप और उनमें दृढ़ विश्वास 6. शम, दम, उपरति, तितिक्षा एवं यम–नियमों का पालन तथा संतों के सदाचारों का निरन्तर पालन करना, 7. सम्पूर्ण चराचर–विश्व को भगवान् का स्वरूप मानना और संतों को अधिक आदर देना, 8. यथा–लाभ–सन्तोष और पराये दोषों को स्वप्न में भी नहीं देखना, 9. सरलता, कपट रहित व्यवहार, भगवान् के ऊपर विश्वास और हर्ष–विषाद की भावना से ऊपर उठना।

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।
गुर पद पंकज सेवातीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन करइ कपटतजि गान।।
मंत्र जाप मम दृढ़ विस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा।।
छठ दम सील विरति बहु भरमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा।।

सातवँ सम मोहि मय जगदेखा। मोतें संत अधिक करि लेखा।

आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा।

नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरस न दीना।।

नव महुँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई।।

सोई अतिसय प्रिय भामिनी मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें।।[136]

गीता में भगवान् को प्रिय लगने वाले भक्त के जो लक्षण बतलाये गये हैं, उनमें और गोस्वामी जी द्वारा निरुपित भक्त के लक्षणों में अत्यधिक साम्य है। भगवान् का प्रिय भक्त किसी से द्वेष नहीं करता, उसके हृदय में सभी के प्रति मित्रता और करुणा होती है। वह ममता और अहंकार से रहित होता है तथा सुख–दुःख में समदृष्टि रखता है। जो मिल जाय, उसी में संतुष्ट हो जाता है और मन तथा बुद्धि को भगवान् में अर्पित कर देता है। संसार के लोग उससे उद्विग्र नहीं होते और वह भी किन्हीं प्राणियों से उद्विग्न नहीं होता। उसका चित्त हर्ष, क्रोध, भय आदि उद्वेगों से रहित होता है और वह सभी प्रकार की आसक्तियों से मुक्त रहता है तथा शत्रु और मित्र के प्रति एवं मान एवं अपमान में भी समान–भाव रखता है।

भक्त भगवान् की एक तान–स्मृति में निरन्तर निमग्न रहता है। वह समस्त जगत् को सच्चिदानन्दमय देखता है तथा उनकी कथा से प्रेम रखता है, उनके गुणों का गान करता है एवं उनके मंत्रों और नामों का जप करता रहता है।

गोस्वामी जी ने समस्त शबरी–प्रसंग का वर्णन अध्यात्मरामायण के आधार पर किया है। उनके नविधा भक्ति–निरूपण का आधार भी वही है, यहाँ तक कि दोनों की शब्दावली में भी पर्याप्त साम्य है। इसकी साम्यता सिद्धि के लिये अध्यात्मरामायण में वर्णित नवधा–भक्ति को उद्घृत किया जाता है।

सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्।।

द्वितीयं भत्कथालापस्तृतीयं मद्‌गुणेरणम्।

व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्।।

आचार्योपासनं भद्रे मद्‌बुद्ध्यामायया सदा।

पंचमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च।।

निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम्।

मम मन्त्रोपासकत्वं सांगं सप्तममुच्यते।।

मद्‌भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु म मतिः।

वाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा।

अष्टमं नवमं तत्त्वविचारों मम भ मिनी।

एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा।।[137]

भगवान् श्रीराम शबरी से कहते हैं– मैं संक्षेप से अपनी भक्ति के साधनों का वर्णन करता हूँ। उनमें पहला साधन तो सत्संग ही है। मेरे जन्म–कर्मो की कथा का कीर्तन करना दूसरा साधन है, मेरे गुणों की चर्चा करना तीसरा उपाय है और (गीता–उपनिषदादि) मेरे वाक्यों की व्याख्या करना उसका चौथा साधन है। हे भद्रे! अपने गुरुदेव की निष्कपट होकर भगवद्‌बुद्धि से सेवा करना पाँचवाँ, पवित्र स्वभाव यम–नियमादि का पालन और मेरी पूजा में सदा प्रेम होना छठा तथा मेरे मन्त्र की सांगोंपांग, उपासना करना सातवाँ साधन कहा जाता है। मेरे भक्तों की मुझसे भी अधिक पूजा करना, समस्त प्राणियों में मेरी भावना करना, वाह्य पदार्थो में वैराग्य करना और शम दमादि सम्पन्न होना– यह मेरी भक्ति का आठवाँ साधन है तथा तत्त्व–विचार करना नवाँ है। हेभामिनि! इस

प्रकार यह नौ प्रकार की भक्ति है।

तुलसी की भक्ति स्वतन्त्र होते हुए भी ज्ञान–मार्ग एवं कर्म मार्ग समन्वित हैं। तुलसी ने सभी वेद वर्णित साधनाओं को भी अपने भक्ति मार्ग में समन्वित किया है। उनकी भक्ति भी अन्य भक्ति नहीं है अपितु ज्ञान एवं वैराग्य से पूर्ण–रूपेण समन्वित है जैसा कि वे स्वयं कहते हैं–

'श्रुति–संमत हरि–भगति–पथ संजुत विरति–विवेक।'[138]

'विरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।'

'जप पाइअ सो हरि भगति –।।'[139]

उपर्युक्त प्रसंग में ज्ञान एवं वैराग्य भी भक्ति के ही प्रमुख साधन वर्णित हुये हैं या यों कहना असंगत न होगा कि ज्ञान और वैराग्य तुलसी की भक्ति का पूर्व अवस्था के प्रतिरूप है।

नारद के 'भक्ति सूत्र' में वर्णित 11 आसक्तियों का भी निदर्शन मानस में मिलता है।

'गोस्वामी जी ने सब प्रकार की आसक्तियों के भक्तों के दृष्टान्त उपस्थित किये हैं, यथा गुणमाहात्म्यासक्त–भक्तों में नारद, भुशुण्डि एवं शिव, रूपासक्त भक्तों में मिथिला के नर–नारी, राजा जनक तथा दण्ड कारण्य के ऋषि, पूजासक्त भक्तों में भरत, स्मरणासक्त भक्ति की कोटि में प्रह्लाद, ध्रुव सनकादि दास्यासक्त भक्तों में हनुमान् एवं लक्ष्मण, सख्यासक्त भक्तों में निषाद, सुग्रीव और विभीषण, कान्तासक्त भक्तों में जानकी, वात्सल्यासक्त भक्तों में मनु, शतरूपा, दशरथ तथा कौसल्यादि, आत्मनिवेदनासक्त भक्त की कोटि में विभीषण एवं हनुमान्, तन्मयतासक्त भक्तों में सुतीक्ष्ण, परम विरहासक्त भक्तों में महाराज दशरथ को समझना चाहिये।''

राम चरित मानस में भक्तों के भेदः–

तुलसी दास जी ने चार भेद बतलाये हैं–[140]

1. ज्ञानी 2, जिज्ञासु . अर्थार्थी और आर्त्त उनकी दृष्टि में ये चारों प्रकार के भक्त पुण्यात्मा पाप रहित और उदार होते हैं।

इन चारों ही चतुर भक्तों को नाम का ही आधार रहता है, पर इनमें ज्ञानी भक्त प्रभु को विशेष रूप से प्रिय है।[141]

यथार्थतः तुलसी ने भक्तों के चार भेदों में यह विभाजन गीता के आधार पर ही किया है।'[142] ज्ञानी भक्त भगवान् का ज्ञान प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। उसको कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। फिर भी वह निष्काम बुद्धि से भक्ति करता रहता है। जिज्ञासुभक्त भक्ति के माध्यम से भगवान् के गूढ़ रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अर्थार्थी भक्त द्रव्यादि एवं लौकिक सिद्धियों की कामना से भक्ति करता है और आर्तभक्त अपने संकट की निवृत्ति के लिए परमेश्वर को भजता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि अभेद–भक्ति का आकांक्षी निर्गुणोपासक ज्ञानी भक्त अन्ततः मुक्ति की प्राप्ति करता है परन्तु सगुणोपासक भक्त मुक्ति की आकांक्षा नहीं करता। वह भेद–भक्ति को ही पसन्द करता है और सिद्ध सन्तों एवं महात्माओं से ही नहीं प्रत्युत साक्षात् भगवान्, से भी वह भक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की याचना नहीं करता। भक्ति के आनन्द की प्राप्ति के लिए वह अविनाशी जीव बना रहना ही अच्छा समझता है। भगवान् राम भी उसको अपनी भक्ति देते है।[143]

गोस्वामी जी ने मानस के वालकाण्ड में राम–नाम महिमा के वर्णन क्रम में उपर्युक्त चारों प्रकार के भक्तों का स्वरूप निरूपण निम्न प्रकार से किया है–

1. ज्ञानी भक्त–

नाम जोहँ जपि जागहिं जोगी। विरतिविरंचि प्रपंच वियोगी।।

ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।।"[1144]

2. जिज्ञासुभक्त–

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ।।[145]

3. अर्थार्थीभक्त–

साधक नाम जपहि लय लाए। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए।[146]

4. आर्तभक्त–

जपहिं नाम जन आरत भारी।

मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।[147]

राम चरित मानस के अयोध्या काण्ड[148] में तुलसी ने जो राम के रहने योग्य चौदह स्थान बताये हैं, उन्हें डॉ0 बलदेव प्रसाद मिश्र जी ने भक्तों के चौदह भेद के रूप में स्वीकार किया है। डॉ0 मिश्र के शब्दों में "व्यक्तिगत रूप से हमारा अनुमान तो यह है कि चतुर्दश भुवनों के अधीश्वर भगवान् जब चौदह वर्षों तक बन में निवास करना अंगीकार किया तब उनके पूछने पर वाल्मीकि जी ने पहले चौदह प्रकार के भक्त हृदय रूपी भवन ही दिखाये है फिर कहीं चित्रकूट की चर्चा, इसलिए इस प्रकरण में चौदह प्रकार के भक्तों ही की चर्चा है जो इस भाँति हैं– 1. श्रवणानन्दी 2. दर्शनानन्दी 3. भजनानन्दी 4. सेवानन्दी 5. गुरुभक्तिपूर्वक जपाशक्ति जीव 6. निर्विकार 7. अनन्यशरणागतिवान् संत 8. कामिनी काँचन में अनाशक्त संत 9. भगवान् ही को सबकुछ समझने वाले 10. परहित व्रती 11. विनम्र विश्वास सेवक 12. ऐश्वर्य त्यागी भक्त 13. मुक्ति के लिए भी अलोलुप 14. निरीह सहज स्नेही भक्त।"[149]

<u>साधनत्रय में भक्ति की श्रेष्ठताः–</u>

गोस्वामीजी ने साधनत्रय में भक्ति को सुलभ एवं सुगम सिद्ध किया है। वे ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को निरापद एवं श्रेष्ठ बताते हैं। भक्ति का संबंध चूँकि हृदय से है, अतः यह सामान्य एवं विशिष्ट सब प्रकार के व्यक्तियों के लिए उपयोगी है। ज्ञान की साधना केवल सूक्ष्म प्रतिभा–सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकते हैं। साधनकाल में भी ज्ञान के पथ पर चलना कोई साधारण बात नहीं।

यदि अत्यन्त सावधानी से साधना पूर्ण भी हुई, तो भी अनेक बाधाओं का भय बना ही रहता है। इसे गोस्वामी जी ने 'मानस' के उत्तरकाण्ड में 'ज्ञानदीपक' एवं भक्ति–मणि के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। अहर्निस प्रयास करके ज्ञानदीपक को जलाया जा सकता है, लेकिन काम–क्रोधादि के तीव्र प्रभंजन उसे बिना बुझाये नहीं छोड़ते। अर्थात्, साधना के सर्वोच्च शिखर पर भी पहुँचकर पतन का भय बना ही रहता है–

जे ज्ञान मान विमत्त तब भव हरनि भक्ति न आदरी।

ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।।[150]

लेकिन, भक्ति दीपक नहीं, 'मणि' है, जिसमें न इतर उपादानों की अपेक्षा है, न बुझने का ही भय।

राम भगति चिन्तामनि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्तर।।

परम प्रकाश तेज दिन राती। नहिं तहँ चाहिय दिया घृत वाती।।

सब प्रकार के आनन्द का भोग तो हृदय से होता है, क्योंकि आनन्द कभी ज्ञान का विषय नहीं होता। अतः मुक्तिजन्य आनन्द भी भक्ति करने से सहज ही प्राप्त हो जाता है।

पुनः मुक्ति भक्ति की दासी भी है। गोस्वामी जी की दृष्टि में भक्ति के साधक को मुक्ति के लिए अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता–

भगति करत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवत बरिआई।।

ज्ञान में सदा पतन का भय एवं भक्ति में नित्य निर्भयता की प्राप्ति में हेतु क्या है? तुलसीदास जी इसे स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान में 'अहं' सदा पुष्ट होता है। सोऽहं तक अहं लगा ही रहता है, भले विशुद्ध एवं उदात्त होकर भी यह 'अहं' ही "संसृति मूल सूलप्रद नाना" है। लेकिन भक्तिपथ में 'अहं' पर पैर रखते ही गलने लगता है। शरणागति में 'अहं' आत्यन्तिक रूप से विनष्ट हो जाता है। भक्त अपने को 'दीन–हीन' समझने लगता है और राम को 'दीन' ही प्रिय हैं–

"वन्दौं सीता राम पद जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न।।"

इस 'अहं' में स्वयं का बल नहीं स्वामी का भरोसा होता है। गोस्वामी जी महाराज ऐसे 'अहं' को सुन्दर–सुखद बताते हैं, बल्कि भक्ति का 'अहं' हृदय में नित्य रहे। तो नित्य मंगल की प्राप्ति होती है–

अस अभिमान जाय नहिं भोरे।

इस 'अहं' से संसार से अरुचि एवं उपास्य से नित्य नवीन प्रीति होती जाती है। तब मुक्ति की कामना फीकी लगती है–

अस विचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने।।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गोस्वामी जी ज्ञान एवं कर्म को महत्त्व नहीं देते। उनकी दृष्टि में अधिकारी भेद से वे भी महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने त्रिवेणी के रूपक में उनका भी समन्वय किया है–

राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा।।

विधि निषेधमय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनन्दनि बरनी।।

लेकिन, ज्ञान और कर्म भी भक्ति के लिए ही मान्य है–

सो सब करम धरम जरि जाऊ। जो न राम पद पंकज भाऊ।।

अविद्या का बन्धन कर्म के साधनों से टूटता नहीं, बल्कि और भी दृढ़ होता है। कर्म संन्यास द्वारा ही उससे छुटकारा मिला है। इसलिए बुद्धिमान और अनुभवी लोग शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मो को छोड़कर राम की भक्ति करतें हैं:–

करहिं मोह बस नर अध नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना।।

कालरूप तिन्हकहँ मैं भ्राता। सुभ अरु अशुभ करम फल दाता।

अस विचारि जे परम सयाने। भजहि मोहि संसृति दुःख जाने।

त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक। भजहिं मोहिं सुर नर मुनि नायक।[151]

कर्म के संस्कारों का जो मल चित्त पर लगा हुआ है, वह कर्म (प्रवृत्ति–मार्ग) से नहीं छूटता, उसके लिए प्रेम–भक्ति का जल चाहिए–

छूटई मल कि मलहि के धोए। घृत कि पाव कोउ वारि विलोए।

प्रेम भगति जल विनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।[152]

हरि भक्ति की प्राप्ति पर राम के भक्त आश्रम धर्म के आचरणों का भी परित्याग कर देते हैं:–

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।

जिमि हरि भगति पाइ स्रम तजहिं आस्रमी चारि।।[153]

गोस्वामी जी की दृष्टि में भवजनित–क्लेश को नष्ट करने में यद्यपि ज्ञान और भक्ति दोनों समर्थ हैं, फिर भी ज्ञान का साधन पथ दुर्गम है और उसका प्रमुख कारण यह है कि उसमें मन को कोई आश्रय नहीं मिलता–

भगतिहँ ग्यानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।।[154]

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेंका।।[155]

उक्त दुर्गमता का कवि ने बड़ा विस्तार किया है। कागभुशुंडि ने गरुड़ से 'ज्ञान दीपक' का जो वर्णन किया है'' उसके अंत में भी परिणाम यही निकाला गया है–

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक।

होई घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक।।

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होत नहिं बारा

जो निर्बिध्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई।[156]

और उनका कहना है कि इन सब कठिनाइयों को झेलने पर भी जो वस्तु प्राप्त नहीं रहती है, वह राम भक्त को अनायास ही प्राप्त हो जाती है।

ज्ञान, विराग, योग और विज्ञान आदि साधन गोस्वामी जी के अनुसार पुरुष हैं– क्योंकि वे स्वावलंबी और इसलिए पुरुषार्थ– प्रधान होते हैं, भक्ति नारी है– क्योंकि वह सर्वथा परावलंबिनी और इसीलिए दैन्य और कार्पण्य–प्रधान होती है, और माया भी स्त्री है– क्योंकि वह भी परावलंबनी है और स्वतः जड़ होने के कारण अपने प्रसार के लिए उसे भी भगवान् का आश्रय चाहिए, और पुरुष नारी पर मुग्ध हो सकता है और नारी उसको मोहित करती है, किन्तु नारी नारी पर न मुग्ध हो सकती है और न नारी नारी को मोहित कर सकती है, इसलिए ज्ञान, वैराग्य आदि पुरुषार्थ–प्रधान साधन माया–विमुग्ध हो सकते हैं, पर भक्ति पर माया कभी अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। पुरुषार्थ प्रधान साधनों में अहंभाव किसी न किसी मात्रा में होना ही चाहिए, भक्ति में इस अहंकार का सर्वथाअभाव तथा एक मात्र भगवान् की कृपा का अवलंबन होता है, भक्ति का आश्रय ग्रहण करने पर वह भय नहीं होता है–

ग्यान विराग जोग बिग्याना। ये सब पुरुष सुनहु हरिजाना।

पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती।

पुरुष त्यागि सक नारिहिं जो विरक्त मति धीर।

न तु कामी विषयावस विमुख जो पद रघुवीर।।

सोउ मुनि ग्यान निधान मृगनयनी विधु मुख निरखि।

विवस होइ हरिजान नारि विष्नु माया प्रगट।।

इहाँ न पच्छपात कछु राखऊँ। वेद पुरान संत मत भाखउँ।

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि वर्ग जानहिं सब कोऊ।

मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा।[157]

ज्ञानाभिमानी जो साधक भक्ति का निरादर करते हैं वे कैवल्यादिक सुर–दुर्लभ पदों को प्राप्त करके भी गिरते हुए देखे जाते हैं–

जे ग्यान मान विमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।

ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।[158]

इस लिए तुलसीदास का मत है कि राम–भक्ति के बिना (वास्तविक) निर्वाण की प्राप्ति असंभव ही है–

रामचन्द्र के भजन बिनु जो पद चह निर्वान।

ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ विषान।।[159]

'ज्ञान दीपक' की तुलना में गोस्वामी जी ने 'भक्ति–मणि' का रूपक उपस्थित किया है और राम भक्ति चिन्तामणि बताते हुए उसकी प्राप्ति को सुगम बताया है। उनका कहना है कि अभागे मनुष्य स्वतः उसकी प्राप्ति का द्वार बन्द कर लेते हैं–

सुगम उपाय पाइबे केरे । नरहत भाग्य देहिं भट मेरे।[160]

इस रूपक में कवि ने दोनों की शक्तियों में भी अंतर बताया है। उसका कथन है कि यह ज्ञान का दीपक विषय की वायु का झोंका लाने पर बुझ सकता है– और इन्द्रियाँ इन विषयों का स्वागत करने को सदा तत्पर रहती ही है– इस लिए बहुधा होता यह है कि समस्त कठिनाइयों के बाद भी प्रज्वलित होने पर यह दीपक बुझ जाया करता है, और परिणाम यह होता है कि जीव अपने अन्तःकरण के अन्धकार में पड़ी हुई माया की मोंह को छुड़ा नहीं पाता है। दूसरी ओर भक्ति का चिन्तामणि दिन रात स्वतः प्रकाशित रहता है, और उस पर विषय के वायु का झँकोरा कोई असर भी नहीं कर पाता। इसलिए राम भक्ति रूपी चिन्तामणि जिसके हृदय में बसती है उसे जीवन में कभी कष्ट का अनुभव नहीं होता–

राम भगति मनि उर बस जाकें दुःख लवलेस न सपनेहुं ताके।[161]

फलतः इस संसार में सबसे चतुर वे ही हैं जो इस भक्ति मणि की प्राप्ति के लिए यत्न करते हैं–

'चतुर शिरोमनि तेई जग माँहीं जे मनि लागि सुजतन कराहीं।'

वस्तुतः ज्ञान, कर्म, भक्ति जीवन की पूर्णता इन तीनों के समन्वय में है। वही साधना सिद्धिदायिनी होती है जो साधक की पूरी सत्ता के साथ की जाए। इसलिए विभिन्न साधनापद्धतियों में इन तीनों को स्थान दिया गया है। ये तीनों अन्योन्याश्रित है। सतकर्म के बिना चित निर्मल नहीं हो सकता और मलावृत चित्त में ज्ञान भक्ति का उदय असंभव है। समाज व्यवस्था के लिए सदाचार अनिवार्य है। धर्ममय रथ से ही जीवन संग्राम में विजय मिल सकती है।[162] धर्म भक्ति से रहित कर्म मल–जनक और बन्धक कारक होता है।[163]

अतएवं तुलसी ने तीनों के समन्वय पर बल दिया है।[164]

ज्ञान और भक्ति ही तत्वतः मुक्ति साधन है। कर्म, वैराग्य, योग आदि इन साधनों के साधन है। सांख्ययोग और शंकर वेदान्त में ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। वैष्णव आचार्यो ने भक्ति को श्रेष्ठ माना है। तुलसी ने दोनों का समन्वय करते हुए विरति विवेक–संयुक्त भक्ति, और ज्ञानी भक्त को श्रेष्ठ बतलाया है।[165]

1. श्रुति संमत हरि भगति पथ संजुत विरति विवेक।

2. राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।।

   चहूँ चतुर कहुँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहिं विसेषि पिआरा।।

भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने नवध भक्तियों का समन्वय किया है। राम चरित मानस'' के तृतीय सोपान में लक्ष्मण को भक्ति का उपदेश करते हुए राम ने 'भागवत पुराण की नवधा'' भक्ति पर जोर दिया है, और शबरी के प्रति उन्होंने 'अध्यात्मरामायण' की नबधा भक्ति का निरूपण किया है। दोनों मान्य है। अधि ाकारी की योग्यता के अनुसार भक्ति का कोई भी प्रकार ग्रहणीय है।

भक्ति की श्रेष्ठता[166] के तीन प्रमुख कारण है, मनोविज्ञान, अधिकारी की योग्यता और युग धर्म। 1. मन स्वभावतः रागात्मक है। उसे आंलवन चाहिए। भक्ति रागात्मिका वृत्ति है। वह मानव मन के अनुकूल और सहज ग्राह्य है। 2. प्रत्येक व्यक्ति सभी साधनाओं के अनुकूल उपयुक्त नहीं है। उसकी शक्ति सीमित है। धन साध्य कर्ममार्ग और कष्ट साध्य ज्ञानपंथ सबके बश की बात नहीं है। भक्ति सर्वोपयोगी है। 3. कलियुग के अत्याचारी शासन की प्रतिकूल परिस्थितियों में धर्मपालन और ज्ञान साधना दुष्कर है। भक्ति श्री श्रेयस्कर उपाय है। उसमें भी नाम भक्ति अधिक फलप्रद और निरापद है। नाम भक्ति की एक महत्वपूर्णविशेषता यह है कि वह निर्गुणियों और सगुणभक्तों को समय रूप से मान्य है। इसके द्वारा दोनों भक्तिधाराओं का समन्वय हो जाता है।[167]

1. हियं निर्गुण नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।

मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललितललाम।।

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय–प्रबोधक चतुर दुभाषी।।

अद्वैतवेदान्त की दृष्टि में मोक्षः–

अनन्त विभूषित स्वामी करपात्री जी ने कहा है कि वस्तुतः मोक्ष निरावरण रूप स्वप्रकाश–निरवच्छिन्न परमानन्दधन परमात्मा का ही अन्यतम नाम है। अब यहाँ देखना है कि अद्वैत वेदान्त में मोक्ष का स्वरूप का विनिश्चय कैसे किया गया है। मोक्ष की परिभाषा निम्नलिखित श्कारिका में द्रष्टव्य है–

निवृत्तिरात्ममोहस्य ज्ञातत्वेनो पलक्षितः।

अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृता।।[168]

यहाँ मोह निवृत्ति, ज्ञान, आत्मा आदि लक्षणों से परमात्मा को ही मोक्ष बतलाया गया है। श्रीभगवान् से श्री ब्रह्मा जी भी यही कहते है।

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ

द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।

अजस्रचित्यात्मनि केवले परे

विचार्यमाणे तरणाविवाहिनी।।[169]

संसार संबंधी बन्धन और उससे मोक्ष–ये दोनों नाम अज्ञान से ही कल्पित हैं। ये सत्य और ज्ञान स्वरूप परमात्मा से भिन्न अस्तित्व वाले नहीं हैं। जैसे सूर्य में दिन और रात का भेद नही है, वैसे ही विचार करने पर अखण्ड चित्स्वरूप केवल शुद्ध आत्मतत्त्व में न तो बन्धन है और न मोक्ष ही।'

जिस प्रकार स्वप्रकाशरूप सूर्य की संनिधि एवं असंनिधि में ही दिन

एवं रात की कल्पना होती है, उसी प्रकार अज्ञान से ही ब्रह्म में बन्धन की एवं अज्ञानराहित्य में मोक्ष कीकल्पना होती है। मोक्ष और बन्धन उससे (ब्रह्म से) भिन्न नहीं हैं, यही भाव है। अज्ञान, बन्धनादि की निवृत्ति के लिए ही तत्त्वज्ञान की आवश्यकता होती है। महर्षि गौतम ने स्वरचित न्यायसूत्र में कहा है–

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये

तदनन्तरापायादपवर्गः।'[170]

इसके अनुसार तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है। इससे प्रवृत्ति एवं जन्मादि से मुक्त होकर अपवर्ग होता है। इसे ही– ''तदत्यन्तविमोक्षोऽप वर्गः''[171] तक समझाया गया है।

वैशेषिक शास्त्र के अनुसार कर्माभाव से जन्मादि का अभाव हो जाना मोक्ष है– 'तदभावे संयोगाभावो प्रादुर्भावश्च मोक्षः'[172]

योगशास्त्र की दृष्टि से भी कर्माभाव से, संयोगाभाव हान, विवेकख्याति, प्रकृति–पुरूष संयोगाभाव, पुनः दृश्यसंसर्गाभाव होकर मोक्ष होता है। सांख्यों की दृष्टि से प्रकृति ही धर्म, अधर्म, ज्ञानाज्ञान, वैराग्यावैराग्य, ऐश्वर्यानैश्वर्य आदि सात रूपों के द्वारा पुरूष को बन्धन में डालती है। फिर वही सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिलक्षण ज्ञान रूप से उसे मुक्त करती है–

रूपैः सप्तभिरेव बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।

सैव च पुरुषार्थे प्रति विमोचयत्येकरुपेण।।[173]

इधर देहात्मवादी चार्वाकों की दृष्टि में मृत्यु ही मोक्ष है। पर वेद एवं उपनिषदों की दृष्टि से परमात्मा के तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष होता है–

वेदाहमेत पुरुषं महान्तमादित्यवर्णे तमसः पुरस्तात्।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।[145]

श्रुति कहती है कि अज्ञानान्धकार से परे आदित्य वर्ण के महान् पुरुष परमात्मा को जानकर ही प्राणी मृत्यु का अतिक्रमण करता है, मोक्ष के लिए दूसरा और कोई मार्ग नहीं है।

योगदर्शन की दृष्टि से अनित्य, अशुचि दुःखपूर्ण, अनात्म वस्तु में इसके विपरीत नित्य, शुद्ध, सुखरूप आत्मा की भावना अविद्या है।[146] इस अविद्या के उच्छेदपूर्वक स्वरूपावस्थिति ही मोक्ष है। इस शास्त्र में चित्त की प्रमाद, निद्रादि सभी वृत्तियो के निरोध से द्रष्टा आत्मा का स्वरूप में अवस्थान होता है[148] अन्यथा शान्त, घोर, मूढ़ादि वृ1त्तियों की ही स्वरूपता होती है। शैव, वैष्णवादिकों की दृष्टि में अपने–अपने इष्टदेव की उपासना, आराधना से सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य सायुज्यादिकी प्राप्ति रूप मोक्ष होता है।

अद्वैत वेदान्तानुसार भक्ति एवं निष्काम कर्मयोग, वर्णाश्रम धर्म, श्रौतस्र्मातकर्मादि के अनुष्ठान से शुद्ध, सत्त्व, एषणायुक्त, इहलोक–परलोक के सुखों से विरक्त, शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, श्रद्धासमाधियुक्त मुमुक्षु पुरुष गुरु को प्राप्त कर उनसे विधिपूर्वक वेदान्त का श्रवण एवं प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म को ठीक–ठीक जानकर भगवद्भावापन्न ब्रह्मविद् वरिष्ठकृतार्थ होता है। उपनिषद् कहती है–

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।

ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे।।[175]

इस श्रुति में अंक–असुख–दुःख से सर्वथा असंस्पृष्ट परमात्मा को ही नाक न + अंक कहा है। वह परमात्मा बुद्धिरूपी गुहा में साक्षीरूप से निहित है। तमोगुण एवं रजोगुण से मुक्त होकर अज्ञाननाशपूर्वक उसे भली–भाँति जानकर यति–संन्यासी लोग मुक्त होते हैं। यह आत्मा ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र विष्णु, अक्षर, राजराज काल अग्नि एवं सूर्य–चन्द्र सब कुछ है।

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं सनातनम्।

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये।।[176]

वह परब्रह्म ही ब्रह्म, विष्णु शिवादि के रूप में आविर्भूत होता है। अधिक क्या, भूत, भव्य, वर्तमानादि में भी जहाँ जो कुछ है, सब ब्रह्म ही है। श्रुति अन्यत्र भी कहती है कि यह सब कुछ ब्रह्म से ही उत्पन्न–पालित है और उसी में लीन होने वाला है, अतः यह परिणाम में भी ब्रह्म रूप है। इसलिए शान्त होकर उस परमात्मा की उपासना, ध्यानादि करना चाहिये–

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत।'[177]

वेदान्तानुसार रज्जु में सर्प भ्रम की तरह आत्म चैतन्य में जगत् का भ्रम होता है। रज्जुस्थानीय सत्य चिदात्मा में सर्वप्राणियों को तथा सभी प्राणियों में अपने आत्मस्वरूप को देखने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

संपश्यन् परमं ब्रह्म याति नान्येन हेतुना।।[178]

गीता में भी प्रायः यही कहा गया है

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च में न प्रणश्यति।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।

पूर्वोक्त प्रकार से व्यष्टि, समष्टि, स्थूल सूक्ष्मकारणरूप सम्पूर्ण जगत्

को प्रणवरूप परब्रह्म में विलयकर निरुपम सच्चिदानन्द संविद्स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर साधक स्वयं भी ब्रह्म हो जाता है। तत्त्वतः यह जीव ब्रह्म ही है। सभी उपनिषदों एवं सूतसंहितादि में यह बात विस्तार से निरूपित है।'' यज्ञवैभव खण्ड' में भी आता है कि जीव सुषुप्ति मं किंचित् ब्रह्मनन्दांशता को प्राप्त करता है–

स्वप्ने स जीवः सुख दुःखभोक्ता स्वमायया कल्पित जीवलोके।

सुक्षुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति।।

यही बात उपनिषदों में ''सुखमह्मस्वाप्सम् नाहं किंचिदवेदिषम्' से सुषुप्ति आदि के अनुभव के रूप में कहीं गयी है। वस्तुतः जीवन, बन्धन, संसार–मोक्षादि गुणतः ही हैं, स्वरूपतः नहीं श्रीमद्भागवत् में भगवान् का भी कथन है–

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो में न वस्तुतः।

गुणस्य माया मूलत्वान्न में मोक्षो न बन्धनम्।।

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद्यथोत्थितः।

अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग् यथा।।[179]

'आत्मा बद्ध है या मुक्त, इस प्रकार की व्याख्या या व्यवहार मेरे अधीन रहने वाले सत्त्वादि गुणों की उपाधि से ही होता है, वस्तुतः– तत्त्वदृष्टि से नहीं। सभी गुण मायामूलक है– इन्द्रजाल हैं– जादू के खेल के समान हैं। इसलिए तत्त्वतः न मेरा मोक्ष है, न तो मेरा बन्धन ही है। ज्ञान सम्पन्न पुरूष भी मुक्त ही है। जैसे स्वप्न टूट जाने पर जगा हुआ पुरूष स्वप्न के स्मर्यमाण शरीर से कोई संबंध नहीं रखता, वैसे ही ज्ञानी पुरूष सूक्ष्म और स्थूल शरीर में स्थित रहने पर भी मन में उनसे किसी प्रकार का संबंध नहीं रखता। परन्तु अज्ञानी

पुरूष वास्तव में शरीर से कोई संबंध न रखने पर भी अज्ञान के कारण शरीर में ही स्थित रहता है। यही बात माण्डूक्यकारिका की निम्नलिखित कारिका में कही गयी है–

न निरोधों न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।।

इस प्रकार शोक–मोह, सुख–दुःख, शुभ और अशुभ सब कुछ मायामय ही हैं। तत्त्वतः तो केवल ब्रह्म ही है। गुण ही सभी कर्मो का कर्ता–भोक्ता है–ऐसा जानकर विद्वान पुरुष कर्मवासना और फलों में नहीं बँधता।

हंस स्वरूप भगवान् भी सनकादि के प्रश्नोत्तर में यही कहते हैं–

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।

विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया। स्व नस्त्रिधा गुणबिसर्गकृतो विकल्पः।।[180]

'यह जगत् मन का विलास है, दीखने पर भी नष्ट प्राय है। ज्ञाता और ज्ञेय के भेद से रहित एक ज्ञानस्वरूप आत्मा ही अनेक–सा प्रतीत हो रहा है। यह अलातचक्र (लुकारियों की बनेठी) के समान अत्यन्त चंचल है और भ्रम मात्र है– ऐसा समझना चाहिए। यह स्थूल शरीर इन्द्रिय और अन्तःकरण रूप तीन प्रकार का विकल्प गुणों के परिमाण की रचना है, स्वप्न के समान माया का खेल है और अज्ञान से कल्पित है।' जब तक व्यक्ति की युक्तियुक्त ज्ञान से भेद बुद्धि निवृत्त नहीं होती, तब तक वह जागता हुआ भी सो रहा है जैसे स्वप्न में मनुष्य अपने को झूठे ही जागता देखता है, वैसे ज्ञानी के जागरण का भाव भी भ्रम है–

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।

जागर्त्यपि स्वप्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा।।[181]

श्रीमद्भागवत में उद्दव जी के प्रकृति–पुरुष की अन्योन्याश्रयता तथा परस्पर संबंध के प्रश्न पर श्रीभगवान् यही कहते हैं कि यह सब कुछ मुझमें ही माया से कल्पित है। यह सब कुछ मायिक एवं मिथ्या होते हुए भी मेरा भजन न करने वालों के लिए इसका संतरण दुस्तर एवं दुरत्यय ही है–

दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रें परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे।

आत्मा यदेषामपरो य आद्यः स्वयानुभूत्याखिलसिद्धासिद्धिः।

एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम्।।

योऽसौगुणक्षोभकृतो विकारः प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः।

अहं त्रिवृन्मोहविकल्प हेतु वैंकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च

आत्मा परिज्ञानमयोविवादो ह्यस्तीतिनास्तीति भिदार्थनिष्ठः।

व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात्।।

वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के अनुसार साधक को गुरू उपदेश देता है– "तत् त्वमसि"–अर्थात् तुम स्वयं चेतन ब्रह्म हो। परन्तु इस उपदेश पर निरन्तर अभ्यास और निदिध्यासन करना पड़ता है। तब वह परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान के रूप में परिणत होता है। साधक अनुभव करता है– "अहं ब्रह्मास्मि"– मैं भी ब्रह्म हूँ। इस साधन के बल पर जीव और ब्रह्म का भेद भाव मिट जाता है, एकत्व का ज्ञान हो जाता है, भ्रम दूर भाग जाता है तथा साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती हैं। वह ज्ञान भारभूत है जो क्रिया के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता।

<u>मुक्ति का रूपः–</u>

मुक्ति का स्वरूप समझने के लिए वेदान्ती लोग एक उदाहरण देते हैं– किसी मनुष्य के गले में सोने का हार है। उसे वह भूलकर इधर–उधर अपने से बाहर ढूँढ़ता फिरता है, परन्तु किसी जानकार के उपदेश से उसे पता चलता

है कि हार उसी के गले में है और तब उसकी प्राप्ति से वह प्रसन्न होता है। मुक्ति की भी यही दशा है। जीव तो स्वभाव से ही मुक्त है। मुक्ति न तो प्राप्य है और न उत्पाद्य, न उसका उत्पादन होता है और न उसकी प्राप्ति, परन्तु जीव इसे भूलकर बाहर खोजता फिरता है। गुरु के उपदेश से अज्ञान और भ्रम दूर होता है, विवेक उत्पन्न होता है और वह व्यक्ति स्वाभाविकी मुक्ति को पाकर प्रसन्न होता है। मुक्त पुरूष अपनी एकता सच्चिदानन्द ब्रह्म से प्रतिष्ठित करता है। फलतः वेदान्त मत में मुक्ति की दशा नितान्त आनन्दमयी दशा है। जीव और ब्रह्म की भेद–भावना से उत्पन्न होने वाले दुःखों की केवल निवृत्ति ही नहीं हो जाती, प्रत्युत साधक को अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। अज्ञान आवरण के हट जाने से पूर्ण ज्ञान के आलोक से वह उद्‌भासित हो उठता है और ब्रह्म की अनुभूति से वह कृतकृत्य हो जाता है।

<u>वैष्णव वेदान्तों में मोक्ष का स्वरूपः–</u>

विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक आचार्य रामानुज के अनुसार मोक्ष का स्वरूप अद्वैत वेदान्त से भिन्न है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप हो जाता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत में वह ईश्वर के समान होता है। ईश्वर के साथ उसका 'ऐकात्म्य' सम्पन्न नहीं होता है। वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण को अवश्य पा लेता है, परन्तु ब्रह्म के साथ मिलकर एक नहीं हो जाता। मुक्त जीव ब्रह्म नहीं होता, वह ब्रह्म के सदृश (ब्रह्म प्रकार) हो जाता है। मुक्त जीव में सर्वज्ञत्व तथा सत्य–संकल्पत्व गुण अवश्य आ जाते हैं, परन्तु सर्वकर्तृत्व गुण ईश्वर के ही साथ रहता है। जीव में अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा बनी रहती है, परन्तु ईश्वर में ऐसा नहीं है। अतः जीव का परमात्मा के साथ ऐक्य सम्पन्न नहीं होता। मुक्त जीव स्वराट्, अनन्याधिपति तथा संकल्प–सिद्ध हो जाता है, परन्तु उसे जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय में `तनिक भी अधिकार नहीं रहता। जीवित दशा में मुक्ति नहीं हो सकती, अतः

अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के अनुकूल रामानुज के मत में भी 'जीव–मुक्ति' मान्य नहीं है, केवल 'विदेहमुक्ति' ही सम्भव है। वैकुण्ठ में भगवान् का किंकर बनना कैकर्य ही–परमा मुक्ति है।

द्वैतवाद में मोक्षः–

मध्व दर्शन की मुक्ति संबंधी धारणा भी शंकराचार्य से नितान्त भिन्न है। मध्व दर्शन के अनुसार मोक्ष, ब्रह्म के साथ तादात्म्य न होकर भगवान् विष्णु का साक्षात्कार है। माध्वमत के अनुसार मुक्त पुरुष आनन्दानुभव अवश्य करता है परन्तु आनन्दानुभूति में भी परस्पर तारतम्य होता है। मुक्तावस्था में प्रत्येक जीव का आनन्दानुभव भिन्न होता है। मुक्ति के उपाय वैराग्य, शम, शरणागति, परमात्मभक्ति एवं जीवेश्वरादि का पंचविध भेदज्ञान है।

वस्तुतः मध्व के मत में अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर परमभक्ति उत्पन्न होती है और उसके बाद भगवान् के परम अनुग्रह का उदय होता है, तत्पश्चात् मोक्ष का जन्म होता है। इस द्वैतवाद में मोक्ष चार प्रकार का है– कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अविरादिमार्ग और भोग। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य भेद से भोग चार प्रकार का है। भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करना 'सायुज्य' है, जो समग्र भोगों में श्रेष्ठ माना जाता है। इन मुक्त जीवों में भी आनन्द का तारतम्य मानना माध्व मत की विशिष्ट कल्पना है।

द्वैताद्वैत में मोक्ष का स्वरूपः–

इस मत में भगवान् का अनुग्रह होने से जीव में भगवान् के प्रति रागात्मिका भक्ति का उदय होता है उसके द्वारा जीवात्मा को भगवान् का दर्शन प्राप्त होता है, तब जीव भगवान् के भावों से स्वतः व्याप्त हो जाता है और इस दशा में वह सदा के लिए क्लेशों से छुटकारा पा लेता है। निम्बार्क का यह वैशिष्ट्य है, कि उसके अनुसार मुक्तावस्था में भी जीव के कर्तृत्त्व में बाधा नहीं

पड़ती।[182] यही कारण है, कि मुक्तावस्था में भी जीव के द्वारा उपासना का विधान बतलाया गया है। निम्बार्कदर्शन के अनुसार मुक्ति इस संसारावस्था में संभव नहीं है। सांसारिक देह का विनाश होने पर ही, जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

शुद्धाद्वैत में मोक्ष का स्वरूपः—

अनुग्रह की दशा में जीव की स्थिति कैसी होती है? आनन्द—स्वरूप भगवान् प्रकट होकर जीव को अपने स्वरूप बल से अपने किसी भी प्रकार के संबंध मात्र से स्वरूपदान करते हैं, यही मुक्ति की दशा है, अर्थात् जीव के देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण में अपने आनन्द का स्थापन कर उसे अपने स्वभाव में स्थित कर देते हैं। यही जीव की मुक्ति है, अर्थात् अन्यथा भाव को, दुःख तथा जड़ता को छोड़कर स्वरूप से, आनन्दरूप से स्थित होना ही मुक्ति है, भागवत का यही मन्तव्य है। वल्लभाचार्य ने भी अपने सिद्धान्त में मुक्ति का यही रूप माना है। इस प्रकार जीव को आनन्दमय बना देना ही प्रभु की 'प्रकृति' है। प्रकृति का अर्थ —स्वभाव भगवान् का यह स्वभाव ही है कि वे जीव को अपने समान ही आनन्दमय बना देते है। 'पुरुषोत्तम' स्वयं सच्चिदानन्द रूप ठहरे, अतः वे जीवों को भी वही रूप प्रदान कर उन्हें आनन्दमय बना देते हैं। प्रभु का यह भाव 'स्वरूपापत्ति' कहलाता है, 'स्वरूप' का अर्थ ही है आनन्दमय रूप। इसे ही पाना मुक्ति है।

रामचरित मानस में मोक्ष का स्वरूपः—

अद्वैतवेदान्त के अनुसार आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर देहावसान के पूर्व ही आत्मा की जीवन्मुक्ति हो जाती है, अधिकतर वैष्णव वेदान्त के आचार्य जीवन्मुक्ति नहीं मानते। विदेहमुक्ति के भी अनेक प्रकार बतलाये गये है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि सालोक्यमुक्ति नाम—भक्तों का सारूप्यमुक्ति

सांख्ययोगी भक्तों का, समीप्यमुक्ति सेवाभिलाषी भक्तों का, और सायुज्यमुक्ति अद्वैतवेदान्ती निर्गुणोपासकों का इष्ट है।[183] समन्वयवादी तुलसी को जीव–मुक्ति तथा विदेहमुक्ति, और विदेहमुक्ति के उक्त चारो प्रकार मान्य है।[184] इनमें कोई विरोध नहीं है। ज्ञान और भक्ति का उदय ही मनोमुक्ति है। शरीरान्ते के बाद मुक्तात्मा अपने भावानुसार चैतन्यमात्र–स्वरूप से या परमात्मा में अभिन्न रूप से अथवा भगवान् के सदृश्य दिव्यगुणों से सम्पन्न होकर स्थिर हो सकता है।

रामचरितमानस में मुक्ति के तीन स्वरूप प्रमुख रूप से दिखाई देते हैं– 1. सायुज्य, 2. सालोक्य और 3. सारूप्य।

सायुज्यमुक्ति तुलसी = की भक्ति भावनानुसार मानस की शबरी अनन्य भक्ता के रूप में चिव्रित हुई है। वह अपना दैन्य प्रदर्शन करती हुई प्रभु के दर्शन पाकर आत्म–विभोर हो जाती है। भगवान्, राम उसकी तन्मयतासक्ति से प्रसन्न होकर कहते हैं–

मानउँ एक भगति कर नाता

सोई अतिसय प्रिय भामिनी मोरे। सकल प्रकार भगतिदृढ़ तोरे।।

इतना ही नहीं उसे परमाधिकारिणी समझकर भगवान् राम ने नवधा भक्ति का उपदेश दिया। इस प्रकार राम भक्ति में लीन शबरी योगाग्नि में देह त्यागकर सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करती है–

तजि–जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरै।[185]

कुम्भकर्ण भी इसी सायुज्य मुक्ति को प्राप्त किया था। रावण के द्वारा जगाये जाने पर उसके मुख से सीता–हरण एवं संग्राम आदि की सारी कथा सुनकर उसकी भर्त्सना करने वाला कुम्भकर्ण भी भगवान राम का पूर्ण भक्त प्रतीत होता है।[186] उसकी दृष्टि में जगज्जननी जानकी का अपहरण करके राक्षसराज रावण ने कोई अच्छा कार्य नहीं किया है। वह अब भी रावण के

कल्याण के लिए उसे अभिमान् छोड़कर राम–भजन करने का परामर्श प्रदान करता है।[187] राम के परब्रह्मत्व से वह पूर्णतः परिचित है। तभी तो रावण से वह कहता है–

है दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनुमान से पायक।

अहह बन्धु तैं कीन्हि खोटाई। प्रथमहिं मोहिन सुनाएहि आई।।

कीन्हेंहु प्रभु विरोध तेहि देवक। शिव विरंचि सुर जाके सेवक।।[188]

रावण से विदा लेकर रणभूमि में त्रयतापमोचन भगवान राम से लड़ने के लिए जाते समय उनके दर्शन की कल्पना से वह गद्–गद् हो जाता है।[189] इतना ही नहीं राम के रूप और गुणों का स्मरण करके वह एक क्षण के लिए प्रेम–मग्न भी हो जाता है।[190] उसकी यह प्रेम–मग्नता शिव की प्रेम मग्नता से कदापि कम नहीं है।[191] रणभूमि में विभीषण से साक्षात्कार होने पर उसे राम के शरणापन्न होने एवं उनका भजन करने के कारण वह उसे अपने राक्षसकुल को देदीप्यमान करने वाला भूषण घोषित करते हुए अनेकानेक धन्यवाद देता है।[192] तथा मन, वचन एवं कर्म से कपट छोड़ कर उनकी ओर भी भक्ति करने का परामर्श देता है। पर वह स्वयं शत्रु भाव से राम की भक्ति करता है और अन्ततः मरने पर उसके शत्रुभाव की भक्ति का सुपरिणाम यह हुआ किः–

तासु तेज प्रभु वदन समाना। सुरमुनि सबहिं अचम्भव माना।।[193]

इसी प्रकार रामचरितमानस के प्रति नायक असत् प्रवृत्तियों की साक्षात् प्रतिमूर्ति रावण को भी भगवान् राम ने सायुज्यमुक्ति प्रदान की थी वह भगवान् राम का आमरण प्रबल शत्रु होते हुए भी ह्रदय से उनका परम भक्त था उसकी भक्ति बैर भाव की थी यद्यपि उसे भगवान् राम के अवतार का पता था और उसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था किः–

सुर रंजन भंजन महि भारा। जौ जगदीस लीन्ह अवतारा।।

तो मैं जाइ वैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजें भवतरऊँ।

होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम वचन मन्त्र दृढ़ एहा।।[194]

रावण ने अपने इस दृढ़ निश्चय के अनुसार भगवान् राम के प्रति सुहृदजनों के सत्परामर्श देने पर भी अपने बैर भाव की भक्ति का पूर्ण निर्वाह किया। उसके वैरभाव की भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् राम ने भी अन्ततः उसे वह गति प्रदान की जो योगिवृंद को भी दुर्लभ रहती है।[195] इतना ही नहीं मरने पर उसका तेज भगवान् राम के मुख में समाहित हो गया।[196]

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन।।

<u>सालोक्य मुक्तिः–</u>

विश्व विश्रुत योद्धा बालि भगवान राम के भक्त थे। जब भगवान् राम ने उसके हृदय में बाण मारकर उसे आहत कर दिया और उसी अवस्था में अपने तपस्वी रूप में उसके समक्ष उपस्थित भी हो गये। बालि उनका दर्शन प्राप्त कर उनके चरणों में अपने चित्त को केन्द्रित कर अपना जीवन सफल कर लिया–

स्याम गात सिर जटा बनाएँ–अरुन नयन सरचाप चढ़ाएँ।।

पुनि–पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा।।[197]

वह परब्रह्म राम को जानता था उसके हृदय में भगवान् के चरणों के लिए घायल होने पर भी पूर्ववत् प्रीति बनी हुई थी उसने भगवान राम से अपने मारने का कारण भी पूंछा तथा अपने प्रश्नों का उत्तर पाकर राम के समक्ष कोमल वाणी में अपनी दीनता प्रदर्शित की, भक्त के दैन्य से प्रभावित होकर भगवान ने उसके सिर को अपने हाथों से स्पर्श किया और कहा कि मैं तुम्हारे शरीर को अचल कर देता हूँ तुम प्राणों को रक्खो। पर भक्त बालि तो इस तथ्य से परिचित था कि मुनि गण प्रत्येक जन्म में अनेक प्रयत्न एवं साधन करते रहते हैं फिर भी अन्त काल में उनके मुख से राम–नाम का उच्चारण नहीं निकल पाता। वे

भगवान् राम साक्षात् मेरी ऑखों के समक्ष समुपस्थित हैं। ऐसा सुअवसर शरीर का त्याग करते समय क्या फिर कभी सम्भव है, यह सोचकर उसने अपनी नश्वर शरीर की रक्षा की कामना का परित्याग कर दिया। एक महान् भक्त की तरह बालि ने भगवान राम से एक मात्र यही याचना की थी–

जेहि जोनि जन्मऊ कर्म बस तहँ राम पर अनुरागऊँ।[198]

यह कहते हुए अपने पुत्र को भी भगवान् राम के श्री चरणों में समर्पित करके उसका तथा अपना जीवन कृतकृत्य कर दिया। ऐसे भक्त बालि को भगवान राम ने सालोक्य मुक्ति प्रदान की–

राम बालि निज धाम पठावा।[199]

विभीषण को भी राम इसी सालोक्य मुक्ति का वरदान देते हैं और संतो को साधारणतया यही सालोक्य मुक्ति प्राप्त होती है–

करेउ कल्प भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं।

पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं।।[200]

अंतकाल रघुपतिपुर जाहीं

बिनु स्रम राम धाम सिधावहीं।[201]

सारूप्य मुक्तिः–

रामचरित मानस के जटायु गृद्ध को सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई थी। जटायु मन, वचन एवं कर्म से पूर्णतः राम भक्त हैं और उन्होंने अपने पवित्र कर्मो के बल पर सद्गति प्राप्त की है। तभी तो भगवान राम सजल नेत्रों से अपनी वाणी में जटायु की भूरि–भूरि प्रशंसा की है–

जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निजतें गति पाई।।

परहित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछुनाहीं।।

तनु तजि तात जाहु मम धामा। देऊँ काहतुम्ह पूरन कामा।।[202]

वस्तुतः गृद्धराज जटायु राम भक्तों में अग्रगण्य हैं जिसने साक्षात् भगवान् राम के अंक में लेटकर उनकी आँखों से प्रवाहित अश्रुधाराओं में स्नान कर तथा उनके वचनामृत का पान करते हुए अपने क्षणभंगुर शरीर का परित्याग किया, उनकी इस मृत्यु की प्रभुता का वर्णन तुलसी दास जी ने ठीक ही लिखा है–

मुए, मरत, मरिहैं सकल घरी पहर के बीच।

लहू क कांहू आजु लौं गीधराज की मीच।।[203]

भक्ति का ऐसा सुन्दरतम पुरस्कार का सौभाग्य मानस के अन्य किसी भी भक्त को उपलब्ध नहीं हो सका है। भक्ति के प्रभाव से भगवान ने मांसाहारी अधम पक्षी गीध को भी वह दुर्लभ गति प्रदान की जिसकी याचना योगिगण भी किया करते है–

गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा।

स्याम गात विसाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी।[204]

पर साथ ही उसे सालोक्य मुक्ति की प्राप्ति होती है, राम उसे बर यही देते हैं और वह अन्त में 'हरिधाम' को जाता भी है।

तनु तजि तात जाहु मम धामा। देहुँ काह तुम्ह पूरन कामा।[205]

अविरल भगति माँगि बर गीध गयउ हरिधाम।[206]

और जब पीछे उसकी सद्‌गति का उल्लेख किया जाता है, तो कहा जाता है कि वह 'हरिपुर' गया–

हरिपुर गयउ परम बड़ भागी।[207]

इसी प्रकार गोस्वामी जी ने स्वीकार किया है कि जो भक्त भगवान् राम द्वारा स्थापित रामेश्वर भगवान् शिव का अभिषेक गंगा जल से करते हैं उन्हें सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है–

जो गंगा जल आनि चढ़ाइहि, सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि।[208]

रामेश्वर का दर्शन ही राम के साथ सालोक्य मुक्ति के लिए पर्याप्त है– जो रामेश्वर दरसनु करिहहिं, ते तनु जति ममलोक सिधरिहहिं।[209]

रामचरित मानस में भक्तों के ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहाँ भक्त मोक्ष का निरादर कर भगवान से भक्ति की याचना करते हैं–

मोक्षः निरादर भगति लुभाने।

यद्यपि भक्त के लिए अभेदयुक्त मोक्ष श्रेयस्कर है फिर भी भगवान राम के चरणों में वे मोक्ष को न्यौछावर करते हुए उनसे भेदभक्ति की ही याचना करते हैं। इसलिए वे मोक्ष के द्वारा भगवान् में लीन न होकर वैकुंठ की यात्रा करते हैं। सरभंग ऋषि अपना योग, यज्ञ जप, तप, व्रत इत्यादि जो कुछ उन्होंने अपने जीवन में किया था, वह सब राम को देकर उनसे भक्ति का वरदान प्राप्त करते हैं, और योगाग्नि में अपनी शरीर को छोड़ कर भी हरिलीन नहीं होते हैं।

जोग जग्य जप तप जत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा।––

सीता अनुज समेत प्रभु नील नीरधर स्याम।

मय हिय बसहुँ निरन्तर सगुन रूप श्रीराम।।

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। राम कृपा बैंकुंठ सिधारा

ताते मुनि हरिलीन न भयऊँ। प्रथमहि भेद भगति वर लयऊँ।'

दशरथ भी भेद–भक्ति में दत्त चित्त हैं, इसलिए राम उन्हें जब दृढ़ ज्ञान देते हैं, वे उस दृढ़ ज्ञान को प्राप्त कर भी मोक्ष नहीं लेते, बल्कि हर्षित होकर 'सुरधाम' जाते हैं–

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितइ पितहिं दीन्हेउ दृढ़ ग्याना।।
तातें उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगतिमन लायो।
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं।।
बार बार करि प्रभुहि प्रनामा। दसरथ हरषि गएउ सुरधामा।[211]

इस भेद–भक्ति को कागभुशुंड़ि आगे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं–

ग्यान अखंड़ एक सीता बर। मायावस्य जीव सचराचर।
जौं सबके रह ज्ञान एक रस। ईस्वर जीवहिं भेद कहहु कस।
मायावस्य जीव अभिमानी। ईस वस्य माया गुनखानी।
परवस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरिजाइ न कोटि उपाया।––
हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या। प्रभुप्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या।
तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर।[212]

ईश्वर जीव का यह भेद 'सुधा' है जैसा कि उपरोक्त चौपाई में वर्णित है, और ज्ञान के प्राप्त होने पर यह 'भेद–भ्रम' नष्ट हो जाता है–

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तवभवमूल भेद भ्रम नासा।[213]

फिर भी राम के भक्त, राम भक्ति भेद भावना से ही करते हैं।

निष्कर्षः—

वस्तुतः राम चरित मानस में गोस्वामी जी ने काव्य मोक्ष शास्त्र और समाज दृष्टि से सर्वतोमुख समन्वय का विधान किया है। मोक्ष या मुक्ति के संबंध में भी तुलसीदास जी ने पूर्वाचार्यो के सिद्धान्तों का पूर्ण सम्मान किया है, किन्तु वैष्णव आचार्यो के सिद्धान्तों को ही अपना ध्येय माना है राम भक्ति ही गोस्वामी जी का चरम लक्ष्य है जिसके माध्यम से राम भक्त मोक्ष या मुक्ति सुगमता पूर्वक प्राप्त कर सकता है।

धर्म न अर्थ न काम रूचि पद न चहउँ निर्वान।

जनम–जनम रति राम पद् यह वरदान न आन।।

———0———

सन्दर्भ सूची

पंचम अध्याय

1— वृहदा0 4 / 4 / 2

2— रामानुजवेदार्थसंग्रह पृ0 45—46 3— म0सि0सा0 पृ0 69

4— सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। गीता 18 / 66

5— भागवत् सम्प्रदाय पृ0 223—224 6— श्रीमदभागवत 2 / 10

7— मुण्डकोपनिषद 3 / 2 / 3

8— वैष्णवमताब्ज भाष्कर श्लोक सं0 65

9— वैष्णवमताब्जभाष्कर श्लोक सं0 187

10— वशिष्ठसंहिता 11— मानस 1 / 18 / 5

12— अ0रा0 3 / 6 / 64 13— का0 1 / 2 / 16

14— राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम

अपर नाम उडगन विमल बसहुँ भगत उर व्योम मा0 3 / 42

15— जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा मा0 1 / 15 / 4

16— जासु नाम पावक अघ तूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला

मा0 — 2 / 240 / 2

17— रकारो वह्निःवचनः प्रकाशः पर्यवस्यति।सचिदानन्द रूपोऽस्यपरमात्मार्थ उच्चते।

व्यंजन निष्कलं ब्रह्म प्राणो मायेति च स्वरः। व्यंजने स्वर संयोगं

विद्धितत्प्रणयोजनम्।।

रेफे ज्योतिर्मये तस्मात् कृतमाकार योजनम्। मकारोऽभ्युदयार्थत्वान स

मायेति च कीर्त्यते (रामरहस्य उपनि0 अ0 3–6)

18– नृ0पु0

19– काशीरहस्यम्

20– रा0उ0ता0 1/2

21– रा0उ0ता0 1/6

22– रा0मी0 पृ0 805

23– रा0उ0ता0 1/6

24– रा0मी0 पृ0 806

25– रा0मी0 पृ0 806

26– कामधेनुतन्त्रम्

27– आलवन्दार स्तोत्रम् 34

28– अथर्व सं0 10/2/31

29– अथर्व0सं0 10/2/32

30– अथर्व सं0 10/2/33

31– मानस

32– मानस 1/207/7

33– मा0 1/18/3

34– मा0 1/20/46

35– भव भय भंजननाम प्रतापू मा0 1/23/6

36– नामु सकल कलि कलुष निकंदन, मा0 1/23/8

फिरत सनेह मगन सुख अपने। नामप्रसाद सोच नहिं सपने ।।

37– मा0 3/41/8

38– नाम रूप गति अकथ कहानी मा0 1/20/6

39– यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि, गीता 10

40– मानस 1/20/7

41– राम नाम कर अमित प्रभावा। वेद पुराण उपनिषद गावा।।

मा0 1/45/2

42– अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ।। गीता 8/4

43– प्राण, अपान, उदान, समान व्यान तथा नाग, कूर्म, कृकल देवदत्त

धनंजय, = दश वायु

44– नवद्वारे परे देही हंसो लेलायते बहिः।। श्वेता0 3/18

एकोहंसोभुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टःश्वे0 6/15

45– भूमौ शयानां शोचन्तीं रामरामेति भाषणीम् अ0रा0 5/2/10

46– अ0रा0 6/16/13–14

47– अ0रा0 7/5/49, 50

48– तुलसीदर्शन पृ0 175

49– महारामायण

50– श्रवण – "यो जातस्य महतो त हि ब्रवत्सेदुश्रुवोनिर्युज्य चिदभ्यसत्

ऋग्वेद नं0 1/अ/56/मंडल

कीर्तन – विष्णोर्णुकं वीर्याणि प्रबोधं यः पार्थिवानि विममेरजांसि।

ऋग्वेद 1/154/1

स्मरण – प्रविष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरण्यगायाय वृष्णे।

ऋग्वेद–1/154/3

स्मरण का और भी उदाहरण वेद में मिलता है। वेद कहता है

त्वामग्ने मनीषिणस्त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः। त्वां वधन्तु नौ गिरः।।

51– अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्।

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।। अहिर्बुध्न्यसंहिता

आत्मनिक्षेपकार्यण्ये षडविधा शरणागतिः 37/282/9/28–29

52– ऋग्वेद 8/63/10, 8/66/13, 1/30/8, 10/21/4, 2/33/7

53– ऋग्वेद 10/121/4

54– पवमानस्य ते वयं पवित्रभ्युन्दतः।

सखीत्वया वृणीमहे। ऋगवेद – 6/61/4

55– अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विशा उषतीरनुभूषत

परिख्वज्यन्ते जनयो यथापतिं मयं न शुनध्युंमघवानभूतये।।ऋ010/43/1

56– शाण्डिल्यभक्तिसूत्रम् – 1/2/9

57– भक्ति का विकास भक्ति का स्वरूप पृ0 105 – डॉ0 मुंशी राम शर्मा

58– नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।। कठो0 1/2/23

59– यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता हयर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।श्वेता0 6/23

60– छान्दोग्यो0 1/11/21

61– यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। 6/18

62– तमक्रहुः पश्यति बीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः। कठो0 1/2/20

63– सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिप्यामि मा शुचः। गीता 18/66

64– ऋग्वेद 1/156/2

65– मन्त्रांश में जो 'चित्' पद है, उसका अर्थ है चेतन अर्थात जीव।

चेतति इति चित्। चिती 'संज्ञाने + क्विप्।

66– श्रवः श्रवणम्। श्रु + असुन्।

67– ब्रह्मसूत्र (4/4/1) 68– ऋग्वेद 1/154/1

69– ऋगवेद 1/155/4 70– ऋगवेद 1/156/3

71– ऋग्वेद 1/156/3 72– ऋग्वेद 7/99/7

73– ऋगवेद 7/100/4 74– ऋग्वेद 7/100/5

75– ऋगवेद 1/154/3 76– ऋगवेद 1/154/4

77– ऋग्वेद 1/155/1 78– यर्जुवेद 31/20

79– ऋग्वेद 1/556/3 80– ऋग्वेद 1/154/5

81– ऋग्वेद 1/156/1 82– ऋग्वेद 1/156/4

83– ऋग्वेद 1/156/2 84– वा0रा0 6/18/33

85– गीता 18/66

86– यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।। श्वे0उप0 6/25

87– कठोपनिषद् 1/2/15 88– श्रीमदभागवत् 1/5/12

89– राम0मा0सु0 1

90– सा परानुरक्तिरीश्वरे। – शां0भ0सू0 2

91– सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा – ना0भ0सू0 2

92– अमृतस्वरूपा च। ना0भ0सू0 3

93– नारदस्तु–तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमं व्याकुलतेति– ना0भ0सू019

94– प्रमाणान्येतस्यानपेक्षणात् स्वयं प्रमाणरूपत्वात्।। ना0भ0सू0 19

95– शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च। ना0भ0सू0 60

96– ब्रह्मसूत्र शां0भा0 4/1/1

97– ब्र0सू0 श्री भाष्य 1/1/1

98– भक्तिरसायनम् 1/3

99– भागवत पुराण 3/29/11

100–श्वे0उ0 6/23

101– वा0रा0 6/18/16,17

102–वा0रा0 6/18/33

103– पा0सू0 3–3–94

104–पा0सू0 8–2–30

105– श्रीमदभागवत् – 75–23

106– श्री कृष्ण श्रवणे परीक्षिदभवत् वैयासकिः कीर्तने।

प्रह्लाद स्मरणे तदड्घ्रि भजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।।

अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्ये च सख्येऽर्जुनः।

सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां फलम्।।(लघुभागवतामृतम्)

107– पा0सू0 1–4–89

108– आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।

न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन् यो रीतिचाशिषः।।

अहंत्वकामस्त्वद भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।

नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव।। (भागवत् 6–10–5–6)

109– कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति – गीता।। 9–31

110– पा0सू0 6/4/24

111– अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।

जरयत्याशु वै कोशान् निगीर्णमनलो यथा । भागवत 3–25–33

112– पा0सू0 7–1–39

113– सा तु ज्ञान कर्म योगेभ्योऽप्यधिकतरा। ना0भ0सू0 2/1

114– न नाक पृष्ठं न च पारमेष्ट्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।

न योग सिद्धिरपुनर्भवं वा समंजसत्वां विरहय्य कांये।।

भागवत0 6/11/25

115– रा0मा0 अयोध्याकांड दोहा–215 116–गीता 2/40

117– नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोमते ज्ञानमलं निरंजनम्।

कुतः पुनः शाश्वद् भद्रमीश्वरे, न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्।।

श्रीमदभागवत 1/5/12

118– गीता 18 119–फलरूपत्वात् ना0भ0सू0 2/2

120– सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति। कठो0 2–15

121– कर्मणः सुकतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् – गीता 14/16

122– प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा।।

123– भक्त्याहमेकया ग्राहयो श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः एताम्।

भक्तिः पुनातिमन्निष्ठा श्वपाकानापि सम्भवात्। भा0 11/14/21

124– मानस उत्तरकांड 49/5,6 125–गीता 18/55

126– मानस बालकांड 37/14

127– हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 140

128– मानस, 3/15/2 129–मानस 3/10/21

130– मानस 2/102

131– मा0 3/34/8 से 3/35/5 तक

132– मा0 2/127/3 से 2/13 तक

133– मा0 3/15/8

134– करउँ सदा तिन्हकी रखवारी/जिमिबालक पालहिं महतारी।।

135– श्रीमदभागवत् 3/29/12

136– मा0 31 से0सं034 एवं 35 की चौपाइयां

137– अ0रा0अर0 10/22–26

138–मा0 7/100/ख

139– मा0 7/120

140–मा0 1–22–1–6

141– मा0 1–22, 6–7

142–श्रीमदभागवत् 7–16

143– मा0 6–112/6–7

144–मा0 1,22 1–2

145– मा0 1, 22–3

146–मा0 1, 22–4

147– मा0 1, 22–5

148– 1–128, 4–2, 13, अयोध्याकांड (मानस)

149– तुलसीदर्शन पृ0 282

150–मानस उत्तरकांड

151– मानस उत्तरकांड – 41

152–मानस उत्तरकाण्ड, 49

153– मानस किष्किंधाकाण्ड, 16

154–मानस 7, 115

155– मानस 7, 45

156–मानस उत्तर0 117–119

157– मानस उत्तर0 45

158–मा0 उत्तरकांड – 116

159– मानस उत्तर0 120

160–मानस 7/120

161– मानस 7/120

162–मानस 6/80

163– विनयपत्रिका 88/3, 245/3

मानस 7/49/3

164– मानस 3 / 17 / 1–7

165– दोहावली 555 मानस 7 / 100 / 1 / 22 / 4 देखिए गीता 7 / 16

166– तुलसीदर्शन मीमांसा पृ0 176 / 92

167– रामचरितमानस 1 / 12 / 4, दोहावली, 7

168– सर्व वे0 सि0सं0

169–श्रीमदभागवत, 10 / 14 / 26

170– न्या0सू0 1 / 1 / 2

171–न्या0सू0 1 / 1 / 22

172– वै0सू0 5 / 2 / 18

173–सांख्यसप्तति 63

174– वाजसनेयि सं0 31 / 18 श्वेताश्वरोपनिषद 3 / 8, 6 / 15

175– कैवल्योपनिषद्

176–कैवल्यो0 9

177– छान्दोग्योप0

178– कैवल्योपनिषद् 10, गीता 6 / 29 + 32 तक

179– श्रीमदभागवत् 11 / 11 / 1, 8

180–श्रीमद्भागवत् 11 / 13 / 14

181– श्रीमदभागवत 11 / 22 / 31–33

182– वेदान्तपारिजातसौरभ ब्र0सू0 2 / 3 / 32

183– मुण्डकोपनिषद् 1 / 15–25

184– दोहावली 225, मानस 3 / 19 / 1–3 / 32 / 1,7 / 4 / 3, 3 / 8 / 3

185– मानस अरण्य0 36

186–मा0 6, 62

187– मा0 6, 63, 1,2

188–मा0 6, 63,3–5

189– मा0 6, 63, 7–8

190–मा0 6, 63 (पू0)

191– मा0 1, 111

192–मा0 6, 64, 8–9

193— मा0 6, 71, 8

194—मा0 3, 23, 3—5

195— मा0 6, 104 (उ0), 6, 114, 10

196—मा0 6, 10, 39 (पू0)

197— मा0 4, 9, 2—3

198—मानस 4 / 10 / 11

199— मा0 किष्किंधा0 11

200—मा0 उत्तर0 15

201— मा0 उत्तर0 130

202—मा0 3, 31, 8—10

203— दोहावली दो0 224

204—मा0 अरण्य0 32

205— मा0 आरण्यका0 31

206—मा0 अरण्य0 32

207— मा0 अरण्यका0 32

208—मानस लंका कां0 3

209— मानस लंका0 3

210—मानस आरण्यका0 8—9

211— मानस लंका0 112

212—मानस उत्तरका0 78—79

213— मानस उत्तर0 118

———0———

उपसंहार

(क) वेदान्तसम्प्रदाय के वादों के परिप्रेक्ष्य में "रामचरितमानस"

(ख) वेदान्त के सभी सिद्धान्तों का समन्वयक ग्रन्थ "रामचरितमानस"

उपसंहार

गोस्वामी तुलसीदास जी की आध्यात्मिक मान्यताओं पर वेदान्त के किस मत का सर्वाधिक प्रभाव है और वह भी किस अंश तक है, यह प्रश्न बिना उनके विचारों को सम्यक् रूप से समझे समाहित नहीं हो सकता है। इतना जरूर कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने जो कुछ कहा वह श्रुति सम्मत ही कहा। उनकी नवीनता यदि कुछ थी, तो केवल उपयुक्त विषय के संग्रह और अनुपयुक्त विषय के त्याग में थी परन्तु इतना होते हुए भी उन्होंनें जो सिद्धान्त रामचरितमानस द्वारा सर्वसाधारण के सामने रख दिये हैं, उन पर उन्हीं की अमिट छाप पड़ी हुई हैं। इसलिए यदि हम उन सिद्धान्तों के समूह को तुलसी मत कह दें तो किसी प्रकार का अनौचित्य न होगा।[1]

सन्त तुलसीदास न निरे अद्वैतवादी थे और न निरे विशिष्टाद्वैतवादी, रामचरितमानस में उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी प्रतीत होता है। अतः यहां पर शोध प्रबन्ध के उपसंहार के रूप में वेदान्त और रामचरितमानस के दार्शनिक विचारों का समन्वयात्मक अध्ययन किया जायेगा। रामचरितमानस में ब्रह्म, जीव, जगत, प्रकृति, माया, भक्ति तथा मोक्ष सम्बन्धी विचारों का वेदान्त सम्बन्धी सिद्धान्तों से कितना साम्य तथा वैषम्य है, यह विचारणीय है।

तुलसीदास जी ने अपनी कृतियों में प्रमुख रूप से "वियपत्रिका" और "मानस" में इन रहस्यों के उद्घाटन का प्रयास किया है। ब्रह्म जीव और माया के संबंध में उनकी अनेक उक्तियाँ तथा विचार उपलब्ध हैं। परमात्मा एक हैं या अनेक यह प्रश्न स्वयं अपने आप में पूर्ण होता हुआ भी माया, जीव और जगत् के प्रश्न के साथ संबद्ध है। तुलसी की कृतियों में उपर्युक्त प्रश्नों पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है और वे एक समर्थ दार्शनिक के समान जिज्ञासा कर समाधान करते हैं। तुलसीदास के आलोचकों ने अपने–अपने मतानुसार तुलसी को "वादों" के

सीमित संकुचित कटघरे में खड़ा कर देखने का यत्न किया है। राम ब्रह्मा और विष्णु से ज्येष्ठ भी है तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश से अभिन्न भी। एक तरफ राम परम ब्रह्म निर्गुण, निराकार के पर्यायवाची हैं, दूसरी तरफ ब्रह्म, विष्णु और महेश के व्यक्त रूप। तुलसी की ब्रह्म विषयक इस व्यापक मान्यता के कारण कोई उन्हें द्वैतवादी, कोई अद्वैतवादी और कोई विशिष्टा द्वैतवादी मानता है। फलतः एक व्यापक भ्रम का प्रसार होता है कि तुलसी के राम क्या हैं और उनकी ब्रह्म संबंधी मान्यता क्या थी?

<u>अद्वैतवाद–</u>

कुछ आलोचकों और विचारकों की धारणा है कि तुलसीदास जी एक परमात्मा को मानने वाले अद्वैतवादी थे। उन्होंने अपनी कृतियों में आदिशंकराचार्य के अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन कर अद्वैत ब्रह्म की श्रेष्ठता सिद्व की है। पं0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी का विचार है कि तुलसीदास "दार्शनिक सिद्धान्तों में शंकराचार्य के अद्वैतवाद के अनुगामी है"।[2] श्री विजयानन्द त्रिपाठी जी ने भी गोस्वामी जी के काव्यों की अन्तरंग और वहिरंग समीक्षा कर उन्हें अद्वैतवादी कहा है। डॉ0 बलदेव मिश्र ने भी उनके मत का समर्थन किया है, उन्होंने लिखा है– "गोस्वामी जी कुछ खण्डन मंड़न वाले आचार्य तो थे नहीं इसलिए उन्होंने परमार्थिक और व्यवहारिक दोनों दृष्टिकोणों का यथा स्थान उपयोग किया है और दोनों को पूरी महत्ता दी है। परन्तु उनके समूचे सिद्धान्त वाक्यों को भली भाँति स्वाध्याय करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यथार्थ दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैत है।[3]

आचार्य पं0 रामचन्द्र शुक्ल भी तुलसी को अद्वैत वादी मानते हुए लिखते है– "परमार्थ दृष्टि से शुद्वज्ञान की दृष्टि से तो अद्वैतमत गोस्वामी जी को मान्य है।"[4]

आलोचकों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान केन्द्रित करने पर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम पहले यह जान ले कि अद्वैतवाद क्या है? शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद क्या है? अद्वैत का अर्थ होता है दो नहीं एक। परमात्मा और जीवात्मा दो नहीं है परमार्थतः एक है और इसी मान्यता को अद्वैत की संज्ञा दी गई है। भगवान शंकराचार्य जी के विचार से उपनिषदों का निचोड़ अद्वैत मत ही है और उसमें ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। यह नाम रूप गुण लीला लाभ' वाला दृश्यमान् जगत परमार्थ सत्य नहीं है, सपने की तरह मिथ्या और भ्रामक है। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवों ब्रह्मैव नापरः।" शंकराचार्य जी की अद्वैत विषयक स्थापनायें यह है कि–

1. 'सर्व खल्विदं ब्रह्म ने नेनास्ति किञ्चन–" ब्रह्म सर्वव्यापक, निर्गुण चरम सत्य ज्ञान स्वरूप, मन बुद्धि वाणी और इन्द्रियों से परे है।

2. जीवात्मा परमात्मा ही है, किन्तु भ्रम के कारण जीवात्मा अपने को परमात्मा से भिन्न समझती है।

3. सृष्टि मानव का भ्रम है, मिथ्या है। वास्तव में सृष्टि कुछ नहीं है शून्य है।

4. सृष्टि के मिथ्यातत्व का ज्ञान "सोऽहस्मि" का भान कराता है। जीवात्मा अव्यक्त, निर्गुण, अचिंत्य ब्रह्म है, इसका ज्ञान होता हैं और जप तप दान, क्रिया और कर्म आदि ब्रह्म प्राप्ति या ज्ञानोपलब्धि के साधन हैं।

5. अविद्या या माया के कारण ही जीवात्मा संसारिक झंझटों या बन्धनों में फँसती और हर्ष, सुख–दुख की अनुभूति करती है।

"सोऽहं" के साथ जगत् का मिथ्यात्व का संयुक्तीकरण सम्भावित करने के कारण भगवान शंकराचार्य के मायावाद की भिन्न–भिन्न व्याख्यायें की गई हैं। रानाडे[5] ने उन व्याख्याओं को इस प्रकार व्यक्त किया है शंकराचार्य के

माया के सिद्धान्त को स्पष्ट करने वाले तीन भिन्न सिद्धान्त बताये गये है, प्रथम के अनुसार माया शंकर की उर्वर प्रतिभा का एक जाल मात्र है, दूसरे के अनुसार शंकर का माया सिद्धान्त बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित है और तीसरे के अनुसार शंकर के माया सिद्धान्त का विस्तृत रूप उपनिषदों में है, जिसके वह व्याख्याता मात्र है।'[187] चाहे शंकर द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म और मायावाद के संबंध में कितने ही विवाद क्यों न हो परन्तु तुलसी की रचनाओं में ऐसी पंक्तियाँ सरलता से मिल जाती है, जिन पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद की छाया स्पष्ट है।

(क) सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा। दीप शिखा सोइ परम प्रचंडा।।

आतम अनुभव सुख सुप्रवासा। तव भव मूल भेद भ्रमनासा।।[6]

(ख) जय–जय अविनासी घट घट वासी व्यापक परमानंदा।[7]

(ग) जौं सबके रह ग्यान एक रस।

ईश्वर जीवहिं भेद करहु कस।।[8]

(घ) मै तोहिं अब जान्यों संसार।

बांधिन सबहिं मोहि हरि के बल, प्रगट कपट आगार।[9]

(च) श्रुति–गुरु–साधु–स्मृति संमत यह दृश्य असत दुखकारी।।[10]

(छ) धुवाँ कैसे धौरहर देखि तू न भूल रे।।[11]

(ज) नाचत ही निसि दिवस मर्‌यो।

तबही ते न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धरयो।।[12]

उक्त तात्विक आधारों पर तुलसीदास जी को अद्वैतवादी सिद्ध किया जाता है। चतुर्वेदी जी ने मानस के अनेक स्थलों की चर्चा मनोनुकूल विस्तार के साथ कर तुलसी को शांकर सिद्धान्तानुयायी बतलाया है। निम्नलिखित प्रकरणों से–

1. 'रामचरित मानस' के बालकांड के मंगलाचरण में अद्वैतवाद और मायावाद है।[13]

2. मानस के बालकांड के मंगलाचरण में राम के अद्वैत ब्रह्म रूप का उल्लेख है।[14]

3. 'मानस' के सुन्दरकांड में शंकराचार्य के अध्यास, विवर्त और माया का उल्लेख है।[15]

4. 'राममय' जगत में अद्वैतवाद का समर्थन है।

5. 'राम' को अज, अनीह, अरूप अनाम मानता अद्वैतवाद का प्रमाण है।[16]

6. ब्रह्म और माया का जल–बीचि की तरह संबंध मानकर और भेदाभेद द्वारा अनिर्वचनीयता को स्वीकृति देकर तुलसी ने शंकराचार्य के वेदान्त की पुष्टि की है।[17]

7. नाम और रूप परमात्मा की उपाधि है, यह 'उपाधिवाद' शंकर का 'सारभूतवाद' है।[18]

8. राम निर्गुण ब्रह्म और एक है।[19]

9. राम व्यापक ब्रह्म के अवतार है।[20]

चतुर्वेदीजी की इस पूर्वकल्पित धारा (कि तुलसीदास अद्वैतवादी थे और शंकर मत के अनुगामी थे) का खंड़न रामकृष्ण जी ने विस्तारपूर्वक 'गोस्वामी तुलसीदास के दार्शनिक विचार' नामक निबंध में तर्कसम्मत ढंग से किया है। "श्री गोस्वामी जी शंकराचार्य जी के ही अनुगामी है कहना वास्तव में सत्य नहीं है।"[21]

डॉ राजपति दीक्षित भी इससे सहमत हैं और लिखते हैं– [22] तुलसी

और शंकर के अद्वैतवाद के आधार पर किसी विचारशील व्यक्ति का यही निर्णय होगा कि गोस्वामी जी का दार्शनिक दृष्टिकोण शंकर अद्वैतवाद नहीं है।''

सत्य तो यह है कि पदों की श्लिष्टता के कारण उद्धृतांश के कई अर्थ हो सकते हैं और भिन्न व्याख्यायें ग्रहण की जा सकती है। श्लिष्ट पद से भिन्न अनेक ऐसे स्थल रेखांकित किये जाते हैं जो अद्वैतवाद की मान्यताओं से सर्वथा भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। फलतःकथित प्रसंग को केवल अद्वैतवाद के फ्रेम में जड़कर देखना औचित्य पूर्ण कदापि नहीं है।

साथ ही साथ यहाँ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि चतुर्वेदी जी के तर्कों में सार भी है। उक्त श्लोकों में अद्वैत मत भी सन्निहित है और अन्य मत भी। कारण कि तुलसीदास समग्रजनता की मान्यताओं का एक सचित्र स्वरूप रखना चाहते थे और इस क्षेत्र में वे पूर्ण सफल हुए हैं।

''नानापुराण निगमागम'' विज्ञ और 'नानापुराणनिगमागम सम्मतं' लिखने वाले तुलसी के समक्ष दार्शनिक विचारधारा अपने व्यापक रूप में अवस्थित थी और इस विचार धारा को काव्य में आबद्ध करने के लिए वैसी ही विराट रंगस्थली की आवश्यकता थी। फलतः गोस्वामी जी ने अद्वैत को भी मान्यता दी ऐसा हम निःसन्देह स्वीकार कर सकते हैं।

कतिपय आलोचकों ने गोस्वामी जी को विशिष्टाद्वैतवादी सिद्ध करने का प्रयास किया है, और हिन्दी साहित्य के अधिकांश विद्वान–समीक्षक तुलसीदास को विशिष्टद्वैतवादी मानते है। यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि विशिष्टाद्वैत क्या है? और इसकी मान्यतायें क्या हैं? ब्रह्म अद्वैत है, किन्तु विशिष्ट है, इस मत की मान्यता विशिष्टाद्वैत है। रामानुजाचार्य ने वादरायण के ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिख कर (श्रीभाष्य) विशिष्टाद्वैत की प्रधान अवतारणा की।[23]

वेदान्त दर्शन के इस नवीनीकरण से 'पुरूष सूक्त' का विराट् पुरूष

प्रपत्ति का अधिकारी बना। रामानुजाचार्य ने पुराण और सांख्य के आधार पर शंकराचार्य जी के मायावाद का पूर्ण खण्डन किया। और 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के आधार पर चित्, अचित् और ईश्वर की मान्यता स्वीकार कर ईश्वर को अन्तर्यामी माना। चित् और अचित् को अन्तर्यामी परमात्मा की विभूतियाँ समझा।[24] विद्वानों ने जिस आधार पर तुलसीदास जी को विशिष्टाद्वैतवादी कहा है, उस सिद्धान्त की चर्चा यहाँ उपयुक्त होगी। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की मान्यतायें इस प्रकार है–

(1) ब्रह्म जगत का उपादान कारण है।[25]

(2) ब्रह्म और जीव में पारस्परिक एकता नहीं, भेद है। तात्पर्य कि जीव और ब्रह्म भिन्न है।[26]

(3) ब्रह्म जीव से स्वतन्त्र है। जीव ब्रह्म की विभूति है, ब्रह्म का खंड नहीं।[27]

(4) ब्रह्म मायाविशिष्ट है और 'अर्च्या–विभव–व्यूह–सूक्ष्म–अन्तर्यामी' रूपों में अवस्थान करता है।[28]

(5) जगत अनादि है और प्रलयकाल में वह ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है।[29]

(6) जीव का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है किन्तु वह ब्रह्म को पाकर ब्रह्म में मिल नहीं जाता बल्कि ब्रह्मोचित गुणों को प्राप्त करता है।[30]

कारणावस्था में जीव, जगत् ब्रह्म में लीन रहते है उनमें भेद नहीं रहता। किन्तु कार्यावस्था में जीव और जगत् चित्, अचित् रूप से उत्पन्न होकर स्थूल रूप प्राप्त करते हैं। डा0 रामावतार शर्मा विशिष्टाद्वैत मत का समाहार करते हुए लिखते है 'विशिष्टाद्वैत के उपर्युक्त सिद्धान्त सोऽहं, सांख्य और योगेश्वर के समकक्ष जान पड़ते हैं और इनमें अद्वैत के माया, स्वप्न और भ्रान्ति के विचारों से उत्पन्न होने वाली शंकाओं को भी जगह नही रह जाती। सोडहं

द्वारा ब्रह्म का जीव में जो अनुभव किया गया था वह विशिष्टाद्वैत की ब्रह्मलीला में प्रस्फुटित हुआ और उसी पर धीर अवतारी पुरूषों की उपासना से मुक्त होने का भी सिद्धान्त सबल किया गया।[31]

वास्तव में विशिष्टाद्वैत अद्वैतवाद का ही विकसित रूप है, किन्तु सिद्धान्त में भिन्नता रखता है। जीव, जगत, ब्रह्म और माया के संबंध में दोनों के दृष्टिकोंण भिन्न हैं। रामानुजाचार्य के मत से जीव वास्तविक स्वतंत्र और ब्रह्म से भिन्न पदार्थ है तथा संसार के सब दुःखों को छोड़ परमात्मा की भक्ति द्वारा स्वर्ग जाकर अनन्तकाल तक आनन्द का अनुभव मोक्ष द्वारा करता है। शंकराचार्य के विचार से गुणों से परे एक सत्य का ज्ञान ब्रह्म है और जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न है तथा ज्ञान द्वारा माया के नाश से परमात्मा और जीवात्मा का ऐक्य बोध ही मोक्ष है। शंकराचार्य निर्गुणा पर ब्रह्म के तत्व ज्ञान को पराविद्या और सगुण ब्रह्म को ईश्वर का पर्यायवाची अपराविद्या मानते है। किन्तु रामानुजाचार्य जी एक ही विद्या का प्रतिपादन करते है जिससे ब्रह्म और औपनिषदिक ब्रह्म का बोध होता है।[32]

शंकराचायर्य जी ने मुण्डकोपनिषद के 'द्वे विद्ये वेदितत्यं इतिहस्मंयदब्रह्म विदो वदन्ति परा चैवापरा च''[33] का अनुसरण किया है किन्तु रामानुजाचार्य ने उपनिषद् के तात्पर्य को ग्रहण किया है।[33] इन सैद्धान्तिक भिन्नताओं के कारण विशिष्टाद्वैत की महत्ता अद्वैतवाद से पृथक है। यद्यपि अद्वैतवाद के अट्ठारह प्रकार में विशिष्टाद्वैत का भी उल्लेख हो जाता है। अद्वैतवाद् और विशिष्टाद्वैतवाद् के विषय निम्नलिखित हैं–

(क) जगत काल्पनिक है या सत्य।

(ख) जीव एक है या अनेक।

(ग) ब्रह्म निर्विशेष निर्गुण है या सविशेष सगुण।

(घ) ब्रह्म प्राप्ति का साधन ज्ञान है या भक्ति।

(ङ.) ब्रह्म प्राप्ति का फल मोक्ष है या ब्रह्म की ऐश्वर्योपलब्धि।

इन विषयों में अद्वैतमत और विशिष्टाद्वैत मत एक दूसरे से भिन्न मान्यताएँ स्वीकृत करते है। यद्यपि अद्वैतवाद के शब्दाद्वैत में शब्द को ही ब्रह्म माना है, वही तारक ब्रह्म है, राम नाम है।

विशिष्टाद्वैत की मान्यताओं के आधार पर ध्यान रखते हुए यदि विचार किया जाय तो अद्वैतवाद की पुष्टि में जो कुछ तुलसी कृत मानस से उद्घृत किये गये है, उन अंशों से ही विशिष्टाद्वैत मत की भी पुष्टि हो जाती है। बालकाण्ड के मंगलाचरण के जिन श्लोकों से अद्वैतवाद और मायावाद की पुष्टि की गई है उनमे विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त भी घटित है। 'वन्देऽहं तमशेषकारणपर रामाख्यमीशं हरिम्' से सेवक–सेव्यभाव तथा अवतारवाद परिलक्षित होता है। अद्वैतवादी जहाँ जगत–प्रपंच को असत्य मानते है वहाँ विशिष्टाद्वैतवादी रामरूप जगत् को सत्य मानते है।

'बन्दौं बालरूप सोइ रामू। सब विधि सुलभ जपत जिसुनामू।।''[34]

इसी प्रकार माया असत्य नहीं उसके नानात्व भ्रम को ही मिथ्या विशिष्टाद्वैत–वादी मानते है। यह भ्रम रामकृपा से मिट जाता है।

व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटकु प्रचण्ड।

सेनापति कामादि भट, दम्भु कपटु पाखण्ड।।[35]

माया मोहमूलक और मिथ्या है किन्तु इनका आभास तभी तक है जब तक यह संसार राममय नहीं दीखता। जब 'सियाराम मय सब जग जानी' का भाव मन में उदित हो जाता है तो माया का मिथ्यात्व स्वतः नष्ट हो जाता है और उस मायावाद की निवृत्ति हो जाती है। जीव और ब्रह्म की एकता अद्वैतवादी

मानते हैं किन्तु विशिष्टाद्वैत वादी दोनों को भिन्न बतलाते है। मानस में गोस्वामी जी कहते हैं–

'सो तें ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं वेदा।।[36]

जल और जल की लहर की भाँति जीव और परमात्मा का अभेदत्व अद्वैतवादी बतलाते है। इस अभिन्नता के साथ यदि हम यह भी विचार करें कि जल की लहर अभिन्न नहीं, तो किसी प्रकार का अनौचित्य न होगा।

जल और बीचि दोनों दो पृथक वस्तु का बोध कराते है। यद्यपि दोनों जल ही है। फिर भी दोनों पृथक हैं। क्या लहर कहने से जल का बोध या जल कहने से लहर का बोध हो सकता है? सम्भवतः नहीं। दार्शनिक दृष्टि से एक अर्थापत्ति हो सकती है, किन्तु लहर जल से स्वतंत्र न होकर भी पृथक् है। जिस प्रकार जीवात्मा ब्रह्म का अणु है उसी प्रकार लहर जल का अणु है। विशिष्टाद्वैत और अद्वैतमत दोनों मतों से उक्त विशिष्ट पद का अर्थ किया जा सकता है। इसे अतिरिक्त भक्ति–प्रधान पद और सेवक सेव्य भाव सर्वत्र 'मानस' और 'विनय पत्रिका' में देखने को मिलते है।[37] फलतः तुलसीदास जी के दार्शनिक सिद्धान्तों को मात्र अद्वैतवाद के घेरे में रखना सम्भव नहीं दिखाई देता और न वे पूर्णतः विशिष्टाद्वैतवादी मानें जा सकते हैं। दोनों मतवादों की पुष्टि क्लिष्ट पद के कारण संभूत है। ज्ञान और भक्ति, ध्यान और कर्म सब की पुष्टि अनायास नहीं जानबूझ कर काव्यमाला में पिरोई गई है। यही कारण है कि ग्रियर्सन जैसे विद्वान ने सच्चाई से अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है कि 'गोस्वामी तुलसीदास जी का झुकाव अद्वैतवाद की ओर अत्यधिक है, परन्तु हैं वे विशिष्टाद्वैतवादी ही और गोस्वामी जी ने इस मत का आभास 'सियाराममय सब जग जानी। करौ प्रणाम जोरि जुग पानी।' में दिया है।'' इस उक्ति के साथ डा0 राजपति दीक्षित की इन पंक्तियों पर विचार करें ''यदि रामानुज के विशिष्टाद्वैत अथवा मध्व के द्वैत मत के प्रकाश में भी अपने कवि का दार्शनिक दृष्टिकोण

निर्णय करना चाहें तो दृढ़तापूर्वक यह नहीं सिद्ध कर सकते कि गोस्वामी जी इन दोनों पद्धतियों में से किसी एक के पक्के अनुयायी हैं। यह दूसरी बात है कि इन दोनों पद्धतियों के अनेकानेक सिद्धान्त और साधन संबंधी बातें तुलसी की रचनाओं में मिलती हैं। पर इन दोनों पद्धतियों के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों से गोस्वामी जी की पूर्ण विमति भी है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत अथवा माध्व द्वैतवाद की और भी कितनी ही बातें है जो तुलसी के मत में नहीं है। तुलसी का दार्शनिक दृष्टिकोण न पूर्णतया शंकराचार्य का अद्वैतवाद ही है और न रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत अथवा मध्वाचार्य का द्वैतवाद ही।''[38] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि विशिष्टाद्वैत और अद्वैतवाद तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण के अंशमात्र है, दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं।

डा0 राजपति दीक्षित ने तथ्य को सामने रखकर भी द्वैतमत की पुष्टि की है जो सर्वथा औचित्यपूर्ण नहीं। कहीं तो वे यह कहते है कि द्वैतवाद की अनेक बातें तुलसी में नही है और यह मानकर भी वे निष्कर्ष देते हैं'' हम दृढ़तापूर्वक कह सकते है कि उनका अभिमत सिद्धान्त द्वैत है।'' उनके मार्मिक व्याख्याता काष्ठजिह्ना स्वामी पुकार कर कहते हैं ''द्वैत सदा अद्वैत कवहुँ नहिं यह स्तुति को निर्धोष।''[39]

डा0 दीक्षित या तो काष्ठाजिह्ना स्वामी के प्रभाव से एक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं या अद्वैतवाद और विशिष्टा द्वैतवाद् की पूर्ण संगति न देखकर द्वैतवाद का समर्थन करते हैं। द्वैतवाद् की निस्सारता तो इसी से सिद्ध हो सकती है कि तुलसी का साधन–मार्ग द्वैत के साधन मार्ग से नितान्त भिन्न है और मध्वाचार्य के ''तारतम्य ज्ञान[40] एवं ''पंचभेद ज्ञान''[41] का 'मानस' एवं 'विनय पत्रिका' में स्यात् ही स्थान हो। यहाँ पर द्वैत मत के विशिष्ट सिद्धान्तों का उल्लेख उचित होगा। मध्व सम्प्रदाय में द्वैत संबंधी नौ सिद्धान्त सर्व स्वीकृत हैं–

1. सर्वोच्चतत्व विष्णु है। तात्पर्य कि चेतन तत्व–जीव और ईश्वर–दोनों

का स्वरूप सच्चिदानन्दात्मक है, किन्तु जीव माया से मोहित होने के कारण बद्ध है।

2. जगत् सत्य है। रज्जु–सर्प, सीप–रजत और किरण–जल न्याय से असत्य नहीं है।

3. जीव भगवान् का आश्रित है।

4. जीवों में तारतम्य है।

5. जीव, जड़ और ईश्वर का भेद (पंचभेद) वास्तविक है।

6. आनन्द का साक्षात्कार मोक्ष है।

7. समस्त वेदों के द्वारा वेद्य भगवान विष्णु ही हैं।

8. मोक्ष का मुख्य साधन अमला भक्ति है। मल रहित जो भगवान में प्रीति है वही मुक्ति का सही उपाय माना गया है।

9. वस्तुसिद्धि[42] प्रमाणाधीन है।[43]

कुछ आलोचकों ने गोस्वामी जी को द्वैतवादी माना है। द्वैतवादी मत की स्थापना श्री मध्वाचार्य जी ने पूर्णप्रज्ञा भाष्य लिखकर की थी, जिसमें वैशेषिक के आधार पर विष्णु पूजा को महत्व मिला। इस सम्प्रदाय में राम और कृष्ण विष्णु के अवतार माने गये और मोक्ष का मार्ग हरिज्ञान समझा गया। वह हरिज्ञान वैराग्य, समता, आत्मसंयम, शरणागति, गुरूसेवा, गुरूज्ञान स्वाध्याय, परमात्मा भक्ति, निष्काम कर्म, विष्णु महिमा बोध, असत् त्याग और उपासना द्वारा प्राप्त कहा गया।[44] वस्तुतः यह 'वाद' शंकराचार्य के मायावाद में भी बीज रूप से निहित है जिसका संकेत सर उडरोफ ने भी किया है।[45] 'मानस के उत्तरकाण्ड और 'विनय पत्रिका' के अनेक पदों से तुलसीदास जी को द्वैतवादी सिद्ध किया जा सकता है और जितने अंकाट्य तर्क अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद के संबंध में

दिये जाते हैं उतने ही अकाट्य तर्क द्वैतवाद के समर्थन में भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। फलतः एक दार्शनिक दृष्टिकोण की गुंजाइश तुलसी में नहीं है।

राम विष्णु के अवतार माने गये हैं और तुलसी ने राम तथा विष्णु का तादात्म्य कर द्वैतवादियों की तरह राम को सर्वोच्च माना है। हरिज्ञान से विष्णुत्व की प्राप्ति का भी उन्होंने उल्लेख किया है। फलतः "मानस" और विनयपत्रिका में ऐसे स्थल निर्दिष्ट किए गये हैं और किये जा सकते हैं जिनकी महत्ता द्वैत सिद्धान्त के अन्तर्गत है "मानस" के "बालकाण्ड" और "विनय पत्रिका" की स्तुतियों में प्रायः हरिज्ञान का उल्लेख स्पष्ट रूप से तुलसी ने किया है। किन्तु मात्र इस आधार पर तुलसीदास जी को द्वैतवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादक मान लेना उचित नहीं। यदि इतने तक ही आलोचक अपने को सीमित रखते तो एक बात थी। कुछ लोगों ने शुद्ध द्वैतवादी "एक दारूगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म विवेक" कहकर "अग्नि से स्फुलिंग" मानकर सिद्धान्त को चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है तथा कुछ उन्हें निम्बार्क मत के द्वैताद्वैत[46] सिद्धान्त का प्रतिपादक और समर्थक बतलाते हैं। आंशिक उद्धरणों से मनोनुकूल दार्शनिक दृष्टिकोण की उपलब्धि हो सकती है किन्तु वही तुलसीदास जी का दार्शनिक दृष्टिकोण था, ऐसा हम नहीं कह सकते।

मेरे विचार से इन विभिन्न सैद्धान्तिक कठघरों के दम घुटने वाले दायरे के बाहर ही हम तुलसी के दार्शनिक विचारों को समझें तो औचित्य का निर्वाह हो सकेगा। तुलसी की मान्यता चाहे अद्वैतवादी हो या विशिष्टाद्वैतवादी, चाहे द्वैतवादी हो या द्वैताद्वैतवादी, चाहे उनका झुकाव अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अद्वैत सिद्धान्त की ओर अधिक हो, परन्तु उन्होंने जब प्रायः सभी मतवादों के अनुकूल कुछ न कुछ लिखा है, तो उनकी रचनाओं की दार्शनिक अभिव्यक्ति विचित्र समन्वयात्मकता से परिव्याप्त और दीप्ति हो उठी है। तुलसीदास जी की रचनायें समस्त भारत में संपूज्य है और प्राचीन हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों (वेद,

उपनिषद् और पुराणों) के पश्चात् "मानस" और "विनय पत्रिका" ही वह प्रतिष्ठा पा सकी हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी रचनाओं को सर्वजनसुखाय और मानव कल्याण कामना से अभिप्रेरित होकर लिखा था। फलतः उन्होंने भिन्न–भिन्न रूचियों और दार्शनिक सिद्धान्तों को अपना कर उन्हें संतुलित कर ब्रह्म, जीव माया और जगत् की अदउ्भुत दार्शनिक व्याख्या की। इस पुनीत कार्य में तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ भी उनकी सहायक बनी और उस क्षुब्धकारी स्थिति में तुलसी ने सम्पूर्ण भारत के लिए एकधर्मग्रन्थ की रचना कर भारत को एक सांस्कृतिक और धार्मिक सूत्र में आबद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। उनके दार्शनिक विचारों के पूर्ण परिज्ञान के लिए बन्द कोठरियों की गर्म अस्वास्थ्यकर वायु उपयुक्त नहीं, एक स्वस्थप्रद संकेत की उपलब्धि औचित्यपूर्ण होगी। उन्होंने जानबूझकर एक ऐसे ग्रन्थ का निर्माण किया है जिससे किसी दार्शनिक सिद्धान्त और विचार में संघर्ष न हो तथा ग्रन्थ में प्रतिपादित विचार सर्वमान्यता प्राप्त कर सकें। यही कारण है कि उन्होंने मानस के प्रारम्भ में ही अपनी इस व्यापक धारणा का संकेत किया है–

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्

रामायणे निगदितं क्वचिदयतोऽपि।

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा–

भाषानिबन्धमतिमन्जुलमातनोति।।[47]

विनय पत्रिका के सारे पद उस नाना पुराण निगम आगम के ही संकेत वाहक हैं। शिव की महिमा, विष्णु की शक्ति और महत्ता तथा सदाचार, शम, दम, नियम आदि की उपादेयता सिद्ध करने के लिए ही उन्होंने भिन्न–भिन्न युगों की दार्शनिक चेतना को छन्दोबद्ध कर मानव जाति की अमूल्य सेवा का भार वहन किया। तुलसी ने उन समस्त ग्रन्थों को जो युग–युग से मानव जीवन

को विशेष रूप से हिन्दू जाति को बल और चेतना प्रदान कर रहे थे, उनके आधार पर एक मानवीय दार्शनिक विचारों की स्थापना की, सब प्रकार की मान्यताओं को ग्रथित कर एक सूत्रता ढूँढ़, भारतीय चिन्तनधारा के नवीनीकरण का एक नया अध्याय प्रारम्भ किया और एक नवीन भारतीय जीवन की सुरुचिपूर्ण भावना प्रदर्शित की, जिसमें प्रेम और हर्ष हो, सुख और आत्मा की शान्ति हो। वे इससे अच्छी तरह परिचित थे कि निर्गुण ब्रह्म जब सगुण होकर मानव को मानवोचित गुणों से परिपूर्ण नहीं बनाता अथवा सैद्धान्तिक ब्रह्म जब तक व्यावहारिक नहीं होता तब तक मानवोन्नति किसी प्रकार सम्भव नहीं। तुलसीदास ने समझा था कि निर्गुण ब्रह्म जब तक श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और पवित्रता से युक्त नहीं होता तब तक साधारण जनता के लिए उसमें न तो आकर्षण है और न वह ब्रह्म के नाम की सार्थकता ही सिद्ध कर सकता है। भारतीय चिन्तनधारा में इस योगदान का अपना महत्व है। फिसन्ट महोदय ने भी लिखा है। "वहाँ कोई धर्म नहीं हो सकता जहाँ भावना और स्नेह ज्ञान से संयुक्त न हो। जहाँ व्यक्ति श्रद्धा, प्रेम, आशा और भय से रहित हों वहाँ धर्म नहीं हो सकता...................... ।[48] अतः जीवात्मा और परमात्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध और उसकी प्राप्ति के साधन मार्ग और उनकी पवित्रता उस अद्वैतवादी सैद्धान्तिक दार्शनिक विचारधारा के साथ संयुक्त की गई, जिसमें जनमन रूचि, बोधगम्यता और प्रसाद का माधुर्य है। "राजाराम स्ववस भगवान्"[49] भक्ति के वशीभूत होकर ही पृथ्वी पर आये और मोक्ष के दाता बने। यह मोक्ष सैद्धान्तिक अथवा परम्परागत अर्थ में मोक्ष या मुक्ति से भिन्न है। यह मोक्ष सानिध्यता का—परम प्रिय के अत्यन्त सन्निकट हो उसका विश्वास—भाजन बनने का। राम तो जगतात्मा, सर्वद्रष्टा, विश्वरूप, निर्गुण—सगुण एवं अखिल सृष्टि के नियामक है, उन तक पहुँचना ही मुक्ति है। बाइबिल में भी उल्लेख मिलता है, 'मै द्वार हूँ और मुझमें जो व्यक्ति प्रवेश पाता है वह निरापद रहेगा, वह अन्दर और बाहर आ जाकर आनन्द पायेगा।'[50] तुलसी ने आस्तिक बुद्धि और ईश्वर भजन को भारतीय चिन्तन में अनिवार्य मानकर ही यह लिखा

"विनु हरि भजन न भव तरहिं, यह सिद्धान्त अपेल"। अविनासी परब्रह्म राम की भक्ति याचना ही वे "विनय पत्रिका" में करते हैं। राम के सम्बन्ध में तुलसी का सिद्धान्त था कि राम दशरथ पुत्र है, विष्णु हैं, निर्गुण है, सगुण हैं, परब्रह्म हैं। निर्गुणरूप तो सुलभ सहज है, किन्तु सगुण रूप अगम और भ्रम में डालने वाला है। इसलिए गोस्वामी जी का न द्वैत से प्रेम था न अद्वैत या विशिष्टाद्वैत से। ग्राउस ने लिखा है– 'उनके अध्यात्म और आत्म–विद्या सम्बन्धी विचार विश्व–देवतावादी स्वभाव के है, जिनका अधिकांश वेदान्तसार विधि से उत्तर वेदान्तियों की शिक्षा पर आधृत है और जिसकी विस्तृत व्याख्या भगवत् गीता में है जो संस्कृत भाषा काव्यों में सबसे अधिक लोकप्रिय है।'[229]

वेदान्त सिद्धान्तों का समन्वयक ग्रन्थ – रामचरित मानस

वांङ्मय के क्षेत्र में इतिहास पुराण समन्वय साधना के उत्कृष्ट उदाहरण है। उनमें भागवत पुराण और महाभारत का स्थान अन्यतम है। उनमें विभिन्न विचारधाराओं का संगम है, रोचक कथाओं की सहायता से तत्वज्ञान का उपस्थापन हैं, किन्तु कांतासंमित उपदेश का विधान करने वाले काव्य की सरसंता नहीं है। संस्कृत में रचित होने के कारण वे तुलसीयुगीन लोकमानस का नेतृत्व करने में असमर्थ थे। लोकदर्शी तुलसी ने जनता के हृदय की धड़कन को पहचाना और 'रामचरितमानस' के रूप में समन्वय का वह अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया जो अपने कवित्वमय भक्ति दर्शन, भक्तिदर्शनमय कवित्व और आमूढ पंडित व्यापिनी लोकप्रियता के कारण अद्वितीय है।

गोस्वामी जी अपने अनुभव, अवेक्षण, शास्त्रज्ञान और सहृदयता के आधार पर कवित्व, धर्म और भक्ति की त्रिपथगा का निर्माण किया। उनकी समन्वय साधना बहुमुखी है।

द्वैत अद्वैत तुलसी का दार्शनिक समन्वयवाद अत्यन्त विवाद का

विषय रहा है। तुलसी के युग में वेदान्त का प्रभुत्व था। उसके भीतर दो प्रकार के संघर्ष थे – (1) सभी वैष्णव आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद और मायावाद के विरोधी थे। (2) सभी अद्वैतवादी मध्व के द्वैतवाद के विरोधी थे। तुलसी शंकर के ब्रह्मवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद से मुख्यतया प्रभावित हैं। किन्तु अन्य मतों से भी उन्होंने विचार ग्रहण किये है। उपनिषदों और वेदान्त सम्प्रदायों में जो मान्यताएं समान रूप से पायी जाती है वे तुलसी को स्वीकार्य है, जैसे – ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान और आश्रय है, आदि। परन्तु जहां अद्वैतवादियों और वैष्णव वेदान्तियों में मतभेद है, वहां उन्होंने समन्वयवादी दृष्टि से काम लिया है। केवलाद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण, निर्विशेष और निर्लक्षण है, अर्थात उसमें कृपा आदि विशेषताएं नहीं है, माया अविद्या है, उसके अस्तित्व के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, माया की उपाधि से युक्त सगुण ब्रह्म (ईश्वर) ही अवतार लेता है। एकमात्र (निर्गुण) ब्रह्म ही सत्य है, जीव, जगत और ईश्वर सब मिथ्या है, केवल ज्ञान ही मुक्ति का साधन है, आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना, जीव के जीवत्व का नाश ही मुक्ति है। वैष्णव आचार्यो के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः सगुण अर्थात् कृपा आदि दिव्य गुणों से युक्त है, वही कृष्ण आदि के रूप में अवतार लेता है, उसी की शक्ति माया है, जीव उसी का अंश है, भिन्न प्रतीयमान जगत् उससे अभिन्न है, भक्ति मुक्ति का अमोघ साधन है, सालोक्य आदि मुक्तियाँ श्रेष्ठ है।

---0---

सन्दर्भ सूची

उपसंहार

1– डा0 बलदेव प्रसाद मिश्र, तुलसी दर्शन पृ0 307

2– तुलसी ग्रन्थावली – गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार

3– तुलसीदश।न पृ0 210

4– तुलसी ग्रन्थावली तीसरा भाग पृ0 145

5– Constructive Survey of Upnishadic Philosophy - R.Ranade Page 223

6– मा0 7/117

7– मा0 1/185

8– मा0 7/77

9– विनयपत्रिका पद सं0 188

10– विनयपत्रिका पद सं0 120

11– विनयपत्रिका पद सं0 66

12– विनयपत्रिका पद सं0 91

13– मा0 1/श्लो0 6

14– मा0 1/श्लो0 6

15– सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाइ जासु बल विरचति माया, मा0 5/20

16– एक अनीह अरूप अनामा/अज सच्चिदानन्द पर धामा, मा0 1/12

17– नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका भाग–4 संवत् 1980

मा0 1/सं0 18

18– नामरूप दुइ ईश उपाधी/अकथ अनादि सुसामुझि साधी, मा0 1/20

19– सारदसेष महेस विधि आगम निगम पुरान।

नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरन्तर गान।। मा0 1/12

20– विनयपत्रिका पद सं0 43

21– नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग–4 पृ0 279 से 327 तक

22– तुलसीदास और उनका युग पृ0 300

23– Subsequently The Illustrious commedator and holysage Shri Ramanuja Charya advanced The knowledge of Visishtaadvaita in The world by the compasition of his great work called the Sri Bhashya" - M.M. Rama Mishra Sastri's Preface to his Edition of Vedartha Sangraha.

24– श्वेताश्वतरोपनिषद् श्लो0 12

25– वासुदेव परं ब्रह्म कल्याणगुणसंयुतः।
भुवनानामुपादानं कर्ता जीव नियामकः।। वेदान्ततत्वसार

26– क– श्रीभाष्य पृ0 77 जीवपरयोरपिस्वरूपैकं देहात्मनोरपि न सम्भवति तगि तथा च श्रुतिः।

ख– द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते/श्वेता0 उप0 4/6

27– वेदान्तसार – (अ) न च ब्रह्मखण्डोजीवः।।

(आ) अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्ट सिद्धये।।

28– भारतीय ईश्वरवाद पृ0 203 29– भारतीय ईश्वरवाद पृ0 203

30– अतः सर्वप्रकारं सर्वशरीरकं सर्वात्मभूतं परंब्रह्म शान्तोभूत्वोपासीतेति श्रुतिरेव परब्रह्मणः सर्वात्मकत्वमुपपादम् तस्योपासनमुमदिशति। परब्रह्म

कारणावस्थकार्यावस्थसूक्ष्मस्थूलचिद्वस्तु शरीरतया सर्वदासर्वात्मभूतम्।। श्रीभाष्य प्रथम अध्याय पृ0 157

31– भारतीय ईश्वरवाद पृ0 205

32– रामानुजाचार्यमते जीवो वास्तविकः स्वतन्त्रो ब्रह्मभिन्नः पदार्थः। सांसारिकं सर्वदुखं त्यक्त्वा परमात्मभक्त्या स्वर्गं गत्वा अनन्तकालमानन्दमनुभवतीत्ययमेव मोक्षः। शांकरमते गुणातीतमेकं सत्यंज्ञानमानन्दं ब्रह्म," जीवस्तु न कश्चित्पदार्थः, किन्तु मायया परिच्छिन्नः ब्रह्मैव जीवात्मनः ज्ञानेन माया नाशात् परमात्मजीवैक्य ज्ञानान्मोक्ष इति। शांकर मते – पराविद्यां प्रतिपाद्यं निर्गुणं ब्रह्म, अपराविद्याप्रतिपाद्यमपरं सगुणं ब्रह्म ईश्वरापरपर्यायम्। रामानुजमते एकैव विद्या ब्रह्मापि एकमेव। अत्रैवोपनिषत्तात्पर्यमित्यादिवोद्धयम्। (श्रीभाष्य सम्पादक पादरी जौनसन भूमिका पृ0 311

33– मुण्डकोपनिषद् 1/4

34– मा0 1/111

35– मा0 1/71

36– मा0 7/110

37– मा0 7/119

38– तुलसीदास और उनका युग पृ0 300–302

39– तुलसीदास और उनका युग पृ0 302

40– संसार के सब पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर है। सुख दुःख ज्ञान आदि का अवसान भगवान में होता है। इसी को द्वैत मत में तारतम्य ज्ञान कहा गया है।

41– पंचभेद – 1– ईश्वर का जीव से भेद 2– ईश्वर का जड़ से भेद 3–जीव का जीव से भेद 4– जीव का जड़ से भेद 5– जड़ का जड़ से भेद।।

42– मध्वसिद्धान्त में – प्रत्यक्ष अनुमान तथा शद्व तीन प्रमाण मान्य है।

43– भारतीयदर्शन आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ0 407

44– भारतीय ईश्वरवाद पृ0 462

45– The Fact of Positing Maya at all gives to Shankara's doctrine a Thing of dualism. Shakti and Shakta - Sir John woodroffe Page 105

46– निम्बार्काचार्यदर्शन का सिद्धान्त द्वेताद्वेतवाद है और पूर्व में प्रतिपादित है। (क) द्वैताद्वैत में 1– ब्रह्म सच्चिदानन्द है विश्व ओर जीवात्मा का नियन्ता एवं संरक्षक है। 2– विश्व ब्रह्म का अंश है 3–जीव ब्रह्म का अंश, अक्षर, अणु तथा अगणित है। (ख)–द्वैताद्वैत में ब्रह्म के चार रूप 1–पर अमूर्त 2– अपरअमूर्त 3–पर मूर्त 4–अपर मूर्त हैं।

46– मा0 1 श्लो0 7

48– Theism F.R. Flint, Page 2

49– मा0 अयोध्याकाण्ड

50– Holy Bible -St.John, Page 9

–––0–––

सहायक ग्रन्थ सूची

संस्कृतग्रन्थ

ऋग्वेदसंहिता – वैदिक संशोधनमण्डल, पूना ।

यजुर्वेदसंहिता – परोपकारिणी सभा सं0 1999, षष्ट संस्करण।

अथर्ववेदसंहिता – सनातनधर्म यन्त्रालय, मुरादाबाद सं0 1987

शतपथ ब्राह्मण, पंचविंशतिब्राह्मण, ऐतरेयब्राह्मण, तैत्तिरीयब्राह्मण, कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक, ईशावास्योपनिषद्, शांकरभाष्य सहित, केनोपनिषद् शांकरभाष्य सहित, कठोपनिषद शांकरभाष्य सहित, प्रश्नोपनिषद् शांकरभाष्य सहित, मुण्डकोपनिषद, शांकरभाष्य सहित, माण्डूक्योपनिषद् शांकरभाष्य सहित, तैत्तिरीयोपनिषद शांकरभाष्य सहित, ऐतरेयोपनिषद शांकरभाष्य सहित, छान्दोग्योपनिषद शांकरभाष्य सहित, वृहदारण्यकोपनिषद शांकर भाष्यसहित, श्वेताश्वतरोपनिषद शांकरभाष्य सहित, नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद, नृसिहोत्तरतापनीयोपनिषद, कैवल्योपनिषद्, सर्वसारोपनिषद, कठरूद्रोपनिषद्, गोपीचन्दनोपनिषद्, गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद, कृष्णोपनिषद, रामपूर्वतापनीयोपनिषद्, माण्डूक्यकारिका शांकरभाष्य सहित, वाणीविलास संस्कृत ग्रन्थमाला, काशी 1942, रामउत्तरतापनीयोपनिषद, श्रीमदभगवद्गीता शांकरभाष्य सहित, विष्णुपुराण, श्री मदभागवतपुराण, महाभारतम् गीता प्रेस, भक्तिसूत्रम – शाण्डिल्य, विवेकचूड़ामणि शंकराचार्य अद्वैत आश्रम मायावती

अल्मोड़ा 1952

अपरोक्षानुभूति	–	अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा।
अद्वैतसिद्धि	–	मधुसूदन सरस्वती निर्णय सागर 1917
ब्रह्मसूत्रश्रीभाष्यम्	–	रामानुजाचार्य
पूर्णप्रज्ञदर्शनम्	–	मध्वाचार्य
ब्रह्मसूत्र–अणुभाष्य	–	श्री बल्लभाचार्य
वेदान्तपारिजातसौरभ	–	श्री निम्बार्काचार्य
श्रीमद्भगवद् गीता	–	श्रीरामानुजभाष्य
सर्वार्थसिद्धिः	–	वेदान्तदेशिक
वेदान्तसार	–	सदानन्द, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी 1954
पंचदशी	–	विद्यारण्य
अद्वैतचन्द्रिका	–	सुदर्शनाचार्यः
वेदान्तपरिभाषा	–	धर्मराजाध्वरीन्द्रः
ब्रह्मसूत्रम्	–	शांकरभाष्य वादरायणव्यास
नारदभक्तिसूत्रम्	–	महर्षिनारदकृत
वेदान्तकौस्तुभः	–	श्री निवासाचार्यः
दशश्लोकी	–	निम्बार्काचार्य
शुद्धाद्वैतमार्तण्डः	–	गिरिधर महाराज चौखम्बा, वाराणसी
उत्तररामचरितम्	–	भवभूतिः

चित्सुखी – चित्सुखाचार्यः

बाल्मीकिरामायणम् – महर्षिबाल्मीकिकृत

अध्यात्मरामायणम् –

तन्त्रालोकः – आचार्य अभिनवगुप्त

सौन्दर्यलहरी – शंकराचार्यः

लक्ष्मीतन्त्रम् – अड्यार 1959

वैराग्यशतकम् – भर्तृहरिः

सांख्यतत्वकौमुदी – वाचस्पति मिश्र

कौटिल्य अर्थशास्त्रम् – चाणक्य

दर्शनबिन्दुसंग्रहः – समपूर्णानन्द सं० विश्वविद्यालय वाराणसी सन् 1992

योगवाशिष्ठ – महर्षि वशिष्ठ कृत

सर्वदर्शनसंग्रहः – माधवाचार्यः

पातंजलयोगदर्शनम् – आचार्य पतंजलिः

सिद्धान्तबिन्दुः –

वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली

तत्वमुक्ताकलापः

<u>**हिन्दी ग्रन्थ**</u> –

रामचरितमानस – तुलसीदास, टीका= सिद्धान्त भाष्कर श्री श्रीकान्तशरण महाराज तथा श्री विजयानन्द

त्रिपाठी ।

गोस्वामी तुलसीदास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काशी नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण 6 वि0सं0 2008

विनयपत्रिका – तुलसीदास

तुलसी ग्रन्थावली – नागरी प्रचारिणी सभा काशी

तुलसी दर्शन – डॉ0 बलदेवप्रसाद मिश्र हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयागं संस्करण 5 वि0सं0 2205

तुलसीदास और उनका युग – डा0 राजपति दीक्षित, ज्ञानमण्डल लिमिटेड बनारस प्रथम संस्करण वि0सं02009

रामचरितमानस में भक्ति – डा0 सत्यनारायण शर्मा सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा वि0सं0 2026

वैष्णव साधना और सिद्धान्त – डा0 भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव, बिहार, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी कदमकुंआ, पटना मई सन् 1973 ई0

गोस्वामी तुलसीदास व्यक्तित्व, दर्शन, साहित्य – रामदत्त भारद्वाज, भारतीय साहित्य मन्दिर फब्बारा, दिल्ली 1962

गोस्वामी तुलसीदास – श्यामसुन्दर दास, बड़थ्वाल हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद

तुलसीदास चिन्तन और कला – डा0 इन्द्रनाथ मदान, राजपाल एण्ड सन्स दि0 प्रथम संस्करण सितम्बर 1959

तुलसीदास एक समालोचनात्मक अध्ययन– डा0 माता प्रसाद गुप्त, तृतीय संस्करण 1953 प्र0 हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

रामायण मीमांसा – स्वामी करपात्री जी महाराज धर्मशिक्षा मण्डल, वाराणसी प्रथम संस्करण सं0 2034

भारतीय संस्कृति और साधना (दोनो भाग) म0प0पं0 गोपीनाथ कविराज।

भागवत सम्प्रदाय – आचार्य बलदेव उपाध्याय

मानस दर्शन – डा0 श्रीकृष्ण लाल, आनन्द पुस्तक भवन बनारस कैंट प्रथम आवृत्ति फाल्गुन 2006 वि0 संवत्

मानस पीयूष – श्री अंजनीनन्दन शरण जी प्र0 हनुमान प्रसाद पोद्दार गीता प्रेस, गोरखपुर

मानस रहस्य – जयरामदास ''दीन'' गीताप्रेस गोरखपुर

भक्ति का विकास – डा0 मुन्शीराम शर्मा – चौखम्बा भवन वाराणसी सन् 1958

भक्ति विलास – महाराज रघुराज सिंह भारतमाता प्रेस, रीवां 1891

मानस माधुरी – डा0 बलदेव प्रसाद मिश्र साहित्यरत्न भण्डार, आगरा, प्रथमसंस्करण 1958

रामभक्ति शाखा – डॉ0 राम निरंजन पाण्डेय प्र0 नवहिन्द

पब्लिकेशन्स हैदराबाद बेगमबाजार 831, जनवरी 1960

रामभक्ति साहित्य में मधुरोपासना– डॉ0 भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव प्र0 बिहार राष्टभाषा परिषद, पटना 1957 ई0

राम रसायन – रसिक बिहारी– प्र0 खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई। पौष संवत 1978 शके, 1843। प्रथम प्रकाशन

भारतीय दर्शन की चिन्तनधारा– डॉ0 राममूर्ति शर्मा, प्र0 मणिद्वीप वी0एस0–5 शालीमार बाग दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1999

भारतीय दर्शन – पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर 37–बी रवीन्द्रपुरी वाराणसी

शंकराचार्य उनके मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन– डॉ0 राममूर्ति शर्मा साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ।

सांख्यदर्शन – प्रभुदयाल

दर्शन–दिग्दर्शन – राहुलसांकृत्यायन

संस्कृति के चार अध्याय – रामधारीसिंह दिनकर

तुलसीदर्शन मीमांसा – डा0 उदयभानसिंह

मानस की भूमिका – रामदासगौड़

तुलसीदास और उनका काव्य– पं0 रामनरेश त्रिपाठी

. भारतीय ईश्वरवाद

<u>पत्र – पत्रिकाएं</u> –

कल्याण – रामयणाक सं0 1987, वेदान्त अंक सं0 1993, नारी अंक सं0 2004

उपनिषद् अंक – सं0 2005

हिन्दू संस्कृति अंक – सं0 2006 गीता प्रेस, गोरखपुर

नागरी प्रचारिणी पत्रिका – वाराणसी, भाग 8

हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका – सं0 1980, 94, 95, 96, 98

सरस्वती – सन् 1918, 30, 36, 40, 50, 55

हिन्दी अनुशीलन – सन् 1954

वैदिक धर्म – सन् 1933, 1934, 39, 41, 51, 52

मानस मणि – सं0 श्री अंजनीनन्दनशरण जी, श्री अयोध्याजी। प्र0 मानस संघ रामवन वाया सतना (म0प्र0) फरवरी 1943 से दि0 1943 तक

मानस मयूख – सं0 रामदास शास्त्री प्र0 सत्यनारायण झुनझुन वाला वाराणसी

साहित्य संदेश – साहित्यरत्नभण्डार, आगरा से प्रकाशित भाग 18, अंक 6, दिसम्बर 1956

---0---

ग्रन्थसंकेत–सूची

संकेत	ग्रन्थ नाम
मु0	मुण्डकोपनिषद्
गी0	श्रीमद्भगवद् गीता
कौ0अर्थ0	कौटिल्यअर्थशास्त्रम्
तै0ब्रा0	तैत्तरेयब्राह्मण
ऐ0आ0	ऐतरेय आरण्यक
श्वेता0	श्वेताश्वतरोपनिषद्
ब्र0सू0शां0भा0	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
वृ0उ0	वृहदारण्यकोपनिषद्
रा0मा0	रामचरितमानस
मा0	रामचरितमानस
मध्य0वै0सं0	मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास
वि0पु0	विष्णुपुराण
कठ0उप0	कठोपनिषद्
अ0रा0	अध्यात्मरामायणम्
माण्डू0	माण्डूक्योपनिषद्
ब्र0सू0	ब्रह्मसूत्रम्
रा0उ0उप0	राम उत्तरतापनीयोपनिषद्
वृहदा0	वृहदारण्ययकोपनिषद्

छान्दो०	छन्दोग्योपनिषद्
ईशा०	ईशावास्योपनिषद्
वा०रा०	बाल्मीकिरामायणम्
भा०	श्रीमद्भागवत्
रा०मी०	रामायणमीमांसा
शु०ययु०	शुक्लययुर्वेद
मा०उ०	माण्डूक्योपनिषद्
नृ०पु०	नृसिंहपुराणम्
अथ०सं०	अथर्वसंहिता
शा०भ०सू०	शाण्डिल्यभक्तिसूत्रम्
ना०भ०सू०	नारदभक्तिसूत्रम्
भा०पु०	श्रीमद्भागवतपुराण
पा०सू०	पाणिनिसूत्रम्
न्या०सू०	न्यायसूत्रम्
वै०सू०	वैशेषिकसूत्रम्
स०वे०सि०सं०	सर्ववेदान्तसिद्धान्त संग्रहः
कैव०	कैवल्योपनिषद्

———0———

रामचरितमानस में वेदान्त-सन्दर्भ

हिन्दी विषय में पी-एच्.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

TH2935

24/12/2002

अध्यक्ष
हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी।

अवाप्ति संख्या-TH 2935
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

2002

815

निर्देशिका
डॉ० उर्मिला मिश्र

अनुसन्धात्री
श्रीमती नीरजा मिश्र

DATABASE

हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
मानविकी संकाय
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी - २२१००२

उपसंहार

(क) वेदान्तसम्प्रदाय के वादों के परिप्रेक्ष्य में "रामचरितमानस"

(ख) वेदान्त के सभी सिद्धान्तों का समन्वयक ग्रन्थ "रामचरितमानस"

उपसंहार

गोस्वामी तुलसीदास जी की आध्यात्मिक मान्यताओं पर वेदान्त के किस मत का सर्वाधिक प्रभाव है और वह भी किस अंश तक है, यह प्रश्न बिना उनके विचारों को सम्यक् रूप से समझे समाहित नहीं हो सकता है। इतना जरूर कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने जो कुछ कहा वह श्रुति सम्मत ही कहा। उनकी नवीनता यदि कुछ थी, तो केवल उपयुक्त विषय के संग्रह और अनुपयुक्त विषय के त्याग में थी परन्तु इतना होते हुए भी उन्होंनें जो सिद्धान्त रामचरितमानस द्वारा सर्वसाधारण के सामने रख दिये हैं, उन पर उन्हीं की अमिट छाप पड़ी हुई हैं। इसलिए यदि हम उन सिद्धान्तों के समूह को तुलसी मत कह दें तो किसी प्रकार का अनौचित्य न होगा।[1]

सन्त तुलसीदास न निरे अद्वैतवादी थे और न निरे विशिष्टाद्वैतवादी, रामचरितमानस में उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी प्रतीत होता है। अतः यहां पर शोध प्रबन्ध के उपसंहार के रूप में वेदान्त और रामचरितमानस के दार्शनिक विचारों का समन्वयात्मक अध्ययन किया जायेगा। रामचरितमानस में ब्रह्म, जीव, जगत, प्रकृति, माया, भक्ति तथा मोक्ष सम्बन्धी विचारों का वेदान्त सम्बन्धी सिद्धान्तों से कितना साम्य तथा वैषम्य है, यह विचारणीय है।

तुलसीदास जी ने अपनी कृतियों में प्रमुख रूप से ''वियपत्रिका'' और ''मानस'' में इन रहस्यों के उद्घाटन का प्रयास किया है। ब्रह्म जीव और माया के संबंध में उनकी अनेक उक्तियाँ तथा विचार उपलब्ध हैं। परमात्मा एक हैं या अनेक यह प्रश्न स्वयं अपने आप में पूर्ण होता हुआ भी माया, जीव और जगत् के प्रश्न के साथ संबद्ध है। तुलसी की कृतियों में उपर्युक्त प्रश्नों पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है और वे एक समर्थ दार्शनिक के समान जिज्ञासा कर समाधान करते हैं। तुलसीदास के आलोचकों ने अपने–अपने मतानुसार तुलसी को ''वादों'' के

सीमित संकुचित कटघरे में खड़ा कर देखने का यत्न किया है। राम ब्रह्मा और विष्णु से ज्येष्ठ भी है तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश से अभिन्न भी। एक तरफ राम परम ब्रह्म निर्गुण, निराकार के पर्यायवाची हैं, दूसरी तरफ ब्रह्म, विष्णु और महेश के व्यक्त रूप। तुलसी की ब्रह्म विषयक इस व्यापक मान्यता के कारण कोई उन्हें द्वैतवादी, कोई अद्वैतवादी और कोई विशिष्टा द्वैतवादी मानता है। फलतः एक व्यापक भ्रम का प्रसार होता है कि तुलसी के राम क्या हैं और उनकी ब्रह्म संबंधी मान्यता क्या थी?

<u>अद्वैतवाद–</u>

कुछ आलोचकों और विचारकों की धारणा है कि तुलसीदास जी एक परमात्मा को मानने वाले अद्वैतवादी थे। उन्होंने अपनी कृतियों में आदिशंकराचार्य के अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन कर अद्वैत ब्रह्म की श्रेष्ठता सिद्व की है। पं0 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी का विचार है कि तुलसीदास "दार्शनिक सिद्धान्तों में शंकराचार्य के अद्वैतवाद के अनुगामी है"।[2] श्री विजयानन्द त्रिपाठी जी ने भी गोस्वामी जी के काव्यों की अन्तरंग और वहिरंग समीक्षा कर उन्हें अद्वैतवादी कहा है। डॉ0 बलदेव मिश्र ने भी उनके मत का समर्थन किया है, उन्होंने लिखा है– "गोस्वामी जी कुछ खण्डन मंड़न वाले आचार्य तो थे नहीं इसलिए उन्होंने परमार्थिक और व्यवहारिक दोनों दृष्टिकोणों का यथा स्थान उपयोग किया है और दोनों को पूरी महत्ता दी है। परन्तु उनके समूचे सिद्धान्त वाक्यों को भली भाँति स्वाध्याय करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यथार्थ दार्शनिक सिद्धान्त अद्वैत है।[3]

आचार्य पं0 रामचन्द्र शुक्ल भी तुलसी को अद्वैत वादी मानते हुए लिखते है– "परमार्थ दृष्टि से शुद्वज्ञान की दृष्टि से तो अद्वैतमत गोस्वामी जी को मान्य है।"[4]

आलोचकों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान केन्द्रित करने पर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम पहले यह जान ले कि अद्वैतवाद क्या है? शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद क्या है? अद्वैत का अर्थ होता है दो नहीं एक। परमात्मा और जीवात्मा दो नहीं है परमार्थतः एक है और इसी मान्यता को अद्वैत की संज्ञा दी गई है। भगवान शंकराचार्य जी के विचार से उपनिषदों का निचोड़ अद्वैत मत ही है और उसमें ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। यह नाम रूप गुण लीला लाभ' वाला दृश्यमान् जगत परमार्थ सत्य नहीं है, सपने की तरह मिथ्या और भ्रामक है। ''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवों ब्रह्मैव नापरः।'' शंकराचार्य जी की अद्वैत विषयक स्थापनायें यह है कि–

1. 'सर्व खल्विदं ब्रह्म ने नेनास्ति किञ्चन–'' ब्रह्म सर्वव्यापक, निर्गुण चरम सत्य ज्ञान स्वरूप, मन बुद्धि वाणी और इन्द्रियों से परे है।

2. जीवात्मा परमात्मा ही है, किन्तु भ्रम के कारण जीवात्मा अपने को परमात्मा से भिन्न समझती है।

3. सृष्टि मानव का भ्रम है, मिथ्या है। वास्तव में सृष्टि कुछ नहीं है शून्य है।

4. सृष्टि के मिथ्यातत्व का ज्ञान ''सोऽहस्मि'' का भान कराता है। जीवात्मा अव्यक्त, निर्गुण, अचिंत्य ब्रह्म है, इसका ज्ञान होता हैं और जप तप दान, क्रिया और कर्म आदि ब्रह्म प्राप्ति या ज्ञानोपलब्धि के साधन हैं।

5. अविद्या या माया के कारण ही जीवात्मा संसारिक झंझटों या बन्धनों में फँसती और हर्ष, सुख–दुख की अनुभूति करती है।

''सोऽहं'' के साथ जगत् का मिथ्यात्व का संयुक्तीकरण सम्भावित करने के कारण भगवान शंकराचार्य के मायावाद की भिन्न–भिन्न व्याख्यायें की गई हैं। रानाडे[5] ने उन व्याख्याओं को इस प्रकार व्यक्त किया है शंकराचार्य के

माया के सिद्धान्त को स्पष्ट करने वाले तीन भिन्न सिद्धान्त बताये गये है, प्रथम के अनुसार माया शंकर की उर्वर प्रतिभा का एक जाल मात्र है, दूसरे के अनुसार शंकर का माया सिद्धान्त बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित है और तीसरे के अनुसार शंकर के माया सिद्धान्त का विस्तृत रूप उपनिषदों में है, जिसके वह व्याख्याता मात्र है।'[187] चाहे शंकर द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म और मायावाद के संबंध में कितने ही विवाद क्यों न हो परन्तु तुलसी की रचनाओं में ऐसी पंक्तियाँ सरलता से मिल जाती है, जिन पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद की छाया स्पष्ट है।

(क) सोहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा। दीप शिखा सोइ परम प्रचंडा।।

आतम अनुभव सुख सुप्रवासा। तव भव मूल भेद भ्रमनासा।।[6]

(ख) जय–जय अविनासी घट घट वासी व्यापक परमानंदा।[7]

(ग) जौं सबके रह ग्यान एक रस।

ईश्वर जीवहिं भेद करहु कस।।[8]

(घ) मै तोहिं अब जान्यों संसार।

बांधिन सबहिं मोहि हरि के बल, प्रगट कपट आगार।[9]

(च) श्रुति–गुरु–साधु–स्मृति संमत यह दृश्य असत दुखकारी।।[10]

(छ) धुवाँ कैसे धौरहर देखि तू न भूल रे।।[11]

(ज) नाचत ही निसि दिवस मर्‌यो।

तबही ते न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धरयो।।[12]

उक्त तात्विक आधारों पर तुलसीदास जी को अद्वैतवादी सिद्ध किया जाता है। चतुर्वेदी जी ने मानस के अनेक स्थलों की चर्चा मनोनुकूल विस्तार के साथ कर तुलसी को शांकर सिद्धान्तानुयायी बतलाया है। निम्नलिखित प्रकरणों से–

1. 'रामचरित मानस' के बालकांड के मंगलाचरण में अद्वैतवाद और मायावाद है।[13]

2. मानस के बालकांड के मंगलाचरण में राम के अद्वैत ब्रह्म रूप का उल्लेख है।[14]

3. 'मानस' के सुन्दरकांड में शंकराचार्य के अध्यास, विवर्त और माया का उल्लेख है।[15]

4. 'राममय' जगत में अद्वैतवाद का समर्थन है।

5. 'राम' को अज, अनीह, अरूप अनाम मानता अद्वैतवाद का प्रमाण है।[16]

6. ब्रह्म और माया का जल–बीचि की तरह संबंध मानकर और भेदाभेद द्वारा अनिर्वचनीयता को स्वीकृति देकर तुलसी ने शंकराचार्य के वेदान्त की पुष्टि की है।[17]

7. नाम और रूप परमात्मा की उपाधि है, यह 'उपाधिवाद' शंकर का 'सारभूतवाद' है।[18]

8. राम निर्गुण ब्रह्म और एक है।[19]

9. राम व्यापक ब्रह्म के अवतार है।[20]

चतुर्वेदीजी की इस पूर्वकल्पित धारा (कि तुलसीदास अद्वैतवादी थे और शंकर मत के अनुगामी थे) का खंड़न रामकृष्ण जी ने विस्तारपूर्वक 'गोस्वामी तुलसीदास के दार्शनिक विचार' नामक निबंध में तर्कसम्मत ढंग से किया है। ''श्री गोस्वामी जी शंकराचार्य जी के ही अनुगामी है कहना वास्तव में सत्य नहीं है।''[21]

डॉ राजपति दीक्षित भी इससे सहमत हैं और लिखते हैं– [22] तुलसी

और शंकर के अद्वैतवाद के आधार पर किसी विचारशील व्यक्ति का यही निर्णय होगा कि गोस्वामी जी का दार्शनिक दृष्टिकोण शंकर अद्वैतवाद नहीं है।''

सत्य तो यह है कि पदों की श्लिष्टता के कारण उद्धृतांश के कई अर्थ हो सकते हैं और भिन्न व्याख्यायें ग्रहण की जा सकती है। श्लिष्ट पद से भिन्न अनेक ऐसे स्थल रेखांकित किये जाते हैं जो अद्वैतवाद की मान्यताओं से सर्वथा भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। फलतःकथित प्रसंग को केवल अद्वैतवाद के फ्रेम में जड़कर देखना औचित्य पूर्ण कदापि नहीं है।

साथ ही साथ यहाँ यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि चतुर्वेदी जी के तर्कों में सार भी है। उक्त श्लोकों में अद्वैत मत भी सन्निहित है और अन्य मत भी। कारण कि तुलसीदास समग्रजनता की मान्यताओं का एक सचित्र स्वरूप रखना चाहते थे और इस क्षेत्र में वे पूर्ण सफल हुए हैं।

''नानापुराण निगमागम'' विज्ञ और 'नानापुराणनिगमागम सम्मतं' लिखने वाले तुलसी के समक्ष दार्शनिक विचारधारा अपने व्यापक रूप में अवस्थित थी और इस विचार धारा को काव्य में आबद्ध करने के लिए वैसी ही विराट रंगस्थली की आवश्यकता थी। फलतः गोस्वामी जी ने अद्वैत को भी मान्यता दी ऐसा हम निःसन्देह स्वीकार कर सकते हैं।

कतिपय आलोचकों ने गोस्वामी जी को विशिष्टाद्वैतवादी सिद्ध करने का प्रयास किया है, और हिन्दी साहित्य के अधिकांश विद्वान–समीक्षक तुलसीदास को विशिष्टद्वैतवादी मानते है। यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि विशिष्टाद्वैत क्या है? और इसकी मान्यतायें क्या हैं? ब्रह्म अद्वैत है, किन्तु विशिष्ट है, इस मत की मान्यता विशिष्टाद्वैत है। रामानुजाचार्य ने वादरायण के ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिख कर (श्रीभाष्य) विशिष्टाद्वैत की प्रधान अवतारणा की।[23]

वेदान्त दर्शन के इस नवीनीकरण से 'पुरूष सूक्त' का विराट् पुरूष

प्रपत्ति का अधिकारी बना। रामानुजाचार्य ने पुराण और सांख्य के आधार पर शंकराचार्य जी के मायावाद का पूर्ण खण्डन किया। और 'श्वेताश्वतरोपनिषद् के आधार पर चित्, अचित् और ईश्वर की मान्यता स्वीकार कर ईश्वर को अन्तर्यामी माना। चित् और अचित् को अन्तर्यामी परमात्मा की विभूतियाँ समझा।[24] विद्वानों ने जिस आधार पर तुलसीदास जी को विशिष्टाद्वैतवादी कहा है, उस सिद्धान्त की चर्चा यहाँ उपयुक्त होगी। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की मान्यतायें इस प्रकार है–

(1) ब्रह्म जगत का उपादान कारण है।[25]

(2) ब्रह्म और जीव में पारस्परिक एकता नहीं, भेद है। तात्पर्य कि जीव और ब्रह्म भिन्न है।[26]

(3) ब्रह्म जीव से स्वतन्त्र है। जीव ब्रह्म की विभूति है, ब्रह्म का खंड नहीं।[27]

(4) ब्रह्म मायाविशिष्ट है और 'अर्च्या–विभव–व्यूह–सूक्ष्म–अन्तर्यामी' रूपों में अवस्थान करता है।[28]

(5) जगत अनादि है और प्रलयकाल में वह ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है।[29]

(6) जीव का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है किन्तु वह ब्रह्म को पाकर ब्रह्म में मिल नहीं जाता बल्कि ब्रह्मोचित गुणों को प्राप्त करता है।[30]

कारणावस्था में जीव, जगत् ब्रह्म में लीन रहते है उनमें भेद नहीं रहता। किन्तु कार्यावस्था में जीव और जगत् चित्, अचित् रूप से उत्पन्न होकर स्थूल रूप प्राप्त करते हैं। डा0 रामावतार शर्मा विशिष्टाद्वैत मत का समाहार करते हुए लिखते है 'विशिष्टाद्वैत के उपर्युक्त सिद्धान्त सोऽहं, सांख्य और योगेश्वर के समकक्ष जान पड़ते हैं और इनमें अद्वैत के माया, स्वप्न और भ्रान्ति के विचारों से उत्पन्न होने वाली शंकाओं को भी जगह नही रह जाती। सोडहं

द्वारा ब्रह्म का जीव में जो अनुभव किया गया था वह विशिष्टाद्वैत की ब्रह्मलीला में प्रस्फुटित हुआ और उसी पर धीर अवतारी पुरूषों की उपासना से मुक्त होने का भी सिद्धान्त सबल किया गया।[31]

वास्तव में विशिष्टाद्वैत अद्वैतवाद का ही विकसित रूप है, किन्तु सिद्धान्त में भिन्नता रखता है। जीव, जगत, ब्रह्म और माया के संबंध में दोनों के दृष्टिकोंण भिन्न हैं। रामानुजाचार्य के मत से जीव वास्तविक स्वतंत्र और ब्रह्म से भिन्न पदार्थ है तथा संसार के सब दुःखों को छोड़ परमात्मा की भक्ति द्वारा स्वर्ग जाकर अनन्तकाल तक आनन्द का अनुभव मोक्ष द्वारा करता है। शंकराचार्य के विचार से गुणों से परे एक सत्य का ज्ञान ब्रह्म है और जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न है तथा ज्ञान द्वारा माया के नाश से परमात्मा और जीवात्मा का ऐक्य बोध ही मोक्ष है। शंकराचार्य निर्गुणा पर ब्रह्म के तत्व ज्ञान को पराविद्या और सगुण ब्रह्म को ईश्वर का पर्यायवाची अपराविद्या मानते है। किन्तु रामानुजाचार्य जी एक ही विद्या का प्रतिपादन करते है जिससे ब्रह्म और औपनिषदिक ब्रह्म का बोध होता है।[32]

शंकराचायर्य जी ने मुण्डकोपनिषद के 'द्वे विद्ये वेदितत्यं इतिहस्मंयदब्रह्म विदो वदन्ति परा चैवापरा च''[33] का अनुसरण किया है किन्तु रामानुजाचार्य ने उपनिषद् के तात्पर्य को ग्रहण किया है।[33] इन सैद्धान्तिक भिन्नताओं के कारण विशिष्टाद्वैत की महत्ता अद्वैतवाद से पृथक है। यद्यपि अद्वैतवाद के अट्ठारह प्रकार में विशिष्टाद्वैत का भी उल्लेख हो जाता है। अद्वैतवाद् और विशिष्टाद्वैतवाद् के विषय निम्नलिखित हैं–

(क) जगत काल्पनिक है या सत्य।

(ख) जीव एक है या अनेक।

(ग) ब्रह्म निर्विशेष निर्गुण है या सविशेष सगुण।

(घ) ब्रह्म प्राप्ति का साधन ज्ञान है या भक्ति।

(ङ.) ब्रह्म प्राप्ति का फल मोक्ष है या ब्रह्म की ऐश्वर्योपलब्धि।

इन विषयों में अद्वैतमत और विशिष्टाद्वैत मत एक दूसरे से भिन्न मान्यताएँ स्वीकृत करते है। यद्यपि अद्वैतवाद के शब्दाद्वैत में शब्द को ही ब्रह्म माना है, वही तारक ब्रह्म है, राम नाम है।

विशिष्टाद्वैत की मान्यताओं के आधार पर ध्यान रखते हुए यदि विचार किया जाय तो अद्वैतवाद की पुष्टि में जो कुछ तुलसी कृत मानस से उद्‌घृत किये गये है, उन अंशों से ही विशिष्टाद्वैत मत की भी पुष्टि हो जाती है। बालकाण्ड के मंगलाचरण के जिन श्लोकों से अद्वैतवाद और मायावाद की पुष्टि की गई है उनमे विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त भी घटित है। 'वन्देऽहं तमशेषकारणपर रामाख्यमीशं हरिम्' से सेवक–सेव्यभाव तथा अवतारवाद परिलक्षित होता है। अद्वैतवादी जहाँ जगत–प्रपंच को असत्य मानते है वहाँ विशिष्टाद्वैतवादी रामरूप जगत् को सत्य मानते है।

'बन्दौं बालरूप सोइ रामू। सब विधि सुलभ जपत जिसुनामू।।''[34]

इसी प्रकार माया असत्य नहीं उसके नानात्व भ्रम को ही मिथ्या विशिष्टाद्वैत–वादी मानते है। यह भ्रम रामकृपा से मिट जाता है।

व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटकु प्रचण्ड।

सेनापति कामादि भट, दम्भु कपटु पाखण्ड।।[35]

माया मोहमूलक और मिथ्या है किन्तु इनका आभास तभी तक है जब तक यह संसार राममय नहीं दीखता। जब 'सियाराम मय सब जग जानी' का भाव मन में उदित हो जाता है तो माया का मिथ्यात्व स्वतः नष्ट हो जाता है और उस मायावाद की निवृत्ति हो जाती है। जीव और ब्रह्म की एकता अद्वैतवादी

मानते हैं किन्तु विशिष्टाद्वैत वादी दोनों को भिन्न बतलाते है। मानस में गोस्वामी जी कहते हैं–

'सो तें ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं वेदा।।[36]

जल और जल की लहर की भाँति जीव और परमात्मा का अभेदत्व अद्वैतवादी बतलाते है। इस अभिन्नता के साथ यदि हम यह भी विचार करें कि जल की लहर अभिन्न नहीं, तो किसी प्रकार का अनौचित्य न होगा।

जल और बीचि दोनों दो पृथक वस्तु का बोध कराते है। यद्यपि दोनों जल ही है। फिर भी दोनों पृथक हैं। क्या लहर कहने से जल का बोध या जल कहने से लहर का बोध हो सकता है? सम्भवतः नहीं। दार्शनिक दृष्टि से एक अर्थापत्ति हो सकती है, किन्तु लहर जल से स्वतंत्र न होकर भी पृथक् है। जिस प्रकार जीवात्मा ब्रह्म का अणु है उसी प्रकार लहर जल का अणु है। विशिष्टाद्वैत और अद्वैतमत दोनों मतों से उक्त विशिष्ट पद का अर्थ किया जा सकता है। इसे अतिरिक्त भक्ति–प्रधान पद और सेवक सेव्य भाव सर्वत्र 'मानस' और 'विनय पत्रिका' में देखने को मिलते है।[37] फलतः तुलसीदास जी के दार्शनिक सिद्धान्तों को मात्र अद्वैतवाद के घेरे में रखना सम्भव नहीं दिखाई देता और न वे पूर्णतः विशिष्टाद्वैतवादी मानें जा सकते हैं। दोनों मतवादों की पुष्टि क्लिष्ट पद के कारण संभूत है। ज्ञान और भक्ति, ध्यान और कर्म सब की पुष्टि अनायास नहीं जानबूझ कर काव्यमाला में पिरोई गई है। यही कारण है कि ग्रियर्सन जैसे विद्वान ने सच्चाई से अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है कि 'गोस्वामी तुलसीदास जी का झुकाव अद्वैतवाद की ओर अत्यधिक है, परन्तु हैं वे विशिष्टाद्वैतवादी ही और गोस्वामी जी ने इस मत का आभास 'सियाराममय सब जग जानी। करौ प्रणाम जोरि जुग पानी।' में दिया है।'' इस उक्ति के साथ डा0 राजपति दीक्षित की इन पंक्तियों पर विचार करें ''यदि रामानुज के विशिष्टाद्वैत अथवा मध्व के द्वैत मत के प्रकाश में भी अपने कवि का दार्शनिक दृष्टिकोण

निर्णय करना चाहें तो दृढ़तापूर्वक यह नहीं सिद्ध कर सकते कि गोस्वामी जी इन दोनों पद्धतियों में से किसी एक के पक्के अनुयायी हैं। यह दूसरी बात है कि इन दोनों पद्धतियों के अनेकानेक सिद्धान्त और साधन संबंधी बातें तुलसी की रचनाओं में मिलती हैं। पर इन दोनों पद्धतियों के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों से गोस्वामी जी की पूर्ण विमति भी है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत अथवा माध्व द्वैतवाद की और भी कितनी ही बातें है जो तुलसी के मत में नहीं है। तुलसी का दार्शनिक दृष्टिकोण न पूर्णतया शंकराचार्य का अद्वैतवाद ही है और न रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत अथवा मध्वाचार्य का द्वैतवाद ही।''[38] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि विशिष्टाद्वैत और अद्वैतवाद तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण के अंशमात्र है, दार्शनिक दृष्टिकोण नहीं।

डा0 राजपति दीक्षित ने तथ्य को सामने रखकर भी द्वैतमत की पुष्टि की है जो सर्वथा औचित्यपूर्ण नहीं। कहीं तो वे यह कहते है कि द्वैतवाद की अनेक बातें तुलसी में नही है और यह मानकर भी वे निष्कर्ष देते हैं'' हम दृढ़तापूर्वक कह सकते है कि उनका अभिमत सिद्धान्त द्वैत है।'' उनके मार्मिक व्याख्याता काष्ठजिह्वा स्वामी पुकार कर कहते हैं ''द्वैत सदा अद्वैत कवहुँ नहिं यह स्तुति को निर्घोष।''[39]

डा0 दीक्षित या तो काष्ठाजिह्वा स्वामी के प्रभाव से एक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं या अद्वैतवाद और विशिष्टा द्वैतवाद् की पूर्ण संगति न देखकर द्वैतवाद का समर्थन करते हैं। द्वैतवाद् की निस्सारता तो इसी से सिद्ध हो सकती है कि तुलसी का साधन–मार्ग द्वैत के साधन मार्ग से नितान्त भिन्न है और मध्वाचार्य के ''तारतम्य ज्ञान[40] एवं ''पंचभेद ज्ञान''[41] का 'मानस' एवं 'विनय पत्रिका' में स्यात् ही स्थान हो। यहाँ पर द्वैत मत के विशिष्ट सिद्धान्तों का उल्लेख उचित होगा। मध्व सम्प्रदाय में द्वैत संबंधी नौ सिद्धान्त सर्व स्वीकृत हैं–

1. सर्वोच्चतत्व विष्णु है। तात्पर्य कि चेतन तत्व–जीव और ईश्वर–दोनों

का स्वरूप सच्चिदानन्दात्मक है, किन्तु जीव माया से मोहित होने के कारण बद्ध है।

2. जगत् सत्य है। रज्जु–सर्प, सीप–रजत और किरण–जल न्याय से असत्य नहीं है।

3. जीव भगवान् का आश्रित है।

4. जीवों में तारतम्य है।

5. जीव, जड़ और ईश्वर का भेद (पंचभेद) वास्तविक है।

6. आनन्द का साक्षात्कार मोक्ष है।

7. समस्त वेदों के द्वारा वेद्य भगवान विष्णु ही हैं।

8. मोक्ष का मुख्य साधन अमला भक्ति है। मल रहित जो भगवान में प्रीति है वही मुक्ति का सही उपाय माना गया है।

9. वस्तुसिद्धि[42] प्रमाणाधीन है।[43]

कुछ आलोचकों ने गोस्वामी जी को द्वैतवादी माना है। द्वैतवादी मत की स्थापना श्री मध्वाचार्य जी ने पूर्णप्रज्ञा भाष्य लिखकर की थी, जिसमें वैशेषिक के आधार पर विष्णु पूजा को महत्व मिला। इस सम्प्रदाय में राम और कृष्ण विष्णु के अवतार माने गये और मोक्ष का मार्ग हरिज्ञान समझा गया। वह हरिज्ञान वैराग्य, समता, आत्मसंयम, शरणागति, गुरूसेवा, गुरूज्ञान स्वाध्याय, परमात्मा भक्ति, निष्काम कर्म, विष्णु महिमा बोध, असत् त्याग और उपासना द्वारा प्राप्त कहा गया।[44] वस्तुतः यह 'वाद' शंकराचार्य के मायावाद में भी बीज रूप से निहित है जिसका संकेत सर उडरोफ ने भी किया है।[45] 'मानस के उत्तरकाण्ड और 'विनय पत्रिका' के अनेक पदों से तुलसीदास जी को द्वैतवादी सिद्ध किया जा सकता है और जितने अंकाट्य तर्क अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद के संबंध में

दिये जाते हैं उतने ही अकाट्य तर्क द्वैतवाद के समर्थन में भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं। फलतः एक दार्शनिक दृष्टिकोण की गुंजाइश तुलसी में नहीं है।

राम विष्णु के अवतार माने गये हैं और तुलसी ने राम तथा विष्णु का तादात्म्य कर द्वैतवादियों की तरह राम को सर्वोच्च माना है। हरिज्ञान से विष्णुत्व की प्राप्ति का भी उन्होंने उल्लेख किया है। फलतः "मानस" और विनयपत्रिका में ऐसे स्थल निर्दिष्ट किए गये हैं और किये जा सकते हैं जिनकी महत्ता द्वैत सिद्धान्त के अन्तर्गत है "मानस" के "बालकाण्ड" और "विनय पत्रिका" की स्तुतियों में प्रायः हरिज्ञान का उल्लेख स्पष्ट रूप से तुलसी ने किया है। किन्तु मात्र इस आधार पर तुलसीदास जी को द्वैतवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादक मान लेना उचित नहीं। यदि इतने तक ही आलोचक अपने को सीमित रखते तो एक बात थी। कुछ लोगों ने शुद्ध द्वैतवादी "एक दारूगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म विवेक" कहकर "अग्नि से स्फुलिंग" मानकर सिद्धान्त को चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है तथा कुछ उन्हें निम्बार्क मत के द्वैताद्वैत[46] सिद्धान्त का प्रतिपादक और समर्थक बतलाते हैं। आंशिक उद्धरणों से मनोनुकूल दार्शनिक दृष्टिकोण की उपलब्धि हो सकती है किन्तु वही तुलसीदास जी का दार्शनिक दृष्टिकोण था, ऐसा हम नहीं कह सकते।

मेरे विचार से इन विभिन्न सैद्धान्तिक कठघरों के दम घुटने वाले दायरे के बाहर ही हम तुलसी के दार्शनिक विचारों को समझें तो औचित्य का निर्वाह हो सकेगा। तुलसी की मान्यता चाहे अद्वैतवादी हो या विशिष्टाद्वैतवादी, चाहे द्वैतवादी हो या द्वैताद्वैतवादी, चाहे उनका झुकाव अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अद्वैत सिद्धान्त की ओर अधिक हो, परन्तु उन्होंने जब प्रायः सभी मतवादों के अनुकूल कुछ न कुछ लिखा है, तो उनकी रचनाओं की दार्शनिक अभिव्यक्ति विचित्र समन्वयात्मकता से परिव्याप्त और दीप्ति हो उठी है। तुलसीदास जी की रचनायें समस्त भारत में संपूज्य है और प्राचीन हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों (वेद,

उपनिषद् और पुराणों) के पश्चात् ''मानस'' और ''विनय पत्रिका'' ही वह प्रतिष्ठा पा सकी हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी रचनाओं को सर्वजनसुखाय और मानव कल्याण कामना से अभिप्रेरित होकर लिखा था। फलतः उन्होंने भिन्न–भिन्न रूचियों और दार्शनिक सिद्धान्तों को अपना कर उन्हें संतुलित कर ब्रह्म, जीव माया और जगत् की अदउ्भुत दार्शनिक व्याख्या की। इस पुनीत कार्य में तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ भी उनकी सहायक बनी और उस क्षुब्धकारी स्थिति में तुलसी ने सम्पूर्ण भारत के लिए एकधर्मग्रन्थ की रचना कर भारत को एक सांस्कृतिक और धार्मिक सूत्र में आबद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। उनके दार्शनिक विचारों के पूर्ण परिज्ञान के लिए बन्द कोठरियों की गर्म अस्वास्थ्यकर वायु उपयुक्त नहीं, एक स्वस्थप्रद संकेत की उपलब्धि औचित्यपूर्ण होगी। उन्होंने जानबूझकर एक ऐसे ग्रन्थ का निर्माण किया है जिससे किसी दार्शनिक सिद्धान्त और विचार में संघर्ष न हो तथा ग्रन्थ में प्रतिपादित विचार सर्वमान्यता प्राप्त कर सकें। यही कारण है कि उन्होंने मानस के प्रारम्भ में ही अपनी इस व्यापक धारणा का संकेत किया है–

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्

रामायणे निगदितं क्वचिदयतोऽपि।

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा–

भाषानिबन्धमतिमन्जुलमातनोति।।[47]

विनय पत्रिका के सारे पद उस नाना पुराण निगम आगम के ही संकेत वाहक हैं। शिव की महिमा, विष्णु की शक्ति और महत्ता तथा सदाचार, शम, दम, नियम आदि की उपादेयता सिद्ध करने के लिए ही उन्होंने भिन्न–भिन्न युगों की दार्शनिक चेतना को छन्दोबद्ध कर मानव जाति की अमूल्य सेवा का भार वहन किया। तुलसी ने उन समस्त ग्रन्थों को जो युग–युग से मानव जीवन

को विशेष रूप से हिन्दू जाति को बल और चेतना प्रदान कर रहे थे, उनके आधार पर एक मानवीय दार्शनिक विचारों की स्थापना की, सब प्रकार की मान्यताओं को ग्रथित कर एक सूत्रता ढूँढ़, भारतीय चिन्तनधारा के नवीनीकरण का एक नया अध्याय प्रारम्भ किया और एक नवीन भारतीय जीवन की सुरुचिपूर्ण भावना प्रदर्शित की, जिसमें प्रेम और हर्ष हो, सुख और आत्मा की शान्ति हो। वे इससे अच्छी तरह परिचित थे कि निर्गुण ब्रह्म जब सगुण होकर मानव को मानवोचित गुणों से परिपूर्ण नहीं बनाता अथवा सैद्धान्तिक ब्रह्म जब तक व्यावहारिक नहीं होता तब तक मानवोन्नति किसी प्रकार सम्भव नहीं। तुलसीदास ने समझा था कि निर्गुण ब्रह्म जब तक श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और पवित्रता से युक्त नहीं होता तब तक साधारण जनता के लिए उसमें न तो आकर्षण है और न वह ब्रह्म के नाम की सार्थकता ही सिद्ध कर सकता है। भारतीय चिन्तनधारा में इस योगदान का अपना महत्व है। फिसन्ट महोदय ने भी लिखा है। "वहाँ कोई धर्म नहीं हो सकता जहाँ भावना और स्नेह ज्ञान से संयुक्त न हो। जहाँ व्यक्ति श्रद्धा, प्रेम, आाशा और भय से रहित हों वहाँ धर्म नहीं हो सकता...................... ।[48] अतः जीवात्मा और परमात्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध और उसकी प्राप्ति के साधन मार्ग और उनकी पवित्रता उस अद्वैतवादी सैद्धान्तिक दार्शनिक विचारधारा के साथ संयुक्त की गई, जिसमें जनमन रूचि, बोधगम्यता और प्रसाद का माधुर्य है। "राजाराम स्ववस भगवान्"[49] भक्ति के वशीभूत होकर ही पृथ्वी पर आये और मोक्ष के दाता बने। यह मोक्ष सैद्धान्तिक अथवा परम्परागत अर्थ में मोक्ष या मुक्ति से भिन्न है। यह मोक्ष सानिध्यता का–परम प्रिय के अत्यन्त सन्निकट हो उसका विश्वास–भाजन बनने का। राम तो जगतात्मा, सर्वद्रष्टा, विश्वरूप, निर्गुण–सगुण एवं अखिल सृष्टि के नियामक है, उन तक पहुँचना ही मुक्ति है। बाइबिल में भी उल्लेख मिलता है, 'मै द्वार हूँ और मुझमें जो व्यक्ति प्रवेश पाता है वह निरापद रहेगा, वह अन्दर और बाहर आ जाकर आनन्द पायेगा।'[50] तुलसी ने आस्तिक बुद्धि और ईश्वर भजन को भारतीय चिन्तन में अनिवार्य मानकर ही यह लिखा

"विनु हरि भजन न भव तरहिं, यह सिद्धान्त अपेल"। अविनासी परब्रह्म राम की भक्ति याचना ही वे "विनय पत्रिका" में करते हैं। राम के सम्बन्ध में तुलसी का सिद्धान्त था कि राम दशरथ पुत्र है, विष्णु हैं, निर्गुण है, सगुण हैं, परब्रह्म हैं। निर्गुणरूप तो सुलभ सहज है, किन्तु सगुण रूप अगम और भ्रम में डालने वाला है। इसलिए गोस्वामी जी का न द्वैत से प्रेम था न अद्वैत या विशिष्टाद्वैत से। ग्राउस ने लिखा है– 'उनके अध्यात्म और आत्म–विद्या सम्बन्धी विचार विश्व–देवतावादी स्वभाव के है, जिनका अधिकांश वेदान्तसार विधि से उत्तर वेदान्तियों की शिक्षा पर आधृत है और जिसकी विस्तृत व्याख्या भगवत् गीता में है जो संस्कृत भाषा काव्यों में सबसे अधिक लोकप्रिय है।'[229]

<u>वेदान्त सिद्धान्तों का समन्वयक ग्रन्थ – रामचरित मानस</u>

वांङ्मय के क्षेत्र में इतिहास पुराण समन्वय साधना के उत्कृष्ट उदाहरण है। उनमें भागवत पुराण और महाभारत का स्थान अन्यतम है। उनमें विभिन्न विचारधाराओं का संगम है, रोचक कथाओं की सहायता से तत्वज्ञान का उपस्थापन हैं, किन्तु कांतासंमित उपदेश का विधान करने वाले काव्य की सरसंता नहीं है। संस्कृत में रचित होने के कारण वे तुलसीयुगीन लोकमानस का नेतृत्व करने में असमर्थ थे। लोकदर्शी तुलसी ने जनता के हृदय की धड़कन को पहचाना और 'रामचरितमानस' के रूप में समन्वय का वह अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया जो अपने कवित्वमय भक्ति दर्शन, भक्तिदर्शनमय कवित्व और आमूढ पंडित व्यापिनी लोकप्रियता के कारण अद्वितीय है।

गोस्वामी जी अपने अनुभव, अवेक्षण, शास्त्रज्ञान और सहृदयता के आधार पर कवित्व, धर्म और भक्ति की त्रिपथगा का निर्माण किया। उनकी समन्वय साधना बहुमुखी है।

द्वैत अद्वैत तुलसी का दार्शनिक समन्वयवाद अत्यन्त विवाद का

विषय रहा है। तुलसी के युग में वेदान्त का प्रभुत्व था। उसके भीतर दो प्रकार के संघर्ष थे – (1) सभी वैष्णव आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद और मायावाद के विरोधी थे। (2) सभी अद्वैतवादी मध्व के द्वैतवाद के विरोधी थे। तुलसी शंकर के ब्रह्मवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद से मुख्यतया प्रभावित हैं। किन्तु अन्य मतों से भी उन्होंने विचार ग्रहण किये है। उपनिषदों और वेदान्त सम्प्रदायों में जो मान्यताएं समान रूप से पायी जाती है वे तुलसी को स्वीकार्य है, जैसे – ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान और आश्रय है, आदि। परन्तु जहां अद्वैतवादियों और वैष्णव वेदान्तियों में मतभेद है, वहां उन्होंने समन्वयवादी दृष्टि से काम लिया है। केवलाद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण, निर्विशेष और निर्लक्षण है, अर्थात उसमें कृपा आदि विशेषताएं नहीं है, माया अविद्या है, उसके अस्तित्व के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, माया की उपाधि से युक्त सगुण ब्रह्म (ईश्वर) ही अवतार लेता है। एकमात्र (निर्गुण) ब्रह्म ही सत्य है, जीव, जगत और ईश्वर सब मिथ्या है, केवल ज्ञान ही मुक्ति का साधन है, आत्मस्वरूप में स्थित हो जाना, जीव के जीवत्व का नाश ही मुक्ति है। वैष्णव आचार्यो के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः सगुण अर्थात् कृपा आदि दिव्य गुणों से युक्त है, वही कृष्ण आदि के रूप में अवतार लेता है, उसी की शक्ति माया है, जीव उसी का अंश है, भिन्न प्रतीयमान जगत् उससे अभिन्न है, भक्ति मुक्ति का अमोघ साधन है, सालोक्य आदि मुक्तियाँ श्रेष्ठ है।

---0---